सर्वोपनिषद

गीतासार

स्वामी निरंजन

विषय अनुक्रमणिका :

प्रस्तावना

जीव को उसके मिथ्या अनात्म देहाध्यास के अहंकार से मुक्ति दिलाकर वास्तविक आत्म स्वरूप का साक्षात् बोध कराने के लिये यह आत्म उपदेश, भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन के मन को धर्म के विषय में मुढ़ता को प्राप्त हुआ देख तथा नित्यानित्य ज्ञान से रहित अन्तःकरण वाले अर्जुन को निमित्त बनाकर मानव मात्र के कल्याणार्थ उपदेश किया गया है, जो गीता नाम से सम्पूर्ण विश्वमें जाना जाता है । यह भगवान श्रीकृष्ण का दिव्य उपेदश है, जिसके भाव परम गहन हैं, जो जीव को बिना कष्टप्रद साधन के अनायास कल्याण करने वाला है ।

यह गीता शास्त्र ब्रह्मविद्या का अनुपम संक्षिप्त शास्त्र है, जिसका उद्देश्य कर्म व उपासना द्वारा जीव के मल, विक्षेप दोषों की निवृत्ति कराकर उसे तत्त्वज्ञान का अधिकारी बनाना है । जीव को आत्मज्ञान द्वारा जीवित अवस्था में समस्त दुःखों की निवृत्ति करा अखण्ड आनन्द की प्राप्ति कराना ही एक मात्र लक्ष्य है । प्रथम अध्याय से छठे अध्याय तक '**त्वम्**' पद की व्याख्या करके ७वें अध्याय से १२ अध्याय तक '**तत्**' पद की व्याख्या की गई है । तथा १३ वे अध्याय से १८ वे अध्याय तक '**असि**' पद की व्याख्या की गई है । इस प्रकार सम्पूर्ण गीता द्वारा '**तत्त्वमसि**' इस महावाक्य का प्रतिपादन किया गया है । गीता ज्ञान का प्रधान ग्रन्थ

है । हर अध्याय के अन्त में '**श्रीमद् भगवत गीता सूपनिषत्सु ब्रह्मविद्याया योगशास्त्रे**' लिखा गया है । जिसका अर्थ है श्रीभगवान् द्वारा गाई हुई उपनिषदों का सार यह ब्रह्मविद्या रूप गीता है ।

अब उपनिषद क्या हैं ? इस बात को समझें । उपनिषदें वेदों का अन्तिम भाग याने ज्ञान काण्ड है । वेदों में जीव को ब्रह्मानुभूति के योग्य बनाने के लिये कर्म, उपासना तथा ज्ञान इस प्रकार तीन काण्ड निर्धारित किये गये हैं । ज्ञान काण्ड वेदों का अन्तिम काण्ड है । इसलिये उस ज्ञान काण्ड को अर्थात् उपनिषदों को वेद का अन्तिम भाग होने से वेदान्त कहा जाता है ।

वेदान्त का विषय जीव को अपने परमात्म स्वरूप का बोध कराना है । परन्तु उस एकता का बोध कराने के लिये आत्मा का स्वरूप समझना होगा और आत्मा को समझने से पहले अनात्मा को पहचानना होगा । क्योंकि अनात्मा के बिलकुल समीप आत्मा होने से परस्पर का अध्यास हो रहा है । इसी आत्मा–अनात्मा का विवेक यहाँ भगवान् क्षेत्र–क्षेत्रज्ञ, रथ–रथी, जड़–चेतन, प्रकृति–पुरुष, दृश्य–द्रष्टा, परप्रकाश–स्वयंप्रकाश, अनित्य–नित्य आदि नामों से समझाते हैं ।

इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते ।
एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः ।। १३/१ गीता

यह शरीर क्षेत्र कहा जाता है और इसे जो जानता है; उसे क्षेत्रज्ञ कहा जाता है ।

क्षेत्र कौन है ? जिसे 'इदम्' अर्थात् जिस पर 'यह' की बिन्दी या तिलक लग जाता है । 'यह' का अर्थ है जो हमारे इन्द्रिय द्वारा प्रत्यक्ष ज्ञान का विषय बनता है । जो वस्तु हमारे समीप से दिखाई देती है, उसे 'यह' नाम से कहा जाता है । जैसे यह पेन है, यह चश्मा है, यह पर्स है , यह दांत है, यह हाथ है, यह मन है, यह बुद्धि है, यह चित्त है, यह अहंकार है, यह बच्चा है, यह स्त्री है, यह गाय है, यह बिल्ली है, यह कुत्ता है इत्यादि । भाव यह है कि जो भी प्रत्यक्ष दिखलाई देता है साक्षी द्वारा अर्थात् मेरे द्वारा

अनुभव किया जाता है, देखा या जाना जाता है । वह सब क्षेत्र की संज्ञा में आता है । जो भी ज्ञान द्वारा इदं रूप से जाना जा रहा है, वह सब माया है । अतः माया शक्ति और उसका कार्य रूप राम, कृष्णादि अवतारी शरीर से लेकर सम्पूर्ण संसार क्षेत्र संज्ञा में आता है । शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध इनके उपादान कारण आकाश, वायु, तेज, जल, पृथ्वी इन स्थूल भूतों से निर्मित पंच कर्मेन्द्रिय, पंच प्राण, पंच ज्ञानेन्द्रिय तथा मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार रूप, सूक्ष्म शरीर तथा अज्ञान यह सब ज्ञान स्वरूप मुझ साक्षी, ज्ञाता ,आत्म देव के विषय होने से क्षेत्र कहलाते हैं ।

एक स्थूल, सूक्ष्म तथा कारण शरीर को पिण्ड कहते हैं तथा समष्टि संसार के स्थूल, सूक्ष्म तथा कारण शरीर को ब्रह्माण्ड कहते हैं ।

यह पिण्ड व ब्रह्माण्ड दोनों क्षेत्र हैं । अतः जिस साक्षी–चेतन आत्मा द्वारा यह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड प्रकाशित हो रहा है, जो सबका द्रष्टा, ज्ञाता, प्रकाशक आत्म देव हैं, उसे यहाँ क्षेत्रज्ञ नाम से कहा जाता है । वह क्षेत्रज्ञ मैं 'स्वयं' हूँ । मुझ क्षेत्रज्ञ आत्मदेव द्वारा ही बुद्धि की छहों अवस्था जाग्रत, स्वप्न सुषुप्ति, मुर्छा, ध्यान, समाधि जाने जाते हैं । परन्तु मुझ आत्मदेव को कोई नहीं जानता । जैसे नेत्र द्वारा सूर्य, चन्द्र हमारे दर्शन का विषय है और मैं उन्हें देखने, जानने, सुनने वाला हुआ विषयी हूँ। अतः मैं आत्मा सब दृश्य जगत् का ज्ञाता होने से यह सब का विषयी (Subject) हूँ, परन्तु मैं किसी का विषय object नहीं हूँ।

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः ।
मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमययम् ।।

– गीता : ७/२५

अपनी योगमाया से छिपा हुआ मैं सब के प्रत्यक्ष नहीं होता, इसलिये यह अज्ञानी जनसमुदाय मुझ जन्मरहित अविनाशी ब्रह्म को नहीं जानता अर्थात् मुझ को जन्मने–मरनेवाला समझता है ।

यस्यामतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः ।
अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानताम ।। केन. उप. ११

परमात्मा का ज्ञान मनका विषय नहीं है । वह शब्द, स्पर्शादि दृश्य पदार्थों की तरह ज्ञेय नहीं अपितु ज्ञाता है । ऐसा जिसे अनुभव हो चुका है कि वह ब्रह्म मुझे ज्ञात नहीं है । वास्तव में उसीने ब्रह्म को जाना है और जिसको ब्रह्म यह रूप ज्ञात है, जो ब्रह्म को मन या चिदाभास का विषय मानता है, वह वास्तव में ब्रह्म को नहीं जानता है । ब्रह्म को जो मन, बुद्धि का विषय मानता है, उनके लिये ब्रह्म अज्ञात् है और जो ब्रह्म को मन, बुद्धि के प्रकाशक रूप जानता है, उन ज्ञानी के लिये ही ब्रह्म ज्ञात है ।

अर्थात् जो परमात्मा को देखने की घोषणा करता है वह असत्य है । देखने, जानने की शक्ति स्वयंप्रकाश आत्मदेव द्वारा ही हो रही है । '**क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि**' यहाँ आत्मा व परमात्मा की एकता बतलाई गई है । यह क्षेत्रज्ञ रूपी आत्मा ही सर्वत्र अस्ति, भाति, प्रिय रूप से व्यापक ब्रह्म है । कण–कण में यह 'अखण्ड' चैतन्य ज्योति भासमान हो रही है । अर्थात् ज्ञान रूप से विद्यमान् है । परन्तु अज्ञानी उसे नहीं जान पाता । प्रत्येक ज्ञात पदार्थ में वह परमात्मा अखण्ड ज्ञान रूप से भास रहा है । अन्यथा जड़ पदार्थों का ज्ञान ही नहीं हो पाता । अर्थात् जड़ पदार्थों का ज्ञान जिसे हो रहा है, वह सच्चिदानन्द स्वरूप आत्मा ही मैं हूँ ।

दृक्–दृश्यौ द्वौ पदार्थो स्तः परस्पर–विलक्षणो ।
दृक् तु ब्रह्म दृश्यं माया इति वेदान्त डिंडिमः ।। शंकराचार्य

इस ब्रह्माण्ड में केवल दो ही पदार्थ है । एक द्रष्टा दूसरा दृश्य, एक चेतन दूसरा जड़, एक आत्मा दूसरा अनात्मा, एक शिव दूसरा शव, एक पुरुष दूसरा प्रकृति, इन दोनों में से जो द्रष्टा, ज्ञाता, प्रकाशक, साक्षी है वही ब्रह्म है और जो दृश्य, जड़, ज्ञेय, ध्येय, प्रमेय, क्षेत्र, अनात्मा, शव, प्रकृति है, वह माया है ।

यही इस गीता शास्त्र अर्थात् वेदान्त की घोषणा है । जैसे सिनेमा में जो चित्र पर्दे पर दिखाई पड़ते हैं, वह तो दृश्य है और जिससे दिखाई पड़ रहा है वह बिजली प्रकाशक है । इसी तरह जो अन्तःकरण सहित पाँचों ज्ञानेन्द्रिय, पांचों कर्मेन्द्रिय, प्राँचों प्राण एवं पाँचों विषय है, जिसे

ज्ञेय, दृश्य, प्रमेय, अनुभाव्य या object कहा जाता हैं, वह है माया क्षेत्र और जिस ज्ञान ज्योति से यह सब भासमान हो रहे हैं, वह चैतन्य, साक्षी, आत्मदेव मैं हूँ। इसलिये मुझे ही ज्ञाता, द्रष्टा, अनुभविता, प्रकाशक, क्षेत्रज्ञ कहते हैं ।

गीता शास्त्र एक महान् गहन सागर की तरह है । उसका मनन करने से साधक के मन में नये–नये विलक्षण भाव प्रकट होते हैं । गीता के उपदेश को तो सम्पूर्ण रूपसे अर्जुन ही ठीक से समझ सका है । जिससे उसका सम्पूर्ण मोह नष्ट होकर अनादि से भूले हुए स्वस्वरूप का स्मरण हो गया ।

'नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा' गीता : १८/७३

जिसके फल स्वरूप वह कृतकृत्य, ज्ञात ज्ञातव्य और प्राप्त प्राप्तव्य हो गया था । अर्थात् जिसे पाने के लिये यह देव दुर्लभ जीवन पाया था उस आत्म तत्त्व को जान लिया, जिसे प्राप्त करना था उसे मैं रूप से प्राप्त कर चुका । आज भी जो कोई मुमुक्षु इसका सद्गुरु द्वारा श्रद्धा एवं एकाग्रता पूर्वक श्रवण, मनन करे तो वह भी अपने जीवन को धन्य बना सकता है ।

योऽन्यां देवतामुपास्तेऽन्योऽसावन्योऽहमस्मीति न स
वेद यथा पशुरेवं स देवानाम् । बृहदा. उप.१/४/१०

इस निजात्मा स्वरूप प्रकृत ब्रह्मको बर्तमान में किसी श्रोत्रीय–ब्रह्मनिष्ठ सद्गुरु कृपा से अहं ब्रह्मास्मि 'मैं ही ब्रह्म हूँ' इस प्रकार से जो जाना लेता है अर्थात् साक्षात् अपरोक्ष अनुभव करलेता है, वह विज्ञान से अपनी अखण्डता को अनुभव करलेता है । इस प्रकार सर्व रूपता से अपने को जानने वाले तत्त्ववेता का कोई भी देवता पराभव नहीं कर पाते हैं । क्योंकि वह तत्त्वज्ञानी इन सभी देवताओं का भी आत्मा हो जाता है। जैसे विभिन्न पुष्पों की माला का एक सूत्र ही सब पुष्पों का आधार रूप होता है ।

यह मेरा आराध्य देव मुझसे भिन्न है और मैं इस इष्ट देव से भिन्न हूँ । वह वहाँ उस रूप में विद्यमान् है और मैं यहाँ इस रूप में विद्यमान हूँ । इस प्रकार से जो अपने से, अपने आराध्य इष्ट देव को भिन्न रूप से उपासना करता है, वह अज्ञानी परमात्म तत्त्व को अर्थात् अखण्ड ब्रह्म सत्ता को नहीं जानता है, इसलिये उस अज्ञानी को देवताओं का पशु ही जानना चाहिये ।

आज भी जो कोई मनुष्य ऋषि भृगु की भांति विचार रूप तप के द्वारा परमानन्द स्वरूप परब्रह्म परमात्मा को निजात्म रूप से अर्थात् वह ब्रह्म मैं हूँ इस प्रकार जान लेता है, वह भी उन विशुद्ध परमानन्द स्वरूप परमात्मा में स्थित हो जाता है । जैसे मठ नष्ट होते ही उसमें स्थित आकाश स्वयं आकाश ही रह जाता है ।

घटे नष्टे यथा व्योम व्योमैव भवति स्वयंम् ।
तथै वोपाधि विलये ब्रह्मैव ब्रह्मवित्स्वयम् ।। – आत्म उप. २३

श्रीमद्भगवत् गीता में सभी प्रकार के साधकों के कल्याणार्थ उनकी स्थिति के अनुसार साधनों का निरूपण किया गया है । दर्पण के सम्मुख मनुष्य जैसा वेश, मुखाकृति बनाकर देखता है, दर्पण उसे उसी के अनुरूप दिखा देता है । इसी तरह इस गीता सागर में जो कर्म, भक्ति, योग, राजनीति, सामाजिक, पारिवारिक आदि बुद्धि से डुबकी लगायेगा, उस साधक को यह गीता कर्म प्रधान, भक्ति प्रधान, योग प्रधान, ज्ञान प्रधान, राजनीति प्रधान ही दिखाई पड़ेगी । सभी साधकों को गीता में अपनी रुचि के अनुसार, अपने मत की पुष्टि करने का सामान मिल जाता है ।

तथापि गीता के अठारह अध्याय सातसौ श्लोक का सम्पूर्ण पाठ पढ़ने से भी जीव को अपने कल्याण प्राप्ति हेतु संक्षिप्त में सार रूप स्पष्ट साधन या उपदेश समझने में नहीं आता है। जब कोई सद्गुरु उसे सरलता एवं सुगमता पूर्वक युक्तियों एवं द्रष्टान्त द्वारा समझाता है, तभी उस साधक को गीता का यथार्थ बोध हो पाता है । प्रायः देखा गया है कि साधक गीता पाठ करना प्रारम्भ तो करते हैं किन्तु उन्हें उसका यथार्थ

बोध न होने के कारण उपराम होकर साधक शिघ्र ही गीता अध्ययन छोड़ बैठते हैं । इसलिये भगवान् कहते हैं –

य इमं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति ।
भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः ।। १८/६८

जो ज्ञानी निःस्वार्थ, निष्काम, अदम्भ भाव से इस परम पवित्र, परम गोपनीय आत्म तत्त्व को, अज्ञ जीवों पर दया करके उनको अपने सच्चे द्रष्टा आत्म स्वरूप का बोध करायेगा तथा सब का कल्याण हो इस भावना से प्रेरित हो यह ज्ञान दान करता है, वह स्वाध्याय यज्ञ तथा ज्ञान यज्ञ का करने वाला मेरा भक्त मुझे ही प्राप्त होता है ।

जीव के मल, विक्षेप तथा आवरण दोष की निवृत्ति हेतु वेद में कर्म, उपासना व ज्ञान इन तीन साधनों का वर्णन किया है । जब निष्काम कर्म, उपासना द्वारा जब जीव का मल, विक्षेप दोष दूर हो जाता है तब उसे ब्रह्मजिज्ञासा उदय होती है फिर उस साधक को कर्म, उपासना साधन की आवश्यकता नहीं रहती है । ऐसे मुमुक्षु साधकों के लिये ही यह **''सर्वोपनिषद गीता सार''** प्रकाशित किया जारहा है । जिसका नित्य पाठ करने एवं मनन करने से साधक का सरलता से देहाध्यास छूट कर आत्म बोध जाग्रत हो सकेगा । किन्तु देहासक्त व्यक्ति को प्रारम्भ में बिना गुरु शरणगति के यह निर्गुण आत्मा उपासना अर्थात् मैं ब्रह्म हूँ यह भाव ग्रहण करना कठिन मालुम पड़ता है ।

क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम् ।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते ।। – गीता : १२/५

इस **'सर्वोपनिषद गीता सार'** ग्रन्थ का वही उत्तम अधिकारी है जो इस लोक से ब्रह्मादिक लोक तक के भोग की इच्छा का त्याग कर चुका है । जिसको पूर्व जन्म या इस जन्म में कर्म एवं उपासना साधन द्वारा मुमुक्षुता जाग्रत हो चुकी है तथा जिसमें केवल एक देहाध्यास एवं परमात्मा से भिन्नता का भ्रम अर्थात् आवरण दोष मात्र ही शेष रह गया है । ऐसे मुमुक्षु साधक के लिये यह ग्रन्थ निश्चित ही अमृत रूप सिद्ध है ।

वेद, शास्त्रों में जीवों की वासनाओं के अनुसार अनेकों साधनों का वर्णन है किन्तु उनसे मुमुक्षु साधक का कोई प्रयोजन नहीं है । ब्रह्म जिज्ञासा वाले साधक के लिये तो वेद के एक **'तत्त्वमसि'** महावाक्य से ही प्रयोजन है । जैसे औषधालय में लाखों औषधियाँ हैं किन्तु रोगी को तो उस औषधि मात्र से प्रयोजन है, जो उसके रोग को दूर करने के लिये वैद्य या डाक्टर द्वारा निर्धारित की गई है ।

भगवान भी यही शिक्षा अपने प्रिय शिष्य एवं सखा अर्जुन को कह रहे हैं कि यह जो क्षेत्र–क्षेत्रज्ञ, जड़–चेतन का ज्ञान निरंजन सबको मुफ्त लुटा रहा है, यही मेरे मत से आत्म कल्याण का एक मात्र सत्य मार्ग है । इसके अतिरिक्त सब अज्ञान है ।

इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते ।
एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः ।। १३/१

हे अर्जुन ! यह शरीर 'क्षेत्र' नाम से कहा जाता है और इसको जो जानता है, उसको 'क्षेत्रज्ञ' नाम से कहते हैं । ऐसा आत्म तत्त्व को जानने वाले श्रोत्रिय–ब्रह्मनिष्ठ ज्ञानीजन भी कहते हैं ।

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम । १३/२

अतः यह क्षेत्र–क्षेत्रज्ञ का ज्ञान अर्थात् प्रकृति व पुरुष का ज्ञान ही मेरे मत से यथार्थ ज्ञान है, जो जीवन्मुक्ति का एक मात्र निश्चित साधन है ।

'एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा' १३/११

इस अनित्य नश्वर क्षणभंगुर विकारी क्षेत्र के अन्दर एक क्षेत्रज्ञ परमात्मा को ही देखना, यही वास्तविक ज्ञान है और जो इससे विपरीत नाना देवी–देवता की उपासना करता है वह सब अज्ञान ही जानना चाहिये ।

असप्रभु छाड़ि भजहिं जे आना ।
ते नर पशु बिन पूँछ विशाना ।। (रामायण)

येऽप्यन्यदेवता भक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः ।
तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम् ।। – गीता : ९/२३

हे अर्जुन ! यद्यपि श्रद्धासे युक्त जो सकाम भक्त दूसरे देवताओं को पूजते हैं, वे भी मुझको ही पूजते हैं; किन्तु उनका वह पूजन अविद्या पूर्वक अर्थात् अज्ञान पूर्वक है ।

अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च ।
न तु मामभिजानन्ति तत्त्वेनातश्च्यवन्ति ते ।। – गीता : ९/२४

क्योंकि सम्पूर्ण यज्ञों का भोक्ता और स्वामी भी मैं ही हूँ; परन्तु वे मुझ परमेश्वर को तत्त्वसे नहीं जानते, इसीसे गिरते हैं अर्थात् पुनर्जन्म को प्राप्त होते हैं ।

यान्ति देवव्रता देवान्पितृन्यान्ति पितृव्रताः ।
भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम् ।।
– गीता : ९/२५

देवताओं को पूजनेवाला देवताओं को प्राप्त होता है, पितरों को पूजनेवाला पितरों को प्राप्त होता है,भूतों को पूजनेवाला भूतों को प्राप्त होता है और मुझ आत्मा को पूजनेवाला ज्ञानी मोक्ष को प्राप्त होता है । इसीलिये ज्ञानी का पुनर्जन्म नहीं होता ।

अन्तवत्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्पमेधसाम् ।
देवान्देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि ।। – गीता : ७/२३

परन्तु उन अल्प बुद्धिवालों का वह फल नाशवान् है तथा वे देवताओं को पूजनेवाले देवताओं को प्राप्त होते हैं और मेरे भक्त चाहे जैसे ही भजें, अन्तमें वे मुझको ही प्राप्त होते है ।

मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते । ८/१६

अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः ।
परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम् ।। – गीता : ७/२४

बुद्धिहीन पुरुष मेरे अनुत्तम अविनाशी परम भावको न जानते हुए मन–इन्द्रियों से परे मुझ सच्चिदानन्दघन परमात्मा को मनुष्य की भाँति जन्मकर व्यक्ति भाव को प्राप्त हुआ मानते हैं ।

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः ।
मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम् ।।

– गीता : ७/२५

अपनी योगमाया से छिपा हुआ मैं सब के प्रत्यक्ष नहीं होता, इसलिये यह अज्ञानी जनसमुदाय मुझ जन्म रहित अविनाशी ब्रह्म को नहीं जानते अर्थात् मुझ को जन्मने–मरनेवाला समझते हैं ।

''**यजन्त्यविधिपूर्वकम् ।**'' ९/२३

जिन साधकों के पास समय है, वे विस्तार सहित सम्पूर्ण गीता, रामायण, भागवत, उपनिषद, पुराणादि, सत् शास्त्रों का स्वाध्याय विचार पूर्वक करें । इस ''सर्वोपनिषद गीता सार'' ग्रन्थ में गीता श्लोकों का अर्थ विशेष रूप से साधक संजीवनी टीका परम आदरणीय श्रोत्रिय–ब्रह्मनिष्ठ स्वामी श्रीरामसुखदासजी रचित गीता से लिया गया है ।

प्रायः देखा जाता है कि संत, उपदेशक गुरु वेद के कर्म और उपासना इन दोनों साधनों की ही चर्चा श्रोताओं के सम्मुख कर रुक जाते हैं। किन्तु वेद के अन्तिम साधन ज्ञानकाण्ड का प्रतिपादन नहीं करते हैं । कोई साधक मुमुक्षु ज्ञान सम्बन्धी श्लोक, मंत्र या दोहा चौपाई का भावार्थ या तात्पर्य जानना चाहते हैं, तो वे गुरुजन अपने शिष्यों को सहजता से कह देते हैं कि अभी तुम गृहस्थी हो इसलिये कर्म, उपासना का ही तुम्हें अधिकार है, अभी तुम ज्ञान के अधिकारी नहीं हो । ज्ञान संन्यासियों के लिये साधन है ।

परन्तु कर्म में आग्रह रखने वाला अहंकार का पुजारी आत्मज्ञान में श्रद्धा नहीं करता क्योंकि कर्म द्वारा कर्ता को अहंकार का ही पोषण प्राप्त होता है । ज्ञान में तो अहंकार का नाश होता है, इसीलिये अष्टावक्र जी की बात लोगों को कम जचती है ।

पातन्जल के अष्टांग योग की बात लोक में ज्यादा प्रसिद्ध हुई है । कर्मकाण्डी लोगों को करने की बात बहुत अच्छी लगती है । यम–नियम, आसन, प्राणायाम, धारणा, ध्यान, समाधि की बात श्रेयकर

लगती है, जिसे जन्मों–जन्मों तक करते रहो । एक–एक आसन, मुद्रा, प्राणायाम को साधने में, यम–नियम को साधने में पूरा जीवन समाप्त हो जाता है तब भी वे पूरे नहीं हो पाते हैं ।

अष्टावक्रजी तो कहते हैं, परमात्मा भी कोई पाने की वस्तु है ? क्या आश्चर्य है प्राप्त परमात्मा को पाने का पागलपन सब ओर सबकी बुद्धि में छाया हुआ है । अरे भैया ! परमात्मा तो तुम्हारा स्वभाव है । जैसे अग्नि को उष्णता के लिये, बर्फ को शीतलता के लिये, चीनी को मधुरता के लिये, नीमको कड़वाहट के लिये, मिर्च को तीक्ष्णता पाने के लिये क्या किसी साधन एवं समय की अपेक्षा रहती है ? नहीं । क्योंकि यह उष्णता, शीतलता, मधुरता, कटुता, तीक्ष्णता उन–उन पदार्थों का अपना सहज स्वभाव है । इसी प्रकार परमात्मा जीव का सहज सिद्ध स्वभाव है ।

अष्टावक्रजी कहते हैं परमात्मा, मुक्ति, आनन्द आत्मा अर्थात् जीव का सहज स्वभाव है । धर्मी को अपना धर्म सहज सुलभ ही रहता है । इसी तरह परमात्मा को पाने की बात इतनी सरल है कि कुछ करने की जरूरत नहीं । एक क्षण से भी पहले वह हो चुका है, मिला हुआ ही है। क्षण भी लगाना परमात्मा के लिये बहुत देरी व दूरी का बोध कराता है । इसीलिये वेद के ऋषियों ने '**अहंब्रह्मास्मि**', **मैं ब्रह्म हूँ, 'अयमात्मा ब्रह्म**' यह आत्मा ब्रह्म है ऐसा अनुभव करके ही घोषणा की है ।

अहंकारियों को सरल, सहज, सुगम में रस नहीं होता उसे कठिनता के मार्ग में रस होता है, ताकि उसके अहंकार को पोषण मिल सके, अहंकार की वृद्धि हो सके । चन्द्र, मंगल गृह पर उतरने की बात, गौरीशंकर पर चढ़ने की बात में रस है किन्तु अपने ही साढ़े तीन हाथ की देह में अन्तर्यात्रा करने में, हृदय मन्दिर में प्रवेश करने की बात में रस नहीं है । क्योंकि इस अन्तर्यात्रा के लिये न एक कदम चलना है, न कुछ करने की जरूरत है ।

अशास्त्रविहितं घोरं तप्यन्ते ये तपो जनाः ।
दम्भाहंकारसंयुक्ताः कामरागबलान्विताः ॥ – गीता : १७/५

कर्शयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः ।
मां चैवान्तःशरीरस्थं तान्विद्ध्यासुरनिश्चयान् ।।

– गीता : १७/६

अधिकांश साधु संन्यासियों को आप अहंकारी ही पाओगे जो अपने मठ, मन्दिर, आश्रम, भूमि, शिष्य, सम्पत्ति व उपाधियों की वृद्धि करने की प्रतिस्पर्धा में लगे हुए हैं। नाना प्रकार के कठिन साधनों को करने में शरीर व जीव को कृश करने में लगे हैं । जो शास्त्र विरुद्ध आचरण करने वाले हैं, उन्हें तुम भगवान कृष्ण के वचनानुसार आसुरी स्वभाव वाला ही जानो। कठिन की बैसाखी लेकर अहंकार चलता है । सरल बात में अहंकारी को रुचि नहीं होती ।

'नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय' ६/१५ श्वेताश्वतर उप.

परमात्मा इतना सरल है कि उसको पाने कि लिये कुछ करने का कोई उपाय नहीं है । सरल के साथ अहंकार को चलने का कोई उपाय नहीं है । इसीलिये अष्टावक्र कहते हैं, कर्ता होने से परमात्मा को नहीं जान पाओगे । परमात्मा को तो साक्षी होकर ही अभिन्न रूप से पाओगे । जैसे अलंकार को स्वर्ण भिन्न रूपसे कभी प्राप्त नहीं होता है । अलंकारों को तो अपनी सत्ता मिटाकर ही स्वर्ण सत्ता की प्राप्ति होती है । नदियाँ समुद्र से भिन्न रहकर समुद्र रूप नहीं होती है बल्कि नदियाँ अपनी सत्ता को मिटाने पर ही वे समुद्र की विशालता, व्यापकता को अनुभव कर पाती है । इसी तरह भक्त भी अपने व्यष्टि अहंकार को मिटाने पर ही भगवत्स्वरूपता को प्राप्त हो पाता है ?

जानत तुमहि तुम ही होई जाई (रामायण)

ब्रह्मवित ब्रह्मैव भवति । ३/३/९ मुण्डक. उप.

हे मुमुक्षुओं ! आप भाग दौड़ छोड़ कर शान्त होकर जरा बैठ तो जाओ । आँख खोलकर तो देखो, तुम जहाँ हो वहाँ ही तो परमात्मा है और जिसे तुम पाना चाहते हो, वह तो तुम स्वयं ही हो । परमात्मा को खोजने वाला साधक भक्त परमात्मा की अखण्ड, सर्वव्यापक सत्ता को खण्डित

सिद्ध कर आत्म– हत्यारा, ब्रह्महत्यारा ही बन रहा है । तुम सभी परमात्मा को खोजने वाले, ज्ञान चक्षु बिना अन्धे बने बैठे हो, मुर्च्छित पड़े हो ।

जो अपने सहज नित्य आत्म स्वरूप में सन्तुष्ट नहीं है, जिन्हें कुछ पाने की, होने की, बनने की आतुरता हैं, वे लोग अष्टावक्रजी की बात पर भरोसा नहीं कर सकेंगे । क्योंकि अष्टावक्रजी कहते हैं परमात्मा के लिये तुम्हें कुछ करने को, पाने को यहाँ कुछ नहीं है । परमात्मा तुम्हारा अग्नि उष्णता, चीनी मधुरता की तरह सहज स्वभाव है । तुम जन्म से ही अपने स्वभाव को लेकर ही प्रकट हुए हो । उसकी सत्ता के बिना तुम हो ही नहीं सकते । तुम्हारा जिन्दा रहना, होना यह तो साक्षात् परमात्मा होने का ही प्रमाण है । अन्यथा तुम एक क्षण भी नहीं रह पाते ।

ध्यान रहे ! जब तुम उठते हो तो परमात्मा ही उठता है, तुम चलते हो तो परमात्मा ही चलता है, तुम देखते हो तो परमात्मा ही देखता है, तुम उसके बिना कुछ नहीं हो। समझो ! विचारो ! इस मिट्टी के दीपक रूप शरीर में वह कौनसी ज्योति है, जिसके प्रकाश में जन्म से मृत्यु तक, जाग्रत से समाधि तक की सभी क्रियाएँ होती रहती है ? परमात्मा के लिये कहीं जाने, पहुँचने, पाने को नहीं बल्कि जहाँ तुम हो वहीं मन्जिल है । केवल जागो '**उत्तिष्ठत जाग्रत**' १/३/१४ कठ उप. । समझें ! हम दिन में सूर्य के प्रकाश में काम करते हैं, रात्रि में चांद या दीपक के प्रकाश में या वाणी सुनकर काम करते हैं किन्तु सूरदास व्यक्ति अपना जीवन निर्वाह जिस प्रकाश में करता हैं, वह स्वयं ज्योति आत्मा है ।

यदि वृक्ष अपनी जड़ों को खोजे कि कहाँ मेरी जड़ है तो वह उसे कभी नहीं देख सकेगा क्योंकि जड़े वृक्षके नीचे जमीन में छुपी फैली हुई है । जड़ों को खोद निकालें तो फिर वृक्ष की सत्ता ही समाप्त हो जाती है । जड़ों के बिना वृक्ष खड़ा ही कैसे हो सकता है ? वृक्ष का होना जड़ होने का सबूत है ।

इसी तरह जीव का परमात्मा से सम्बन्ध टूट जावे तो जीव एक क्षण भी नहीं रह सकता । शरीर में जीव का होना परमात्मा के होने की

ही खबर है । परमात्मा है तो वह यहाँ, अभी व तुम्हारे रूप में ही हो सकता है अन्यथा जो यहाँ नहीं, अभी नहीं, तुम्हारे रूप में नहीं वह अखण्ड परमात्मा कभी नहीं हो सकता । उसके लिये दूरी, देरी व किसी प्रकार के साधन करने की जरूरत मानना ही अज्ञान है ।

तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्तिधीरास्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम् ।।

२/२/१३ कठ.उप.

हृदय में निवास करनेवाले परमात्मा को जो ज्ञानी निरन्तर मैं रूप से दर्शन करते हैं अर्थात् अनुभव करते हैं, बस उन्हें ही शाश्वत सुख की प्राप्ति होती है, अन्य कर्म कर्ता अज्ञानियों को उसकी प्राप्ति नहीं होती है ।

यतन्तोऽप्यकृतात्मानो नैनं पश्यन्तयचेतसः ।।१५/११।।

मल–विक्षेप दोषों से ग्रसित जिन लोगों ने निष्काम कर्म, उपासना द्वारा अपना अन्तःकरण शुद्ध नहीं किया है, ऐसे अज्ञानी सकामी लोग मंत्र, माला, पूजा, पाठ, तीर्थ, व्रत, याग, यज्ञ, ध्यान आदि साधन करने से जन्म–मरण चक्र से नहीं छूट पाते हैं बल्कि अनित्य स्वर्ग सुख भोग कर फिर मृत्यु लोक में आ जाते हैं ।

ते तं भुक्त्वा स्वर्ग लोकं विशालंक्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति

गीता–९/२१

किन्तु जिन साधकों ने विवेक, वैराग्य, शम, दम, श्रद्धा, तितिक्षा उपरामता, समाधानता रूप षट् सम्पति तथा मुमुक्षुता साधन सम्पन्न होकर किसी श्रोत्रिय–ब्रह्मनिष्ठ सद्गुरु द्वारा वेदान्त तत्त्व का श्रवण, मनन, निदिध्यासन द्वारा अपने आत्म स्वरूप परमात्मा को ज्ञान चक्षु द्वारा जान लिया है, ''**पश्यन्ति ज्ञानचक्षुष**'', बस ! वे ही परमात्मा को सोऽहम् रूप, अहं रूप, मैं रूप जानते हैं । शेष वे सभी परमात्मा को कभी नहीं जान सकेंगे, जो परमात्मा को अपने से दूर एवं भिन्न रूप मानते हैं । इदं रूप, यह रूप परमात्मा कभी नहीं हो सकता ।

परमात्मा को खोजना इसी प्रकार का अज्ञान होगा जैसा कोई अखण्ड शान्ति साधना प्रशिक्षण शिविर पण्डाल में बैठा हो और वहीं जाने

हेतु मार्ग पूछ रहा हो कि मुझे उस अखण्ड शान्ति साधना प्रशिक्षण शिविर पण्डाल में पहुँचने का कोई मार्ग बतादें । मैं वहाँ किस साधन से शिघ्र पहुँच सकूँगा । अथवा कोई मनुष्य तेज रोशनी में खड़ा पूछे कि सूर्य का प्रकाश को मैं कहाँ खोजूँ, वह कहाँ मिलेगा ? यह दोनों प्रकार की खोज उनकी मूढ़ता ही सिद्ध कर रही है ।

याद रखें ! जो पदार्थ पहले से होता है वह ज्ञान मात्र से, श्रवण मात्र से ही मिल जाता है । तथा जो पदार्थ पूर्व से नहीं है, उसे साधन करके ही प्राप्त किया जा सकता है । किन्तु परमात्मा तो जीव का नित्य स्वभाव है, इसलिये ज्ञान मात्र से, श्रवण मात्रसे मिल जाता है ।

''ज्ञान मोक्ष प्रद वेद वखाना'' – रामायाण

'ज्ञानादेव तु कैवल्यं', 'ऋते ज्ञानान्न मुक्ति', । वस्तु सिद्धि विचारेण न कर्म कोटिभि' (शंकाराचार्य)

परीक्ष्य लोकान्कर्मचितान्ब्राह्मणो निर्वेदमायान्नास्त्यकृतःकृतेन ।।

– मुण्डक. उप. १/२/१२

अनित्य कर्मों द्वारा उपलब्ध लोकों को एवं भोगों को नाशवान् जानकर मुमुक्षु उन–उन लोकों एवं भोगों से वैराग्य धारण करे । क्योंकि अनित्य योग, यज्ञ, समाधि आदि साधनों द्वारा नित्य प्राप्त परमात्मा की प्राप्ति कदापि सम्भव नहीं है । अतः ब्रह्मानुभूति प्राप्त करने के लिये गुरु एवं आश्रम उपयोगी सामग्री लेकर श्रोत्रिय–ब्रह्मनिष्ठ सद्गुरु का आश्रय लेवें । याद रखें परमात्मा तुम से भिन्न नहीं है ।

परमात्मा से ज्यादा साधारण कौन हो सकता है ? वह पक्षी में पक्षी होकर, पशु में पशु होकर, पेड़–पौधे में पेड़–पौधा होकर, मनुष्य में मनुष्य होकर, स्त्री में स्त्री होकर, बच्चों में बच्चा होकर, सूर्य, चन्द्र, नदी, पर्वत आदि में पंचभूत होकर स्थित है । परमात्मा स्वर्ग में स्वर्गीय देवता होकर तथा नरक में नारकीय होकर रहता है । इससे अधिक और क्या साधारण एवं सर्व व्यापकता परमात्मा के लिये हो सकेगी ? इसीलिये निरालम्ब उपनिषद में परमात्मा को **''सर्वं खल्विदं ब्रह्म, नेह नानास्ति**

किंचन'' रूप बतलाया है । अर्थात् यह समस्त दृश्यमान् जगत् ही ब्रह्म रूप है और इनसे भिन्न यहाँ कुछ भी अन्य नहीं है ।

परमात्मा में कोई विशेषण नहीं है वह निर्विशेष है हम परमात्मा को सबसे पृथक् महान, विशेष दिखलाना चाहते हैं । इसीलिये अनेक बड़ी–बड़ी उसके नाम के आगे उपाधियाँ लगा कर उसे सम्बोधित करते हैं, जैसे सर्वग्य, सर्वशक्तिमान, अखण्ड, करुणावरुणालय,.... आदि ।

तुम जागो या न जागो, मानो या न मानो, अनुभव करो या न करो किन्तु परमात्मा तुम्हारे अन्दर ही है बल्कि वह तुम स्वयं ही हो ।

महर्षि वशिष्ठ तथा अष्टावक्र ऋषि ही ऐसे महापुरुष हुए हैं जिन्होंने राजा रामचन्द्र एवं राजा जनक को सीधा ब्रह्मोपदेश किया एवं जगत् की सत्ता को ही अस्वीकार कर दिया कि हे राम ! जगत् तीन काल में है ही नहीं । जब जगत् नहीं तो उत्पत्ति कर्ता ब्रह्मा, पालन कर्ता विष्णु एवं संहार कर्ता शंकर की भी सत्ता नहीं है, जब जन्म नहीं, शरीर नहीं, जीव नहीं, कर्ता नहीं, पुण्य–पाप नहीं, मृत्यु नहीं, स्वर्ग–नरक नहीं, तब बन्ध–मोक्ष भी कहाँ है ?

न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बद्धो न च साधकः ।
न मुमुक्षुर्न वै मुक्त इत्येषा परमार्थता ।।

– आत्मोपनिषद ३१, अवधुत उप, २१, ब्रह्मबिन्दु उप. १०

न प्रलय है और न उत्पत्ति है, न बद्ध है और न साधक है, न मुमुक्षु है और न मुक्ति ही है यही वास्तविक तत्त्व है ।

परन्तु यह परम सत्य बात को कोई महात्मा, गुरु, उपेदशक नहीं कहता कि अब तू छोड़ कर्म, उपासना को एवं ज्ञान को ग्रहण कर । जैसे तोतापुरीजी ने रामकृष्ण को उपेदश किया कि यह काली तेरे लिये आखरी दीवार है, इसे रास्ते से तुझे हटाना ही होगा । आज्ञाकारी शिष्य राम कृष्ण परमहंस ने मन को काली उपासना से हटा कर परमात्मा का साक्षात् अपरोक्ष अनुभव तत्काल कर लिया ।

इसी प्रकार भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन को समस्त वाह्य धर्म का परित्याग कर अपने आत्मा की शरण में आने हेतु उपदेश किया । –१८/६६

इस दृष्टि से मैनें शिष्य सन्तापहारी करुणावरुणालय भगवान श्रीकृष्ण के उपदेशामृत रूप श्रीमद्भगवत् गीता एवं उपनिषदों से जीव के आवरण दोष को दूर करने के लिये स्वरूप ज्ञान सम्बन्धी तत्त्व को संकलित किया है । जिन साधकों ने पूर्व जन्म या इस जन्म में अपने मल तथा विक्षेप दोषों को निष्काम कर्म एवं उपासना द्वारा दूर कर लिया है और जिनके अन्तःकरण में एक स्वरूप अज्ञान दोष ही शेष है, उन्हें उत्तम अधिकारी कहा जाता है । उनके स्वाध्याय के लिये यह उत्तम ग्रन्थ सिद्ध होगा ।

अतः ऐसे उत्तम अधिकारी मुमुक्षु साधक को पुनः मल–विक्षेप दोष को दूर कराने वाले साधन कर्म–उपासना वाले अंग का, व्यर्थ समय व्ययकर अध्ययन न करना पड़े एवं अपने स्वरूप का साक्षात्कार कराने वाले ज्ञान अंग का एक ही स्थान पर अल्प समय में स्वाध्याय हो सके । अतः उन यथार्थ मोक्षाभिलाषी साधकों के लिये यह ''सर्वोपनिषद गीता सार'' ग्रन्थ निश्चित ही अमृत रूप पूर्ण तृप्ति प्रदायक हो, ऐसा मैं आत्मप्रभु से प्रार्थना करता हूँ एवं स्वाध्याय कर्ता पाठको से आशा करता हूँ ।

विनीत

तुम्हारी अपना ही आत्मबन्धु

अनुबन्ध – चतुष्टय

लेखक को सर्वप्रथम ग्रन्थ का विषय, उसका प्रयोजन, उसका अधिकारी और प्रतिपाद्य – प्रतिपादक का सम्बन्ध इन चारों बातों को बताना जरुरी होता है, जिसे अनुबन्ध नाम से कहा जाता है, वह ग्रन्थ शिक्षित लोगों के द्वारा पठनीय नहीं होता है । ''**सर्वोपनिषद गीता सार**'' का अनुबन्ध चतुष्ट्य इस प्रकार है –

(१) विषय : जिन साधनों के द्वारा जीव का कल्याण होता है, उन साधकों की स्थिति अनुसार गीता एवं उपनिषद में कर्म योग, भक्ति योग, ध्यान योग, तथा ज्ञान योग आदि सभी साधन प्राप्त हो जाते हैं ।

प्रत्येक जीव में मल, विक्षेप तथा आवरण यह तीन दोष होते हैं । मल दोष की निवृत्ति हेतु निष्काम कर्म तथा विक्षेप दोष की निवृत्ति हेतु उपासना साधन आवश्यक होता है । जिन साधकों के मल, विक्षेप दोष पूर्व जीवन में या वर्तमान जीवन में दूर हो चुके है । अब उनके जीवन में केवल देहाध्यास व स्वरूप की विस्मृति रूप आवरण ही शेष रह जाता है, जिसके लिये अब कर्म, उपासना साधन करने की आवश्यकता नहीं रह जाता है । उन उत्तम अधिकारी साधको के लिये वेद कहता है –

चित्तस्य शुद्धये कर्म न तु वस्तुपलब्धये ।
वस्तु सिद्धि र्विचारेण न किंचित् कर्म कोटिभिः ।।

–११ विवेक चूड़ामणि

'ऋतेः ज्ञानान् मुक्ति', **'ज्ञानादेव तु कैवल्यम्'** अर्थात् आत्मज्ञान के बिना मुक्ति नहीं, ज्ञान द्वारा ही मुक्ति की प्राप्ति होती है । इस वेद के

अन्तिम सत्य सिद्धान्त को ध्यान में रखते हुए इस ''**सर्वोपनिषद गीता सार**'' ग्रन्थ में कर्म, उपासना का प्रतिपादन न करते हुए केवल ब्रह्म जिज्ञासा करने वाले साधकों के लिये ही ज्ञान योग का प्रतिपादन किया गया है ।

(२) प्रयोजन : जिसके प्राप्त हो जाने पर फिर साधक को और कुछ करना, जानना, पाना और देखने की इच्छा शेष नहीं रहती है, उस परम गुप्त आत्म तत्त्व की अनुभूति करा देना, जीव को कृत कृत्यता का, प्राप्त प्राप्तव्यता का बोध करा देना ही इस संक्षिप्त गीता सार ग्रन्थ का प्रयोजन है ।

ज्ञानामृतेन तृप्तस्य कृतकृत्यस्य योगिनः ।

– ४/१०, पेङ्गल.उप

(३) अधिकारी : जो मुमुक्षु वास्तव में अपना कल्याण करना चाहते हैं, वे सब इस ''**सर्वोपनिषद गीता सार**'' शास्त्र के अधिकारी हैं ।

(४) सम्बन्ध : गीता एवं उपनिषदों के विषय और गीता एवं उपनिषदों में, परस्पर प्रतिपाद्य–प्रतिपादक का सम्बन्ध है । अर्थात् गीता एवं उपनिषदों का विषय 'प्रतिपाद्य' है अर्थात् जिस विषय को समझाया जाता है उसे प्रतिपाद्य कहा जाता है एवं उपनिषद और गीता स्वयं उस विषय वस्तु को समझाने वाला होने से 'प्रतिपादक' कहलाते हैं ।

जीव का कल्याण कैसे हो ? यह '**सर्वोपनिषद गीता सार**' उपनिषद ग्रन्थ का प्रतिपाद्य विषय है और यह सर्वोपनिषद गीता सार कल्याण की अनेकों युक्तियाँ बताने वाला स्वयं प्रतिपादक है ।

षड् लिंग

किसी भी ग्रन्थ के प्रतिपाद्य विषय का निर्णय करने के लिये उपक्रम–उपसंहार, अभ्यास, अपूर्वता, फल, अर्थवाद और उपपत्ति – ये छः लिंग होते हैं । अर्थात् (१) ग्रन्थ का उपक्रम और उपसंहार किस विषय में हुआ है, (२) ग्रन्थ में बार–बार कौनसी बात कही गयी है, (३) ग्रन्थ में कौनसी अलौकिकता है, (४) फल रूप में क्या बतलाया है, (५) किसकी प्रशंसा की गयी है और (६)कौनसी युक्तियाँ दी गयी है – ये छः बातें षट् लिंग में होती है । इन छहों लिंग से गीता के प्रतिपाद्य विषय का भी निर्णय हो जाता है ।

(१) उपक्रम – उपसंहार : गीता का उपक्रम और उपसंहार शरणागति में हुआ है । प्रारम्भ में **'शाधि मां त्वां प्रपन्नम्'**२/७ श्लोक आपके शरण में आये हुए मेरे को जिस प्रकार कल्याण हो, वह उपदेश कीजिये, यह कह कर अर्जुन भगवान् की शरण में हो जाते हैं, और उपसंहार में भी **'मामेकं शरणं व्रज'** १८/६६ श्लोक में भगवान कहते हैं केवल मेरी शरण में आजा अर्थात् अपने शरण में आने की आज्ञा देते हैं । तथा अर्जुन भी शरणागति स्वीकार कर कहता है –**''करिष्ये वचनं तब''** १८/७३ अर्थात् अब मैं आप की आज्ञा का पालन करूँगा ।

(२) अभ्यास : गीता में बार बार शरणागति की ही बात कही है ; जैसे **'तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः'** २/६१ उन सम्पूर्ण इन्द्रियों को वश में करके मेरे परायण होकर बैठ । '**मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः** ६/१४ 'मन का संयम करके मेरे में चित्त लगाता

हुआ मेरे परायण होकर बैठ, '**मय्यासक्तमनाः**' ७/१ 'मुझ में आसक्त मन वाला हो' **अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः** ८/१४ 'अनन्य चित्तवाला जो मनुष्य मेरा निरन्तर स्मरण करता है, '**अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते** ९/२२ जो अनन्य भक्त मेरा चिन्तन करते हुए मेरी उपासना करते हैं, **'मन्मनाभव मद्भक्तो'** ९/३४ 'तू मेरा भक्त और मेरे में मन वाला होजा, **'मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः'**११/५५ 'जो मेरे लिये ही कर्म करने वाला, मेरे ही परायण और मेरा ही भक्त है', **'मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय'** १२/८, 'तू मेरे में मन को लगा और मेरे में ही बुद्धि को लगा', **'मत्कर्मपरमो भव'** १२/१० 'मेरे लिये कर्म करने के परायण होजा' ; **'मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते'** १४/२६ 'जो मनुष्य अव्यभिचारी भक्तियोग के द्वारा मेरा सेवन करता है । इस प्रकार भगवान ने बारम्बार शरणागति के लिये उपदेश किया है ।

(३) अपूर्वता : शरणागति के विषय में अर्जुन को भगवान ने अपने हृदय की गोपनीय अलौकिक बातें बतायी हैं । जैसे शरणागत भक्त को अपने उद्धार के लिये कुछ भी करना नहीं पड़ता । **'योगक्षेमं वहाम्यहम्'** ९/२२ भक्तों के योगक्षेम को मैं वहन करता हूँ । **ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते'** १०/१० मैं अपनी ओर से ही भक्तों को समता ज्ञान देता हूँ । जिससे वे मुझे प्राप्त हो जाते हैं, **'नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता'** १०/११ 'मैं स्वयं भक्तों के अज्ञानजन्य अन्धकार को ज्ञान प्रकाश कर नाश कर देता हूँ । **'तस्याहं सुलभः'** ८/१४; भक्तों के लिये मैं सुलभ हूँ, **'तेषामहं समुद्धर्ता मृत्यु संसारसागरात्'** १२/७ ''मैं स्वयं भक्तों का मृत्यु–संसार से उद्धार करने वाला बन जाता हूँ आदि अपूर्वता बतायी गयी है ।

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः ।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं सन्तरिष्यसि ।। ४/३६

समस्त पापियों से भी अधिक पाप करने वाला होने से भी मेरे ज्ञान नौका द्वारा निःसन्देह तू पार हो जावेगा ।

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते ।
तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति ।।३८।।

इस मनुष्यलोकमें ज्ञानके समान पवित्र करनेवाला निःसन्देह दूसरा कोई साधन नहीं है । जिसका योग भली भाँति सिद्ध हो गया है, (वह कर्मयोगी) उस तत्त्वज्ञानको अवश्य ही स्वयं अपने–आपमें पा लेता है ।

यत्र तत्र मृतो ज्ञानी येन वा केन मृत्युना ।
यथा सर्वगतं व्योम तत्र तत्र लयं गतः ।। पैंगल उप. ४/१९

व्याख्या : जिस तत्त्वज्ञानको पानेके लिये कर्मोंका त्याग करके अनुभवी और शास्त्रज्ञ महापुरुषकी शरणमें जाना पड़ता है (गीता ४/३४), वही तत्त्वज्ञान कर्मयोगीको सब कर्म करते हुए अपने–आपमें ही प्राप्त हो जाता है । तत्त्वज्ञानके लिये उसे कहीं जाना नहीं पड़ता, कोई दूसरा साधन नहीं करना पड़ता ।

ज्ञानी कहीं भी और कैसे भी देह त्याग करे, वह ब्रह्म में ही मिलजाता है क्योंकि जैसे आकाश सर्वत्र है वैसे ही ब्रह्म भी सर्वव्यापी है ।

(४) फल : शरणागति का फल भगवान ने अपनी प्राप्ति बताया है ; जैसे मेरे को यज्ञों और तपों का भोक्ता और सम्पूर्ण लोकों का महान् ईश्वर मानकर भक्त परम शान्ति को प्राप्त हो जाता है – **'शान्तिमृच्छति** ५/२९, मेरे लिये ही कर्म करने वाला भक्त मेरे को प्राप्त हो जाता है '**स मामेति'** ११/५५ मेरे लिये कर्म करता हुआ तू सिद्धि को अर्थात् मुझ आत्मा को प्राप्त हो जायगा – **'सिद्धिमवाप्स्यसि'** सम्पूर्ण बन्धनों से मुक्त होकर तू मेरे को ही प्राप्त हो जायगा – **'विमुक्तो मामुपैष्यसि'** ९/२८; पाप योनि आदि भी मेरा आश्रय लेकर परमगति को प्राप्त हो जाते हैं अर्थात् मुझ आत्म ब्रह्म को प्राप्त हो जाता है । **'तेऽपि यान्ति परां गतिम्'** ९/३२; 'मेरी कृपा से शाश्वत अविनाशी पद को मेरे भक्त प्राप्त हो जाते हैं, **'तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः'** १३/२५ जो मन्द बुद्धिवाले तत्त्वके जाननेवाले पुरुषों से सुनकर ही तदनुसार उपासना

करते हैं वे मृत्युरूप संसार–सागर को निःसन्देह तर जाते हैं । **'मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम्'** १८/५६ ; तू केवल मेरे शरण में हो जा, मैं तुझे सम्पूर्ण पापों से मुक्त कर दूँगा – '**अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि'** १८/६६ आदि अनेकों स्थानों पर शरणागति का फल दर्शाया है ।

(५) अर्थवाद : अपने भक्तों की अनेकों स्थानों पर प्रशंसा की है । जैसे **'स मे युक्ततमो मतः'** ६/४७, सम्पूर्ण योगियों में मेरा भक्त सर्व श्रेष्ठ है । **'ते मे युक्ततमा मताः'** १२/२ श्रद्धावान् भक्त मेरे मत में सर्वश्रेष्ठ योगी है । **'तेऽतीव मे प्रियाः'** १२/२० मेरे में श्रद्धा रखने वाले और मेरे परायण हुए भक्त मुझे अत्यन्त प्रिय हैं **'स सर्ववित्'** १५/१९ जो मुझे पुरुषोत्तम जान लेता है,वह सर्ववित् हो जाता है ।

प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मे प्रियः। गीता : ७/१७

ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम् । गीता : ७/१८

मामेवैष्यत्यसंशयः ।। गीता : १८/६८

न च तस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः ।
भविता न च मे तस्मादन्यः प्रियतरो भुवि ।। १८/६९

(६) उपपत्ति : शरणागत भक्त को विश्वास दिलाया कि तू मेरे कृपा से अच्छी तरह सम्पूर्ण विघ्न एवं बाधाओं को तर जायगा और यदि अहंकार वश मेरी बात नहीं मानेगा तो तेरा पतन हो जायगा **'न श्रोष्यसि विनङ्क्ष्यसि'** १८/५८, **पापमवाप्स्यसि** २/३३, ब्रह्म लोक पर्यन्त जाकर भी साधक लौट कर पुनः मर्त्यलोक में आते ही है पर मेरे भक्त फिर लौट कर नहीं आते हैं । यदि तू मेरी बात नहीं मानेगा व यह धर्म युद्ध नहीं करेगा, तो तू पाप को प्राप्त होगा ।

मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते । गीता : ८/१६

अर्जुन द्वारा शरणागति

असतो मा सद्गमय !
तमसो मा ज्योतिर्गमय !!
मृत्योर्माऽमृतं गमय !!! बृहद.उप. १/३/२८

मुमुक्षु अपने कल्याण की इच्छा से सद्गुरु से प्रार्थना करता है कि हे मेरे गुरुदेव ! आप मुझे धर्म, शान्ति, मुक्ति और परमात्मा के नाम पर प्रचलित, कल्पित, मिथ्या, अन्धविश्वासों के मार्ग से वैराग्य दिलाकर धर्म, शान्ति, मुक्ति व परमात्मा के सत्य मार्ग पर चलाने की कृपा करें ।

हे गुरुदेव ! आप मुझे अज्ञान अन्धकार रूप भेद बुद्धि से निकाल कर अखण्ड परमात्मा का ज्ञान कराने की कृपा करें, जिसके फल स्वरूप में अन्य जीवों के प्रति ऊँच–नीच जाति भेद, भाषा भेद, सम्प्रदाय भेद, तथा ईश्वर भेदभाव मन से हटाकर सभी के प्रति एक परमात्म सत्ता का अनुभव कर परस्पर प्रेम पूर्वक, निर्भयता पूर्वक एवं शान्ति पूर्वक जीवन व्यतीत कर सकूँ।

हे गुरुदेव ! आप मेरे मन से, इस अनात्म शरीर से मैं भाव सर्वथा भुलाकर अमृत स्वरूप आत्मा का दृढ़ बोध कराने की कृपा करें, ताकि मेरे मन से जन्म–मृत्यु का भय सदा के लिये समाप्त हो सके ।

कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः पृच्छामि त्वां धर्मसम्मूढचेताः ।
यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम् ।।

– गीता : २/७

हे प्रभो ! कायरता रूप दोष से तिरस्कृत स्वभाव वाला और जन्म–मृत्यु, धर्म–अधर्म, आत्मा–अनात्मा, शव–शिव, जड़–चेतन, दृष्य–द्रष्टा, उचित–अनुचित, कर्तव्य–अकर्तव्य, बन्ध–मोक्ष के विषय में मोहित अन्तःकरण वाला मैं आप से पूछता हूँ कि जो निश्चित कल्याण करने वाला ज्ञान है, वह मेरे लिये बताइये । मैं आपका शिष्य हूँ, अतः मुझे आत्मा–अनात्मा, क्षेत्र–क्षेत्रज्ञ, जड़–चेतन, दृश्य–द्रष्टा तत्त्व का सरल सुगम युक्तियों से बोध कराने की कृपा करें, जिससे मैं अहंता–ममता रूप केन्सर रोग से मुक्त हो सकूँ ।

भगवान द्वारा उपदेश

अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे ।
गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः ।। गीता : २/११

हे अर्जुन ! तू न शोक करने योग्य नाशवान् देह के लिये शोक करता है और पण्डितों जैसे वचनों को कहता है ; परन्तु जिनके प्राण चले गये हैं, उनके लिये और जिनके प्राण नहीं गये हैं उनके लिये भी पण्डित जन शोक नहीं करते हैं ।

नाहं देहो जन्म मृत्यु कुतो मे
नाहं प्राणः क्षुत्पिपासे कुतो मे ।
नाहं चेतः शोक मोहौ कुतो मे
नाहं कर्ता बन्ध मोक्षौ कुतो मे ।। – ६ सर्वसार उप.

अतः हे आत्मन् तू ऐसा विचार कर कि मैं देह नहीं हूँ, फिर मुझे जन्म–मरण कहाँ है ? मैं प्राण नहीं तो भूख–प्यास मुझे कहाँ ? मैं मन नहीं तो शोक–मोह मुझे कैसे हो सकते हैं ? मैं कर्ता–भोक्ता नहीं हूँ तो मुझे बन्ध–मोक्ष भी नहीं है । यदि तू अपने को देह मानकर मृत्यु से भयभीत होता है तो यह तेरी नासमझी है ।

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च ।
तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि ।।२/२७

क्योंकि जन्में हुए की मृत्यु निश्चित है और मरे हुए का जन्म निश्चित है । जब तक जीव अपने अजन्मा–अविनाशी आत्म स्वरूप को

नहीं जान पाता है, तब तक यह जन्म–मृत्यु क्रम चलता ही रहता है । अतः इस अटल नियम के अनुसार मृत्यु भय छोड़कर केवल अपने कल्याण सम्बन्धी नूतन कर्म करने हेतु प्रयत्न करने में तू पूर्ण स्वतन्त्र है ।

ज्ञानी जन जन्मने वाले के लिये हर्षवान् नहीं होते हैं, क्योंकि वह जानते हैं कि यह एक दिन मरने वाला ही है तथा मरने वाला पूर्व जन्म या इस जन्म के कर्मों का फल भोगने केलिये तथा अपने कल्याण सम्बन्धी नूतन कर्म करने हेतु पुनः जन्म लेने वाला ही है । अतः इस मृत धर्मी शरीर के लिये तेरा इस प्रकार शोक करना उचित नहीं है। यह जन्म, मृत्यु प्रवाह तो अनादि काल से चला आ रहा है । इस अनादि प्रकृति के अटल नियम का निवारण करने में कोई भी समर्थ नहीं है । जब जीव अपने सच्चिदानन्द स्वरूप को जान लेता है, तभी उसके लिये इस प्रवाह का परिहार हो जाता है । अन्यथा यह सृष्टि चक्र अनन्त काल तक चलता ही रहेगा ।

जैसे दिन होता है, तो रात होने के लिये एवं रात होती है तो वह दिन होने के लिये यह प्रवाह अनादि काल से जैसे चला आ रहा है, इसी प्रकार देह का आवागमन भी आत्मबोध होने के पूर्व अपरिहार्य ही है ।

आकर चार लक्ष चौरासी, जोनि भ्रमत यह जीव अविनाशी ।

हे अर्जुन तुझे – विचार करना चाहिये की जब अनादि काल से इस जीवात्मा ने चौरासी लाख योनियाँ छोड़ते हुए इस शरीर को प्राप्त किया है तो फिर यह शरीर भी सदा कैसे रह सकेगा ? और जब चौरासी लाख योनियों के असहनीय कष्टों, रोगों एवं उनके नाश होने पर भी यह जीव मृत नहीं हुआ है तो फिर अब मृत्यु का भय कैसा ? यह विवेक भी मनुष्य शरीर में ही हो सकता है, अन्य शरीरों में तो यह विवेक भी जाग्रत नहीं हो सकता ।

बालि की मृत्यु हो जाने पर उसकी पत्नी तारा को रोते देख भगवान् श्रीराम ने उसको यही ज्ञान दिया था ।

तारा विकल देखी रघुराया । दीन्ह ज्ञान हर लीन्हीं माया ।
छितिजल पावक गगन समीरा । पंच रचित अति अधम शरीरा ।
प्रकट सो तनु तव आगे सोवा । जीव नित्य तुम केहि लगि रोवा ।
उपजा ज्ञान चरन तब लागी । लीन्हेसि परम भगति बरमागी ।।

अस्तु

शोक उसी का कीजिये, जो अनहोनी होय ।
अनहोनी होती नहीं, होनी है सो होय ।।

देहिनोऽस्मिन्यथा देहे कौमारं योवनं जरा ।
तथा देहान्तर प्राप्ति र्धीरस्तत्र न मुह्यति ।।२/१३।।

देहधारी जीव के इस स्थूल शरीर में जैसे बालपन, जवानी और वृद्धावस्था होती है, ऐसे ही जीवात्मा को इस शरीर की मृत्यु के बाद संचित् कर्मों के अनुसार दूसरे शरीर की प्राप्ति होती है । इसलिये जन्म-मृत्यु विषय में ज्ञानी जन मोहित नहीं होते हैं ।

जैसे धनुषधारी धनुष से पृथक् है, मुरलीधारी मुरली से पृथक् है त्रिशूलधारी त्रिशूल से पृथक् है, इसी प्रकार देहधारी जीवात्मा देह से सर्वथा पृथक् है ।

जैसे बाल्यावस्था से किशोर अवस्था, किशोर अवस्था से यूवा अवस्था होने पर कोई शोक नहीं किया जाता है, इसी तरह इस देह त्याग के बाद दूसरे देह के धारण करने पर भी शोक नहीं होना चाहिये तथा बदलने वाले शरीर में मोह आसक्ति भी नहीं करना चाहिये । जैसे सर्प कैचुली का त्याग कर उसमें मोह नहीं करता है ।

जिस ज्ञानी को जड़-चेतन, दृश्य-द्रष्टा, अनात्मा-आत्मा, शव-शिव, परप्रकाश-स्वयंप्रकाश, अनित्य-नित्य, असत्-सत्, विकारी-अविकारी का भेद ज्ञान हो जाता है, वह कभी भी विनाशी देह के प्रति मोहित नहीं होता है । जैसे घटका द्रष्टा घटसे भिन्न है, इसी तरह देह का द्रष्टा देही, आत्मा देह से भिन्न है । इस प्रकार विवेकी को उसको अपनी असङ्गता व अखण्डता का ज्ञान बना रहता है ।

गर्भ से बाहर आते ही शरीर के मरने का क्रम प्रारम्भ हो जाता है । बाल्यावस्था मर जाय तो युवावस्था आजाती है, युवावस्था मर जाय तो वृद्धावस्था आ जाती है और वृद्धावस्था मर जाय तो दूसरे शरीर की प्राप्ति हो जाती है । बल्कि एकसाथ ही दोनों घटना होती रहती है, जैसे बाल, नाखुन, काटते ही वे बढ़ते भी रहते है । दिन होते ही रात्रि शुरु हो जाती है । रात्रि होते ही दिन होने का घटना शुरु हो जाता है ।

बाल, यूवा, वृद्धा ये तीन अवस्थाएं स्थूल शरीर की होती है तथा एक देह का त्याग कर दूसरे देह में प्रवेश करना सूक्ष्म व कारण शरीर का धर्म है । परन्तु अपना आत्म स्वरूप इन सभी अवस्थाओं से अतीत है । जीव भी ८४ लाख योनियों में जाता है किन्तु किसी शरीर में वह आसक्त नहीं होता है । यदि जीव आसक्त हो जाय तो स्वर्ग–नरक फिर कौन भोगेगा ? मुक्त कौन हो सकेगा ?

शरीर जीव के आधीन है किन्तु जीव शरीर के आधीन नहीं है । शरीर को 'मैं' तथा देह संघात् की क्रियाओं को 'मेरा' मान लेने से जीवात्मा को अनेक शरीर धारण करना पड़ता है ।

न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः ।
न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम् ।।२/१२

हे जीवात्मा ! ऐसा कभी नहीं हुआ कि किसी काल में मैं नहीं था और तू भी नहीं था तथा ये राजा लोग, संसारी जीव नहीं थे और इसके बाद भविष्य में मैं, तू और ये सब दुनियाँ के लोग नहीं रहेंगे । क्योंकि जीव की कभी मृत्यु नहीं होती एवं देह की स्थिति कभी एक जैसा नहीं रहती ।

नित्य तत्त्व सर्वदा नित्य ही है । अखण्ड होने से उसका कभी अभाव नहीं होता है । जब हमारे, तुम्हारे और इन संसारी लोगों का वर्तमान वाला शरीर उत्पन्न नहीं हुआ था, तब भी भूत काल में हम सब किसी न किसी अन्य शरीर में विद्यमान् थे । जब यह वर्तमान शरीर प्रारब्ध भोग पर समाप्त हो जावेगा, तब भी हम सब कर्मानुसार किसी अन्य शरीर में रहेंगे । इस प्रकार शरीर तो अनित्य क्षणभंगुर सिद्ध होता

है किन्तु जीव नित्य सिद्ध होता है । अनेको युग, कल्प बीत जावे, अनेकों प्रलय हो जावें किन्तु यह परमात्मा का अंश जीव नित्य विद्यमान् रहता है । इसका नाश कभी नहीं होता है । जैसा कि भगवान का कथन है **''ममैवांशो जीव लोके जीव भूतः सनातनः''** १५/७

'ईश्वर अंश जीव अविनाशी, चेतन अमल सहज सुख राशी'

–रामायण

उपरोक्त दो बातों से यह सिद्ध होता है कि जो आदि में अर्थात् प्रारम्भ में होता है वह यदि अन्त में भी रहता है तो फिर बीच में उसकी प्रतीति न होने पर भी वह अवश्य ही रहता है जैसे मैं आत्मा। तथा जो आदि व अन्त में नहीं रहता वह मध्य में दीखने पर भी नहीं होता । जैसे यह हमारा शरीर उत्पन्न से पूर्व तथा नाश के पश्चात् नहीं रहता है, तब जीवन काल में दिखाई पड़ने पर भी वह स्वप्नवत् मिथ्या ही है ।

आदावन्ते च यन्नास्ति वर्तमानेऽपि तत्तथा

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः ।

उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः ।। २/१६

हे आत्मन् ! असत् पदार्थ की तो तीनों कालों में सत्ता ही नहीं है तथा सत् वस्तु आत्मा का कभी अभाव सिद्ध नहीं होता है । इन देह–देही, शव–शिव, शरीर–शरीरी, सत्–असत्, जड़–चेतन, क्षेत्र–क्षेत्रज्ञ, रथ–रथी, आत्मा–अनात्मा, प्रकृति–पुरुष, दृश्य–द्रष्टा तत्त्व के भेद को जानने वाले महापुरुषों ने इसका निचोड़ निकाला है कि चेतन, द्रष्टा, क्षेत्रज्ञ, स्वयंप्रकाश, मैं, आत्मा सत्–तत्त्व ही सदा विद्यमान् रहता है । जो दृश्य पदार्थ या व्यक्ति अनित्य है वह भी यहाँ सब प्रतिक्षण बदल कर ही प्राप्त होता है।

यह प्रकृति नियम है कि कोई भी मां अपने जन्मजात बच्चे को दूसरी बार दुग्ध पान नहीं करा सकती, न वही बच्चा अपनी जन्मदात्री माँ का दूसरे बार दुग्ध पान कर पाता है । कोई भी पुरुष अपनी उसी पत्नी को या कोई भी स्त्री अपने उसी पति को दूसरे बार आलिंगन नहीं कर सकते । कोई

भी तैराक उसी नदी में दूसरे क्षण स्नान नहीं कर पाता है, कोई भी उसी व्यक्ति या पदार्थ को दूसरी बार प्राप्त नहीं कर सकता है । क्योंकि यहाँ दोनों तरफ से साथ–साथ प्रकृति में परिवर्तन होता जा रहा है ।

'नासतो विद्यते भावः' शरीर–उत्पत्ति के पूर्व भी नहीं था, मरने के बाद भी नहीं रहेगा और वर्तमान में भी इसका प्रतिक्षण परिवर्तन याने नाश हो रहा है । इसलिये कोई भी शरीर या पदार्थ को हम, बस एक ही बार, एक ही क्षण को देख पाते हैं । दूसरी बार कोई भी उसी पदार्थ को दूसरे क्षण में नहीं देख सकेगा । क्योंकि दिखाई पड़ने वाला पदार्थ एवं देखने वाला शरीर, प्राण, इन्द्रियाँ–मन–बुद्धि सभी बदलते जा रहे हैं । जिनसे हम देखते, अनुभव करते हैं वे सब नेत्र, श्रोत्र या मन, बुद्धि करण संसार के ही हैं ।

'ना भावो विद्यते सतः' जो सत वस्तु है उसका कभी नाश याने अभाव नहीं होता । देह उत्पन्न नहीं हुआ था तब भी देही जीवात्मा था, देह नष्ट होने पर भी जीवात्मा रहता है और वर्तमान शरीर में छः विकार होने पर भी जीवात्मा में कोई परिवर्तन नहीं होता है । वह समस्त परिवर्तनों के बीच में भी ज्यों का त्यों विद्यमान रहता है ।

अस्ति भाति प्रियं रूपं नाम चेत्यंशपञ्चकम् ।
आद्य त्रयं ब्रह्मरूपं जगद्रुपं ततो द्वयम् ।।

– ५८ सरस्वती रहस्य उप.

संसार के प्रत्येक पदार्थ में अस्ति, भाति, प्रिय अधिष्ठान ब्रह्म रूप तीन अंश है एवं अध्यस्त नाम, रूप यह दो अंश जगद्रूप है । जैसे नाम, रूप अलंकार परिवर्तनशील है किन्तु अधिष्ठान स्वर्ण एक मात्र सत्य है उसका तीन काल में अभाव अथवा नाश नहीं होता है । इसी तरह देही आत्मा सत्य वस्तु है एवं नाम, रूप, देह एवं समस्त दृश्य जगत् असत् सत्ताहीन ही जानो ।

कार्यकारणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते ।
पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते ।। गीता : १३/२०

दूसरी बात शरीर–इन्द्रियाँ–मन–बुद्धि के बिना तो चेतन–स्वरूप जीवात्मा कुछ नहीं कर सकता । इससे सिद्ध हुआ कि क्रिया व पदार्थ संसार में ही है । असंग आत्म स्वरूप का क्रिया से कोई सम्बन्ध नहीं है ।

अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम् ।

विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्तुमर्हति ।। गीता : २/१७

हे आत्मन् ! अविनाशी अर्थात् सत् पदार्थ तो उसी को जानना चाहिये जिससे यह परिवर्तनशील सम्पूर्ण संसार व्याप्त है । इस दृश्य संसार में वह अव्यक्त परमात्मा ही अधिष्ठान रूप से विद्यमान है, लेकिन यह आत्म तत्त्व मन, बुद्धि, नेत्रादि इन्द्रियों का विषय नहीं है । इसलिये यहाँ आत्मा को 'उसको जान' **'तमेव शरणं गच्छ'** १८/६२ इस तरह परोक्ष रूप में कहा है । किन्तु वह बहुत दूर है अथवा अप्राप्त है, इस अभिप्राय से 'उसको जान', अथवा 'प्राप्त कर' इस शब्द का प्रयोग नहीं किया है ।

इसी अपरोक्ष आत्मा के द्वारा अर्थात् 'मैं' रूप आत्मा के द्वारा यह सब संसार 'येन सर्वमिदं ततम्' नित्य तत्त्व से व्याप्त है । जैसे सूत से बने कपड़ों में सूत, स्वर्ण से बने हुए अलंकारों में स्वर्ण, लोह से बने ओजारों, मशीनों में लोह, लकड़ी से बने सामानों में लकड़ी, मिट्टी से बने मकानों, बर्तनों, मूर्तियों, खिलोनों में मिट्टी, जल से बने हुए बर्फ, भाप, लहर, फेन, कुहरा आदि में जल ही एक मात्र विद्यमान है । इसी तरह दृश्य अथवा अदृश्य सम्पूर्ण पदार्थों में यह सत्–तत्त्व ही व्याप्त है । अतः वस्तु के कारण रूप सत्–तत्त्व को ही हमें जानना चाहिये । कपड़े, अलंकार, मशीने, फर्नीचर, बर्तन, मूर्तियाँ, बर्फादि नाम–रूप तो कार्य रूप होने से कल्पित एवं असत् ही हैं । यह सब कार्य तो बनने से पूर्व नहीं थे, आकृति नष्ट हो जाने पर भी यह सब कार्य नहीं रहेंगे । वर्तमान में जो नाम–रूप अध्यस्त हमें दिखाई पड़ते हैं वे सब भी नहीं है, क्योंकि प्रतिक्षण नष्ट होते जा रहे हैं । किन्तु इन सब अध्यस्त पदार्थों में जो मूल धातु है वह 'है' रूप से अधिष्ठान सत्ता है, वह तो ज्यों कि त्यों ही है ।

'सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्' छान्दोग्य.उप. ६/२/३

हे सोम्य ! सृष्टि के आदि में नाम, रूप से प्रथम एक मात्र अधिष्ठान अस्ति, भाति, प्रिय ब्रह्म ही था, वही सत्य है, नाम, रूप विकार तो वाणी पर अवलम्बित मात्र है ।

जैसे यह मनुष्य 'है', यह पशु 'है', यह अलंकार 'है', यह मकान ''है'', यह वृक्ष ''है''इन सबके आकार, नाम तो अलग-अलग है किन्तु सब में 'है' एक ही रहा । इसी तरह मैं मनुष्य हूँ, मैं देखता हूँ, मैं जीव हूँ, मैं बालक हूँ, मैं यूवा हूँ, मैं वृद्ध हूँ आदि में शरीर तो अलग-अलग है, किन्तु सब में 'मैं हूँ' या 'है' तो एक ही बना रहता है ।

मैं नित्य एकरस असंगात्मा हूँ, '**असंगो ह्ययं पुरुषः**' । मैं सत्ता की सिद्धि या प्राप्ति के लिये किसी प्रकार के साधन करने की किंचित् भी आवश्यकता नहीं है । जो कुछ भी यम, नियम, आसन, प्राणायाम, धारणा, ध्यान, समाधि साधन किये जाते हैं वह सब मैं ऐसा हूँ, मैं वेसा हूँ, मैं यह हूँ, मैं वह हूँ के दिखाने, कहलाने के लिये हैं । 'मैं हूँ' के विवेक ज्ञान अनुभूति के लिये कुछ भी साधन करना नहीं पड़ता । मैं हूँ का बोध सभी को सहज और सब समय होता रहता है ।

अरे भाई ! कुछ करो, अथवा न करो किन्तु मैं हूँ यह सहज ज्ञान, सहज विवेक हर काल, हर अवस्था में प्रत्येक जीव को स्वाभाविक बना ही रहता है । इसका अनुभव सब स्थूल, सूक्ष्म देह उपाधि शून्य केवल ''मैं हूँ'' इस भाव में टिक कर करो । ऐसा हूँ, वैसा हूँ, यह हूँ, वह हूँ रूप में टिकने का प्रयास ना करो । मैं को द्रष्टा, साक्षी, आत्मा, ब्रह्म आदि कुछ भी मत मानो । आप अपने को कुछ मानकर अपने सत्य स्वरूप, सहज स्वरूप का त्याग कर अपनी बनाई हुई मान्यता, धारणा में टिकते हो । यह अनित्य में टिकना तो सत्य से हट कर मिथ्या माया में टिकना है जानकर टिकेगे तो आत्मा ही दिखेगा । 'मैं हूँ इस केवली भाव में टिकना तो ब्रह्म में टिकना हैं, भगवान में टिकना है ।

मैं ऐसा हूँ, मैं वैसा हूँ, मैं ऐसा बनकर रहूँगा इस माया में तो जन्मों जन्मों से पड़े दुःख पा रहे थे, इसके तो तुम स्वयं अनुभव कर्ता साक्षी आत्मा हो ही । सोचो, विचारो कि अब तक अपनी कल्पित मान्यता में टिकने से क्या सुख पाया ? अब केवल 'मैं हूँ' भाव में कुछ दिन टिक कर देखलो और जानलो कि अब तुम्हें क्या होना, पाना, देखना, जानना बाकी रह जाता है ? दोनों अवस्थाओं का अनुभव यहीं कर देखलो ।

मैं पर जो भी ऐसा, वैसा, यह वह का पर्दा ढका तो वह परमात्मा से अलग होना ही है । इस प्रकार माया में अभिमान करना बन्धन का ही हेतु है । अपने शुद्ध ''मैं'' स्वरूप में अमुक मान्यता आते ही माया आगई । इस भाव का अभाव होना ही सहज रहनी है । मैं हूँ इस सहजावस्था में सर्वदा रहो, इससे अलग मत होओ, बस यही ठौंस गीता ज्ञान अथवा वेदान्त है ।

''तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च'' गीता : ८/७

सोना जैसा है, उसे वैसा ही देखना, जानना सोने की सहजावस्था है । उसे नाना नाम–रूप अलंकारों के रूप में न देखना ही यथार्थ स्वर्ण दर्शन है । बस यही सहज अवस्था है ।

इसी प्रकार संसार के प्रत्येक नाम, रूप में परमात्मा दर्शन करना ही सहजावस्था है । तो अब मन में प्रश्न होता है कि फिर हमें परमात्मा के दर्शन क्यों नहीं होते हैं ? अब इसका समाधान यह है कि दर्शन अपने से पृथक् किसी द्वितीय पुरुष का हुआ करता है । द्रष्टा द्वारा दृश्य का ही दर्शन होता है । परमात्मा से अन्य कोई द्रष्टा नहीं, तब परमात्मा को कौन देखे ? जब देखने वाला ही भगवान है, तब किसको किसका होगा भान ? एक में भान नहीं होता। यहाँ जीव–ब्रह्म, भक्त–भगवान, ज्ञानी–अज्ञानी, श्रोता–वक्ता, बन्ध–मुक्तादि उपाधि का अन्यन्ताभाव है।

याज्ञवल्क्य जी कहते है कि हे गार्गी !

यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतरं पश्यति तदितर इतर जिघ्रति तदितर इतरं रसयते तदितर

इतरमभिवदति तदितर इतरं शृणोति तदितर इतरं मनुते तदितर इतरं स्पृशति तदितर इतरं विजानाति'' ४/७/२७ बृहद्

हे मैत्रेयी ! जिस अविद्यावस्था में द्वैत सा प्रतित होता है, वहाँ पर ही अन्य, अन्य को देखता है । अन्य–अन्य को सूँघता है । अन्य–अन्य का रस लेता है । अन्य–अन्य को कहता है । अन्य–अन्य को सुनता है । अन्य–अन्य को मनन करता है । अन्य–अन्य को छूता है । अन्य–अन्य को विशेष रूप से जानता है ।

यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं पश्येत् तत्केन कं जिघ्रेत्तत्केन कं रसयेत्तत्केन कमभिवदेत्तत्केन कं शृणुयात्तकिन कं मन्वीत तत्केन कं स्पृशेत्तत्केन कं विजानीयाद्येनेदं सर्वं विजानाति तं केन विजानीयात् ।।

– ४/४/१५ बृहद. उप.

इसके विपरीत जहाँ पर इस विद्वान् की दृष्टि में सब आत्मा ही हो गया, वहाँ यह किससे किसको देखें, किससे किसको चखें, किससे किसको कहें, किससे किसको छूवें और किससे किसको जानें ? वह पुरुष जिसके द्वारा इस (दृश्य रूप) सब को जानता है, उसे भला किसके द्वारा जाने ? '**अनाशिनोऽप्रेयस्य**' यह वेद के द्वारा नेति–नेति कह कर बतलाया गया कि आत्मा अग्राह्य है, उसका ग्रहण नहीं होता और उसका विनाश भी नहीं होता ।

अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष एव च ।
नित्य: सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः ।।– गीता २/२४

यह सबका आत्म असंग है, वह कहीं पर संसक्त नहीं होता । इसलिये वह पीड़ित और क्षीण नहीं होता । हे मैत्रयी ! विज्ञाता को किससे जानें ? बस तू इतना निश्चय जान कि यह अमृतत्त्व आत्मा तू स्वयं ही है ।

जब अपने को अज्ञानावस्था में देह माना था तब भी 'मैं' हूँ । जब जीव माना था तब भी 'मैं' हूँ, जब अपने को कुछ भी नहीं मानाथा तब भी

'मैं' ही हूँ । जब अपने को ब्रह्म माना तब भी 'मैं' हूँ। जैसे थे, वैसे ही रहें । बस यह सहज रहनी, सहज समाधि है । 'मैं जैसा हूँ' इसका विवेचन जब मैं स्वयं ही नहीं कर सकता, तब अन्य कैसे कर सकेंगे ? इसीलिये वेद नेति–नेति कह कर चुप हो जाते हैं ।

जैसे 'शरीर है' तो बाल, युवा, वृद्धा परिवर्तन शरीर में होता है । अर्थात् 'है' शरीरी, आत्मा में परिवर्तन नहीं होता है। 'काठ है' तो विकृति काठ में आती है 'है' में विकृति नहीं आती है। काठ कटता है, काठ जलता है, काठ गीला होता है, काठ सूखता है किन्तु इन सब काठ के परिवर्तनों में 'है' ज्यों का त्यों ही बना रहता है । 'है' न कटता है, न जलता है, न भीगता है और न सूखता है । देह एक रूप रहता नहीं तथा ''है'' आत्मा अनेक रूप होती नहीं ।

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः ।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः ।। २/२३

इस जीवात्मा शरीरी को किसी भी प्रकार के शस्त्र द्वारा काटा नहीं जा सकता, अग्नि इस शरीरी जीवात्मा को जला नहीं सकती । जल इस जीवात्मा को गीला नहीं कर सकता और वायु इस जीवात्मा को सुखा नहीं सकती, क्योंकि यह शरीरी जीवात्मा शरीर से पूर्णतया असंग है **'असङ्गो ह्ययं पुरुषः'**बृहदा.उप. ४/३/१५

यह आत्मा अप्राकृत है । पंचभूत से बने अस्त्र–शस्त्र, अग्नि, वायु, जलादि उन्हीं वस्तु को नष्ट कर सकते हैं, जो वस्तु एवं शरीर इन पंच भूतों से निर्मित हुए हैं। आत्मा आकाश, वायु, तेज, जल, पृथ्वी इन पंचभूतों से निर्मित नहीं हुआ है इसलिये उसे किसी प्रकार के भौतिक साधन द्वारा नष्ट नहीं किया जा सकता ।

इस आत्मतत्त्व तक यह सूर्य, चन्द्र, तारागण, विद्युत, अग्नि तक की पहुँच नहीं है । इस आत्मा के प्रकाश से ही यह सब प्रकाशित होते हैं ।

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्र तारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः ।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ।।

२/२/१० मु.उप.

पंचभूतों में आकाश निष्क्रिय है उससे ही वायु, तेज, जल तथा पृथ्वी की उत्पत्ति हुई है, वह सबको अवकाश देता है । यह चारों भूत अपने अधिष्ठान, आधार आश्रय रूप आकाश की किसी प्रकार क्षति नहीं कर सकते, तब देह प्रकृति से सर्वथा अतीत आत्मा तक यह सूर्य, चन्द्र, तारा, विद्युत तथा अग्नि आदि पहुँच ही कैसे सकते हैं ? '**देहेऽस्मिन्पुरुषः परः**' १३/२२

इन आत्मदेव परमात्मा के शासन में रहने वाले सूर्यादि देवता यदि अपना अपना काम न करे तो एक क्षण भी कोई प्राणी जीवित नहीं रह सकता । सबके जीवनाधार सचमुच वे आनन्द स्वरूप आत्मा ही है

– तैतिरीय उप. भृगु बल्ली, षष्ठ अनुवाक ।

'हरि व्यापक, सर्वत्र समाना'

यह देही आत्मा 'नित्य' निरन्तर रहने वाला है । उसका किसी काल में अभाव नहीं होता है । यह व्यापक 'सर्वगतः' होने से हर देश में रहता है । इसका किसी देश में अभाव नहीं होता है । यह गमनागमन से रहित 'अचल' है । यह अनादि से अनन्त काल तक एक समान ही रहता है, इसलिये 'सनातन' कहा जाता है ।

देश काल विदेशहु माही,
कहहूँ सो कहाँ जहाँ प्रभु नाही ।। रामायण

इस प्रकार यहाँ एक ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं है । फिर भी अज्ञानी जीव परमात्मा की प्रकृति शक्ति द्वारा होने वाले कर्मों को अपने द्वारा किया हुआ मान मिथ्या अभिमान करलेता है ।

जैसे एक बार परब्रह्म पुरुषोत्तम ने देवों पर कृपा करके उन्हें शक्ति प्रदान की, जिससे उन्होंने असुरों पर विजय प्राप्त की । यह विजय वस्तुतः तो भगवान की ही थी, देवता तो निमित्त मात्र थे । परन्तु असुरों

पर विजय प्राप्त करने में देवताओं को अपनी शक्ति का घमण्ड हो गया एवं उन्हें भगवान् की कृपा से शक्ति प्राप्त हुई है इस ओर उनकी श्रद्धा एवं ध्यान नहीं गया ।

देवताओं के मिथ्या अभिमान को नाश करने के लिये भगवान स्वयं एक दिव्य साकार यक्ष रूप में प्रकट हो गये । इन्द्र सभा में उपस्थित देवता उस अत्यन्त अद्भुत विशाल रूप को देख विचार करने लगे कि यह दिव्य यक्ष कौन है ? जाकर इससे इसका परिचय लें । तब देवताओं ने परम तेजस्वी अग्नि देव को सर्व प्रथम यक्ष के पास भेजा ।

अग्नि देवता के पहुँचने पर यक्ष रूप भगवान ने पूछा कि आप कौन है ? अग्नि देव ने क्रोधित होकर कहा–मुझे आप नहीं जानते हैं की मैं अग्नि देव हूँ । मैं सम्पूर्ण पृथ्वी को भस्म कर सकता हूँ । यह सुनकर यक्ष ने एक तिनका उसके सम्मुख दिखाकर कहा कि जरा इसे जलाकर दिखा दीजिये । अग्नि देवता ने अपनी पूरी शक्ति लगा कर भी उस यक्ष द्वारा गिराये हुए तिनके को जला न सका, तब वह वहाँ से लज्जित होकर इन्द्र की सभा में चुपचाप जाकर बैठ गया ।

इसके बाद वायु देव ने सोचा मेरे सिवाय इसका पता कौन लगा सकेगा । ऐसा मन में अभिमान कर वायु देव यक्ष के सम्मुख खड़े हो गये । यक्ष ने वायु से पूछा – कि आप कौन है ? उसने भी अग्नि की तरह घमण्ड से कहा मैं वायु देवता हूँ समस्त पृथ्वी को उठा सकता हूँ और उड़ा सकता हूँ । तब यक्ष रूप ब्रह्म ने अग्नि देव की तरह उसे एक तिनका उड़ा देने के लिये कहा । तब वायु ने भी अग्नि देव की तरह अपनी पूरी शक्ति लगादी किन्तु उस छोटे से घास, पुआल के टुकड़े को उड़ा नहीं सका व लज्जित हो देव सभा में जा बैठा । फिर देवताओं ने इन्द्र देव से प्रार्थना की हे भगवान् ! आप ही इस यक्ष का पता लगाइये कि यह दिव्य यक्ष कौन है ।

इन्द्र के पहुँचने पर उसे दर्शन न देकर यक्ष रूप भगवान अदृश्य हो गये । इन्द्र का घमण्ड गिराने के लिये भगवान ने उमादेवी को प्रकट किया । यह ब्रह्म विद्या रूपी उमा देवी स्वयं ब्रह्म ही थे, कोई अन्य नहीं ।

इन्द्र ने भक्ति पूर्वक उनसे कहा – भगवती ! आप सर्वज्ञ है यह दिव्य यक्ष कौन था, जो दर्शन देकर तुरन्त छिप गया और किस हेतु से यहाँ प्रकट हुआ था ।

देवराज इन्द्र के पूछने पर भगवती उमादेवी ने कहा – जिस यक्ष को तुमने देखा वह साक्षात् परब्रह्म परमेश्वर ही थे । तुम लोगों ने जो असुरों पर विजय प्राप्त की थी वह उस ब्रह्म की शक्ति से ही की है । तुम तो निमित्त मात्र थे । अस्तु तुम्हारा मिथ्या अहंकार का नाश करने के लिये ही वे यक्ष रूप में प्रकट हुए थे ।

नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः ।। २/२४

निराकार निरवयव यह आत्मा की शक्ति से ही समस्त जीवों के हाथ, पैर, आँख, कान, मन, बुद्धि अवयव काम करते हैं वही रक्त संचार, श्वाँस क्रिया, शरीर में अवस्था परिवर्तन करा रहा है । उसकी सत्ता के बिना पत्ता भी नहीं हिलता यह बात जग प्रसिद्ध है, फिर भी जीव मैं कर्ता हूँ ऐसा मिथ्या अभिमान करता है ।

यह आत्मा नित्य रहने वाला सब में परिपूर्ण, अचल, स्थाणु अर्थात् कहीं आता जाता नहीं । शरीर के हिलने–डुलने, चलने–दौड़ने पर भी यह जरा भी चलायमान नहीं होता और अनादि है ।

अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते ।
तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि ।।२/२५

जैसे शरीर–संसार स्थूल रूप से देखने में आता है, वैसे यह देही आत्मा देखने में नहीं आता, क्योंकि यह निराकार है । मन, बुद्धि, सांसारिक विषय के चिन्तन के लिये उपयोगी हैं किन्तु यह आत्मा अशुद्ध मन, बुद्धि के चिन्तन का विषय नहीं है, क्योंकि यह आत्मा स्थूल तथा सूक्ष्म सृष्टि से रहित है ।

मनसैवेदमाप्तव्यं नेह नानास्ति किंचन ।
मृत्युोः स मृत्युं गच्छति य इह नानेव पश्यति ।।

– कठोपनिषद : २/१/११

परमात्मा शुद्ध मन से इस प्रकार जाना जा सकता है कि इस जगत् में एकमात्र पूर्णब्रह्म परमात्मा ही परिपूर्ण है । सब कुछ उन्हींका स्वरूप है । यहाँ परमात्मा से भिन्न कुछ भी नहीं है । जो यहाँ विभिन्नता की झलक देखता है, वह मनुष्य मृत्युसे मृत्युको प्राप्त होता है अर्थात् बार–बार जन्मता–मरता रहता है ।

अन्योऽसावन्योऽहमस्मीति ये विदुस्ते पशवो ।

नारद परिब्राजक उप ९/१

यह देह जन्मता, रहता, बढ़ता, यूवा, वृद्ध एवं मृत्यु को प्राप्त होता है इस प्रकार षड् विकारी है किन्तु यह आत्मा अविकारी है, इसमें यह छः विकार नहीं है । अच्छेद्य, अदाह्य, अक्लेद्य, अशोष्य, अचल, अव्यक्त, अचिन्त्य और अविकार्य इन आठ निषेध मुख से आत्मा का वर्णन किया गया है तथा नित्य, सनातन, स्थाणु, सर्वगत इन चार विद्धि मुख से वर्णन किया गया है । परन्तु आत्मा निर्विशेष होने से इसका वर्णन नहीं हो सकता । इसीलिये वेद भी आत्मा का वर्णन करने में असमर्थ पाता है एवं नेति–नेति कह वह चुप हो जाता है । जिससे वाणी प्रकाशित होती है, वाणी में बोलने की शक्ति आती है वह परप्रकाश जड़ वाणी, आत्मा को प्रकाशित नहीं कर सकती ।

न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग्गच्छति नो मनो न विद्मो न विजानीमो यथैतदनुशिष्यादन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधि । इति शुश्रुम पूर्वेषां ये नस्तद्व्याचचक्षिरे ।

– केनोपनिषद : १/३

उन सच्चिदानन्दघन परब्रह्म को प्राकृत अन्तःकरण और इन्द्रियाँ नहीं जान सकती । ये वहाँ तक पहुँच ही नहीं पाती । उस अलौकिक दिव्य तत्त्वमें इनका प्रवेश ही नहीं हो सकता । बल्कि इनमें जो चेतना और क्रिया प्रतीत होती है, यह उसी ब्रह्म की प्रेरणा से और उसीकी शक्ति से होती है । ऐसी अवस्था में मन–इन्द्रियों के द्वारा कोई कैसे बतलाये कि वह ब्रह्म 'ऐसा है' । इस प्रकार ब्रह्मतत्त्व के उपदेश का कोई तरीका

न तो हमने किसी के भी द्वारा समझा है और न हम स्वयं अपनी बुद्धि से ही विचार के द्वारा समझ रहे हैं । हमने तो जिन महापुरुषों से इस गूढ़ तत्त्वका उपदेश प्राप्त किया है, उनसे यही सुना है कि वह परब्रह्म परमेश्वर जड़–चेतन दोनों से ही भिन्न है– जानने में आनेवाले सम्पूर्ण दृश्य जड़–वर्ग क्षर से तो वह सर्वथा भिन्न है और इस जड़–वर्ग को जानने वाले चेतन जीवात्मा (अक्षर) से भी उत्तम है । **अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ।** (गीता १५/१८) अर्थात् उसे लोको एवं वेद में पुरुषोत्तम नाम से कहा जाता है । ऐसी स्थिति में उसके स्वरूप तत्त्व को समझाने के लिये सांकेतिक शब्दों का ही आश्रय लेना पड़ता है ।

ब्रह्मरूप पहिचानो साधो
ब्रह्मरूप पहिचानो रे ।।

कान ब्रह्म नहीं, शब्द ब्रह्म नहिं
कान उसे नहिं सुनता रे ।
ब्रह्म रूप तुम जानो उसको
जो कानों मे सुनता रे ।।

आँख ब्रह्म नहीं रूप ब्रह्म नहीं
आँखों से नहीं दिखता रे ।
ब्रह्म रूप तुम जानो उसको
जो आँखों से देखत रे ।।

वाणी ब्रह्म नहीं मन्त्र ब्रह्म नहीं
जप करी करी हारे रे ।
वाणी जिससे प्रकाशित होय
ब्रह्म कहावत् सोय रे ।।

प्राण ब्रह्म नहीं, अपान ब्रह्म नहीं
ध्यान समाधि में नहीं आय रे ।
ब्रह्म रूप तुम जानो उसको
जो प्राणों को चलाय रे ।।

मन ब्रह्म नहीं बुद्धि ब्रह्म नहीं
करत कल्पना हारे रे ।
मन बुद्धि को जो जानत है
ब्रह्म कहावत सोय रे ।।

जिस मूरत को सब जग मानत
अरु जिसे ब्रह्म बतावत रे ।
उस मूरत को ब्रह्म न जानो
केन उपनिष जनावत रे ।।

जीव भाव को बिन त्यागे से
ब्रह्म निष्ठा नहीं होय रे ।
कहे निरंजन तू ब्रह्म रूप है
छान्दोग्य बतलावे रे ।।

ब्रह्मरूप पहिचानो साधो
ब्रह्मरूप पहिचानो रे / सोऽहम् रूप पहिचानो रे ।।

अतः इस आत्मा का अनुभव करना ही इसके स्वरूप का वर्णन करना है । जब जान लिया कि यह आत्मा कटता, जलता, भीगता, सूखता, जन्मता, मरता नहीं तो फिर शोक किसके लिये किया जाय ?

अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः ।
अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्युध्यस्व भारत ।। गीता : २/१८

अविनाशी, अप्रमेय और नित्य आत्मा के इस मृत्युलोक से ब्रह्मलोक पर्यन्त जितने भी शरीर तथा लोकों के विषय भोग हैं वे सभी अन्तवाले हैं, इनका जन्म से ही, उत्पत्ति काल से ही प्रतिक्षण अन्त होता जा रहा है । परन्तु अविनाशी आत्मा का कभी नाश नहीं होता है ।

यह समस्त संसार प्रमेय कहलाता है एवं इसे ग्रहण करने वाली पाँचों इन्द्रियाँ प्रमाण कहलाती है । जीवात्मा इन भोग को भोगता है, उसे प्रमाता कहते हैं । परन्तु यह आत्मा श्रोत्र, त्वचा, चक्षु तथा मन, बुद्धि

आदि इन्द्रियों द्वारा भौतिक शब्द, स्पर्श, रूपादि विषयों की तरह ग्रहण नहीं किया जा सकता, इसलिये इस निजात्म स्वरूप को अप्रमेय कहाजाता है ।

अप्रमेयस्य – जो प्रमाता, प्रमाण का विषय नहीं है अर्थात् जो मन, बुद्धि एवं पंच ज्ञानेन्द्रियाँ का विषय नहीं है, उसको अप्रमेय कहा जाता है । जहाँ अन्तःकरण और इन्द्रियाँ प्रमाण नहीं होती उसमें शास्त्र और सन्त महापुरुष ही प्रमाण होते हैं। इसलिये यह आत्मा श्रद्धा–विश्वास का विषय है, जगत् पदार्थों की तरह इन्द्रिय प्रमाण का विषय नहीं है ।

मैं अरु मोर तोर ते माया या वश जीव रहा बिलगाया ।।

देह पिंजरे में अपने को पक्षी की तरह बिठा देने से उस शरीर में 'अहं' बुद्धि अर्थात् मैं पना, मैं भाव जाग्रत हो जाता है । जैसे मैं स्त्री, मैं पुरुष, मैं सुन्दर, मैं जवान, मैं बूढ़ा आदि भाव करलेता है और शरीर को अपने में रख लेने से 'ममता' अर्थात् 'मेरा–पन' पैदा हो जाता है । जैसे मेरा शरीर, मेरा पिता, मेरा पुत्र, मेरा पति आदि । धन में अपने को रखने से मैं धनी हूँ, विद्या में अपने को रखने से मैं विद्वान् हूँ, राज्य में अपने को रखने से मैं राजा हूँ, बुद्धि में अपने को रखने से मैं बुद्धिमान हूँ, योग में अपने को रखने से मैं योगी हूँ, सिद्धि में अपने को रखने से मैं सिद्ध हूँ ऐसा अभिमान कर लेता है । इस प्रकार स्वयं को जिस–जिस चीजों में रख लेता है, उन–उन चीजों में मेरापन होता चला जाता है । जैसे मेरा धन है, मेरे पति है, मेरी पत्नी है, मेरी बुद्धि है, मेरा मन है ।

इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते।
एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः ।। गीता :१३/१

क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम ।। गीता : १३/२

शरीर को क्षेत्र कहा जाता है । किसान जो बीज खेत में डालता है उसी अनुरूप फसल प्राप्त करता है । इस शरीर में जीव जैसे शुभाशुभ

कर्म करता है, उसी अनुरूप फल भोगता है । यहाँ जीवात्मा को क्षेत्रज्ञ नाम से कहा जाता है ।

इस शरीर क्षेत्र को जो जानता है उसे क्षेत्रज्ञ कहते हैं । शरीर में जो चेतन तत्त्व है जिसकी शक्ति से जड़ शरीर कर्म करता हुआ दिखाई पड़ता है, वह चेतन जीव मैं स्वयं आत्मा हूँ । मैं आत्मा के अतिरिक्त जो भी देहादिक है वह सब अनात्मा जड़ प्रकृति है । यही मेरे मत से, वेदमत से ज्ञान है, जो कल्याण का एकमात्र अन्तिम साधन है । इस जड़–चेतन के ज्ञान को समझाने वाले शास्त्र ही सतशास्त्र है, वही सद्गुरु है, वही सत्संग है, शेष सभी आडम्बर, भ्रान्ति एवं अज्ञान है ।

सर्व प्रथम यह सिद्धान्त जान लें कि जो कुछ भास रहा है, सब पंच भौतिक है । पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश इन्हें पंच महाभूत कहते हैं । यह समस्त दृश्यमान् संसार पंच महाभूत का खेल है । यह आपका हमारा शरीर स्थूल शरीर कहलाता है, इसके प्रत्येक तत्त्व पंचतत्त्वों से बने हुए हैं ।

पृथ्वी, जल, तेज, वायु तथा आकाश इन सब सूक्ष्म भूतों का पंचीकरण होता है, और एक–एक तत्त्व में पांच–पांच तन्मात्राएं उनके विषयादि होते हैं । इस प्रकार पांच भूत को पच्चीस तत्त्व हो जाते हैं । इस प्रकार इन पांच के पंचीकरण द्वारा यह २५ तत्त्वों वाला स्थूल शरीर निर्मित हुआ । इसलिये यह शरीर न मैं हूँ और न यह मेरा है । यह पंच भूतों का विकार है और मैं आत्मा निर्विकार हूँ । यह शरीर दृश्य है, और मैं इस ह्रषड् विकारी शरीर का द्रष्टा, साक्षी, आत्मा इससे भिन्न हूँ । शरीर जड़ है, मैं चेतन हूँ । शरीर ज्ञेय है, जाना जाता है और मैं जानने वाला ज्ञाता हूँ। शरीर असत्य है और मैं सत्य हूँ । शरीर रोगों का घर है, मैं निरामय हूँ, शरीर क्षण भंगुर है और मैं अनन्त हूँ ।

जब यह शरीर मैं नहीं और शरीर मेरा नहीं तब शरीर के साथ मिथ्या तादात्म्य बुद्धि कर कहा जाता है कि शरीर मेरा है । मेरा कहने से यह सिद्ध होता है की यह मैं नहीं हूँ । जैसे मेरा कुत्ता कहने से मैं कुत्ता से भिन्न ही होता हूँ । मेरा मकान कहने से मैं मकान से भिन्न रहता हूँ । न मैं

कुत्ता हूँ, न मैं मकान हूँ । मेरे कपड़े, मेरे सूट, मेरा बूट, मेरी घड़ी जैसे मुझसे भिन्न है, इसी तरह मेरी नाक, मेरी आँख, मेरा हाथ, मेरे दान्त, मेरा कान, मेरा पेट, मेरा पैर, मेरा शरीर कहा जाता है, तो यह सिद्ध हो जाता है कि जो कुछ मेरा कहा जाता है वह मैं नहीं हूँ ।

जैसे मकान ईंट, पत्थर, लकड़ी, लोहा, सिमेंट, बालु से बनता है, इसी प्रकार यह शरीर हाड़, मांस, मज्ज़ा, चर्म से बनता है । जैसे मकान में खिड़की, दरवाजे होते हैं, इसी तरह यहाँ इन्द्रियाँ दरवाजे हैं । जैसे मकान के छत पर व आस पास घास–फूस उगजाते हैं, इसी प्रकार शरीर के चारों तरफ रोम एवं सर पर केश हो जाते हैं । जैसे मकान पर रंग होता है– इस प्रकार देह भी काला, श्याम, गौर, भूरा, पिला, लाल होता है । शरीर में मैं रहता हूँ इसलिये मेरा कहा जाता है । किन्तु मैं शरीर नहीं हूँ । यह सब स्थूल शरीर है । परमात्मा में और अपने में जो भी भेद–भ्रम उदय होते हैं उसका कारण यह देह को मैं मान लेना है । इसे देहाध्यास कहते हैं । जब तक इस साढ़े तीन हाथ के शरीर को मैं (खुदी) मानते रहोगे तब तक परमात्मा खुदा से दूर ही रहोगे और जब यह देहाध्यास मन से गया तब खुदी ही खुदा है, मैं ही मैं है ।

देहात्म बुद्धिजं पापं न तद् गोवध कोटिभिः ।
आत्माऽहं बुद्धिजं पुण्यं न भूतं न भविष्यति ।।–आत्मपुराण

यदि आपको शास्त्र पर विश्वास है तो देह को 'मैं' माननेवाले व्यक्ति को जितना पाप लगता है उतना पाप एक करोड़ गौ हत्यारे को भी नहीं लगता है । और जो अपने को देह से पृथक् मैं द्रष्टा आत्मा हूँ इस प्रकार जानता है, उसे जितना पुण्य होता है उतना पुण्य करोड़ों अश्वमेध यज्ञ करने से भी नहीं होता, क्योंकि समस्त यज्ञों का फल अनित्य स्वर्गादिक लोक है जो जीव को जन्म–मरण चक्र से मुक्त नहीं करते बल्कि जीव को संसार बन्धन में ही डालकर रखते हैं । जबकि मैं आत्मा हूँ, इसका फल मुक्ति है । अतः निश्चय से जानलो कि यह पंच भौतिक शरीर या माता–पिता से उत्पन्न शरीर न मैं हूँ और न यह मेरा है ।

इस स्थूल शरीर के अन्दर जो कर्मों का कर्ता है एवं फलों का भोक्ता है, उसे सूक्ष्म शरीर कहते हैं । यह पंचीकरण से पूर्व अपंचिकृत भूतों के १९ तत्त्वों से बना है । पंच ज्ञानेन्द्रिय, पंच कर्मेन्द्रिय, पंच प्राण और मन, बुद्धि, चित्त तथा अहंकार यह सब मिलकर सूक्ष्म शरीर कहलाता है । इसे ही लिंग शरीर अष्टकापुरी, अन्तवाहकादि पयार्यवाची नाम है । स्थूल शरीर का जन्म व मृत्यु हो जाती है यह सब जानते हैं किन्तु इस सूक्ष्म शरीर का जन्म कब हुआ यह कोई शास्त्र नहीं बताते हैं । इसलिये इसे अनादि बताया जाता है । जीव को जब तक मैं देह संघात् से पृथक् द्रष्टा आत्मा हूँ ऐसा दृढ़ बोध नहीं होता है तब तक इस सूक्ष्म शरीर की उम्र मानी जाती है । यह अनादि तो है किन्तु आत्मा की तरह अनन्त नहीं है । ज्ञानोदय पर इस सूक्ष्म शरीर का अन्त हो जाता है । जिस दिन अज्ञान का नाश होगा उसी दिन इस सूक्ष्म शरीर का भी नाश हो जायगा । इसको जीव का मोक्ष कहा जाता है । सूक्ष्म शरीर ही ८४ लाख शरीरों में भ्रमण करता है । एक देह को त्याग दूसरे शरीर को ग्रहण करना ही जन्म-मृत्यु नाम से कहा जाता है । सूक्ष्म शरीर ही अपने किये पुण्य-पाप का फल भोगने के लिये स्थूल शरीर का ढांचा तैयार करता है । मैं आत्मा इस स्थूल, सूक्ष्म शरीर एवं इसके कारण अज्ञान शरीर से भी पृथक् असंग, निष्क्रिय आत्मा हूँ । इन स्थूल तथा सूक्ष्म शरीर की रचना एवं गुण कर्म विभाग को निम्न कोष्ट के द्वारा समाझाया गया है ।

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः ।
अहङ्कारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते ।। गीता ३/२७

सम्पूर्ण कर्म सब प्रकारसे प्रकृतिके गुणों द्वारा किये जाते हैं, परन्तु अहंकारसे मोहित अन्तःकरण वाला अज्ञानी मनुष्य मैं कर्ता हूँ - ऐसा मान लेता है ।

तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः ।
गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते ।। गीता : ३/२८

स्थूल शरीर – २५ तत्त्व

पंचीकृत पंचभूत	आकाश	वायु	तेज	जल	पृथ्वी
आकाश	शोक	प्रसारण	निद्रा	लार	केश
वायु	काम	धावन	तृषा	स्वेद	त्वचा
तेज	क्रोध	वलन	क्षुधा	मुत्र	नाड़ी
जल	मोह	चलन	कान्ति	रजवीर्य	मांस
पृथ्वी	भय	आकुंचन	आलस्य	रक्त	हाड़

मैं उपरोक्त पंच भूतों के २५ तत्त्वों का द्रष्टा–साक्षी आत्मा इस शरीर के नाम, रूप, जाति, आश्रम, सम्बन्ध, परिणाम एवं जन्म–मृत्यु धर्मों से असंग, नित्य, निराकार, अनामय, निर्विकार ब्रह्म हूँ ।

परन्तु हे महाबाहो ! गुण-विभाग और कर्म-विभागको तत्त्वसे जाननेवाला महापुरुष 'सम्पूर्ण गुण ही गुणोंमें बरत रहे हैं' – ऐस मानकर उनमें आसक्त नहीं होता ।

स्थूल शरीर में जो आँख, कान, नाक, त्वचा, जिह्वा दिखाई पड़ते हैं यह इन्द्रियाँ नहीं है । यह तो इन भीतर रहने वाली इन्द्रियों के विषय ग्रहण करने का द्वार याने साधन मात्र है । आँख देखने का साधन, नाक सूंघने का साधन, कान सुनने का साधन है, जो बाहार है । नाक, कान, आंख, इन्द्रिय भीतर है, जो विषय ग्रहण करती है एवं सूक्ष्म है क्योंकि वे सूक्ष्म शरीर का अंग है । इसलिये बाहर दिखाई नहीं पड़ती है और जो बाहर दिखाई पड़ती है वह तो उनके विषयों को अन्दर ले जाने का मार्ग अथवा द्वार मात्र है । बाहर से आँख,कान, नाक ठीक दिखाई पड़ने पर भी बृद्धावस्था में आँख, नाक, कानादि द्वारा उनके विषय ठीक से प्रवेश नहीं करते हैं क्योंकि उन इन्द्रियों में आन्तरिक अवरुद्धता आगई है ।

फिर पंच प्राण है । प्राण का स्थान हृदय है । २१६०० बार भीतर-बाहर होती रहती है । एक मिनट् में १५, एक घंटे में ९०० तथा २४ घंटे में २१६०० बार यह क्रिया सभी मनुष्यों में होती रहती है । एक वर्ष में ७९ लाख ७० हजार ४ सौ तथा १०० वर्ष में ७९ करोड़ ७० लाख ४ सौ श्वाँस चलती है । भूख-प्यास प्राण को लगती है जो मेहनत ज्यादा करता है, उसे भूख-प्यास लगती है । शरीर में साढ़े तीन करोड छिद्र है । हमारे योगी ऋषियों ने हजारों वर्ष पहले बिना आधुनिक यन्त्रों के ध्यान द्वारा यह रहस्य जान लिया था जो आज आधुनिक यन्त्रों द्वारा ठीक मिल रहा है । प्राण का स्थान हृदय है, उदान कंठ में रहता है, वहाँ बाल से भी सूक्ष्म हिता नाड़ी है जो स्वप्न दिखाती है एवं अन्न-जल को उचित स्थान पर पहुँचाने का काम करती है ।

समान वायु नाभी में रहती है जो शरीर की ७२ करोड़ ७२ लाख १० हजार २ सो १० नाड़ियों में शुद्ध रस पहुंचाती है, जो बगीचे के माली की तरह काम करती है ।

सूक्ष्म शरीर – २५ तत्त्व

अपंचीकृत सूक्ष्म पंचभूत	सत्त्वगुण		रजोगुण		तमोगुण
	मिलित वृत्ति	स्वतन्त्र ज्ञानेन्द्रिय	मिलित प्राण	स्वतन्त्र कर्मेन्द्रिय	विषय
आकाश	अन्तः करण	श्रोत्र	व्यान	वाक्	शब्द
वायु	मन	त्वचा	समान	पाणि	स्पर्श
तेज	बुद्धि	चक्षु	उदान	पाद	रूप
जल	चित्त	जिह्वा	प्राण	लिंग	रस
पृथ्वी	अहंकार	घ्राण	अपान	गुदा	गंध

पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय, पाँच प्राण, मन तथा बुद्धि इन सत्रह तत्त्वों से बना सूक्ष्म शरीर कहा जाता है । कोई शास्त्रकार चित्त व अहंकार को लेकर १९ तत्त्वों का सूक्ष्म शरीर कहते हैं । प्राण की मुख्यता से पंच प्राण व पंच कर्मेन्द्रिय को प्राणमय कोश, मन की मुख्यता को लेकर मनोमय कोश, बुद्धि की मुख्यता से विज्ञानमय कोश तथा आनन्द की प्रधानता से आनन्दमय कोश कहलाता है । यह अन्तःकरण द्वारा जाना जाता है । इसलिये यह भी 'इदम्' रूप ही है । आनन्दमय कोश कारण शरीर का कहलाता है । मैं आनन्द घन आत्मा हूँ ।

व्यान वायु जोड़ों के सन्धियों को मोड़ने खुलने बन्द होने को करता है । अपान वायु स्वीपर की तरह है जो शरीर की सफाई करती है । मल मुत्र को निकालती है । परन्तु मैं आत्मा केवल देखता रहता हूँ, इन प्राणों से मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है । मैं आत्म ब्रह्म अकर्ता, असंग, द्रष्टा, साक्षी हूँ ।

नाग, कुर्म, कृकल, देवदत्त, धनन्जय यह पांच उपप्राण हैं । 'नाग' डकार पैदा करती है, 'कुर्म' आँख को मूंदने खोलने का काम करती है, 'कृकल' छींक पैदा करती है, 'देवदत्त' जम्भाई पैदा करती है और 'धनंजय' मृत शरीर को फुलाता है । जब जलाया जाता है तब यह शरीर जिसका कार्य वह अपने कारण भूतों में लीन हो जाता है । मैं आत्मा इन पंच उपप्राण का द्रष्टा, साक्षी, अकर्ता, इनसे भिन्न हूँ ।

इसी में पंच कोष है, अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय एवं आनन्दमय कोष हैं। कोषों का अर्थ आवरण, म्यान जिसमें उसे रखा जाता है । धन कोष, तलवार रखने का म्यान, गर्भकोष बच्चे रहने का स्थान । इसी तरह शरीर रूपी कोष में आत्मा रूपी धन रखा हुआ है ।

अब कारण शरीर को समझो । अज्ञान को कारण शरीर कहते हैं । कारण से ही सूक्ष्म व स्थूल शरीर होते हैं । गाढ़ी नींद सुषुप्ति में होती है, इसमें केवल सुखानुभूति होती है, उसका अनुभव सुबह उठकर प्रकट किया जाता है कि आज बहुत अच्छी नींद आई, कुछ पता न चला । यह कुछ पता न चलने का पता अर्थात् अज्ञान का मुझे पता चला । मैं इन तीनों शरीरों से पृथक् द्रष्टा, साक्षी, आत्मा हूँ ।

मैं आत्मा न स्थूल शरीर हूँ, न सूक्ष्म शरीर हूँ, न मैं कारण शरीर हूँ । मैं इनका अनुभव करता, इनका आधार, इनका द्रष्टा, ज्ञाता, प्रकाशक हूँ । देह के नाश से मेरा नाश नहीं होता । परन्तु अज्ञानवशात् यह जीव अपने आपको साढ़े तीन हाथ का, जन्मने मरने वाला, संसारी जीव मान लेता है । इसी कारण से यह सच्चिदानन्द, अखण्ड, आत्मा होकर भी क्षणभंगुर देह मान जीव अनादि काल से संसार चक्र में

भटकता, दुःख पा रहा है । जैसे सिंह के छोटे शावक को भेड़ों के बीच पालने से मैं सिंह हूँ व अपने यथार्थ स्वरूप को वह भूलकर मैं भेड़ हूँ का भ्रम हो जाता है । अथवा सूर्य पुत्र कर्ण को मैं दासी पुत्र, सूद पुत्र हूँ ऐसा जन्मजात भ्रम हो गया था । जब जंगली सिंह उस घर में पाले गये सिंह को उसके स्वरूप का बोध करा देता है कि तू भेड़ नहीं सिंह है, तब उसके भेड़पने का भ्रम दूर हो जाता है । तथा कर्ण को कुन्ती माता द्वारा उसके जन्म का रहस्य बतादेती है तब कर्ण के मने से दासी पुत्र, सूद्र पुत्र का भ्रम दूर हो जाता है । इसी प्रकार जब कोई सद्‌गुरु इस जीव को उसके वास्तविक स्वरूप का अनुभव करा देते हैं कि तू सच्चिदानन्द ब्रह्म है । तब इस जीवका देह भाव, स्त्री–पुरुष, ब्राह्मण, क्षत्रिय, ब्रह्मचारी, गृहस्थी, गुजराती, मारवाड़ी, उड़िया, पंजाबी, पत्नी–पति, पिता–माता आदि भ्रम दूर होजाता है ।

अतः सत–असत् को ठीक से समझ लेना चाहिये कि जो कुछ मेरा कहलाता है वह अनित्य है । मैं व शरीर दोनों पृथक्–पृथक् हैं । यह विवेक न होने से अज्ञानी, प्रकृति के बने शरीर एवं उनके नाम, रूप, जाति, भाषा, धर्म, आश्रम, उपाधि, जन्म–मृत्यु आदि धर्मों में अहंकार कर बन्धन को प्राप्त होता है । अस्तु ! अपने कर्तव्य रूप कर्मों को करते हुए अपने नित्य सिद्ध, निर्विकार, निष्क्रिय आत्मा में ही आत्म बुद्धि करने वाला कभी देह सम्बन्ध में शोक–मोह नहीं करता है ।

''मैं'' वस्तु स्वरूप आत्मा खुद है और ''मेरा'' यह पर वस्तु है । पर वस्तु जैसे मेरा मकान, मेरा पति, मेरी पत्नी, मेरा पुत्र यह सब पर वस्तु के साथ माना हुआ संयोगी सम्बन्ध है । यह, वह सब प्रकृति का हिस्सा है । वस्तु स्वरूप आत्मा और मेरा कहलाने वाला हिस्सा दोनों पृथक् पृथक् विभाग है । इसी को माया कहते हैं । जिसे मेरा कहा वहाँ माया खड़ी हो गई । जिसे मेरा कहा जाता है वह पराया है । व्यवहार में तो कहना होगा किन्तु भीतर से उसे मेरा स्वीकार मत करो । भीतर से मेरा स्वीकार किया तो माया चिपकेगी ।

एक बार दूध से मलाई, मक्खन, घी अलग करलेने पर फिर उसे दूध में मिलाया नहीं जा सकता । इसी प्रकार एक बार अच्छी तरह मेरा से मैं को पृथक् जानलो तो फिर मेरा को मैं में नहीं मिला सकेंगे । मेरा तो कभी मैं बन ही नहीं सकता किन्तु भ्रान्ति से एक–सा लगता है । जैसे रेल्वे लाइन दूर से मिली जैसी दिखती है परन्तु वे कभी नहीं मिलती है । एक बोतल में तेल पानी मिले जैसे दिखते हैं पर कभी परस्पर मिलते नहीं ।

मैं से संयोगी सम्बन्ध जिसके साथ है उससे मैं को अलग जान लो । जहाँ तक मेरापना दिखाई पड़ता है, वहाँ से मैं को पृथक् जानलो तो जो बचेगा वह मैं शुद्ध तत्त्व खुद रहेगा ।

मैं के साथ मेरापन का तादात्म्यता ही जीवात्मा है ।

मेरा से मैं को पृथक् पहचान लेना ही परमात्मा का होना है ।

'मेरा' की वजह से 'मैं' मुक्तता का अनुभव नहीं कर पाता है । यह भेद ज्ञान किसी ब्रह्मनिष्ठ महापुरुष के सानिध्य एवं शरणागति द्वारा ही प्राप्त हो सकेगा । जहाँ 'मेरा पना' छूटा वहाँ 'मैं' मुक्त ही खड़ा मिलेगा । मैं, मेरा से मिलकर ही बन्धन को प्राप्त होता है । यह 'मैं' ही अपना शुद्ध स्वरूप अनुभव करना है । किसी ब्रह्मनिष्ठ संत को मेरा समर्पित करते ही आप स्वयं 'मैं' रूप मुक्त बच जावेंगे । खुद ही खुद के पास रह जावेंगे । जो नित्य मुक्त है ही ।

किसी भी कर्म में मैंने किया यह कर्ता भाव जगाया तो कर्ता बनते ही प्रकृति खड़ी हो जाती है । जबकि 'मैं' स्वरूप से अकर्ता आत्मा है । जैसे ही माना कि मैंने यह किया तब उसी क्षण बन्धन निर्मित हो गया । मैं कर्ता नहीं हूँ । मैं केवल द्रष्टा, साक्षी, आत्मा हूँ ऐसा शुद्ध भाव जाग्रत होते ही प्रकृति उत्पन्न होना बन्द हो जाता है तब नया कर्म बनना भी बन्द हो जाता है ।

मैं को साक्षी के स्थान पर न बैठाकर आरोपित 'मेरा' के स्थान पर अर्थात् देह संघात के साथ जोड़ लेना अहंकार को जन्म देना है । देह

संघात् से मेरापन हटते ही अहंकार मिट जाता है । तब निरहंकार मैं ही शेष रह जाता है ।

कोई भी कर्म स्वयं से सम्पादित नहीं होता । वह कर्म कर्ता के आधीन है । इसलिये कर्ता हो तो ही कर्म होता है । कर्ता न हो तो कर्म नहीं हो सकता । आरोपित वस्तु में, आरोपित सम्बन्ध में मेरा भाव जोड़ देने से कर्ता हो जाता है । खुद के मूल स्वरूप द्रष्टा, साक्षी, आत्म भाव में आते ही अकर्ता स्वयं रह गये, अब कर्ता है ही नहीं । तो कर्म भी नहीं बन सकेगा । मैंने किया इस अहंकार से कर्त्ता होता है और कर्म को आधार दिया है । खुद कर्त्ता न बने तो क्रिया होगी पर वहाँ कर्म खो जावेगा । निराधार क्रिया अकर्म बन जाती है ।

छूटा देहाध्यास तो नहीं कर्ता तू कर्म ।
नहीं भोक्ता तू उसका यही धर्म का मर्म ।।

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः ।
अहंकारविमूढात्मा कर्त्ताहमिति मन्यते ।। गीता ३/२७

प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः ।
यः पश्यति तथात्मानमकर्तारं स पश्यति ।। गीता १३/२९

न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः ।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे ।।

– गीता : २/२०

यह आत्मा न कभी जन्मता है और न कभी यह आत्मा मरता है । यह कभी उत्पन्न होकर सत्तावान् नहीं होता, यह तो स्वतः सिद्ध सनातन है । जैसे बच्चा पैदा होने के बाद बच्चा है कहा जाता है । गर्भ में आने के पहले बच्चे की कोई सत्ता नहीं होती । परन्तु नित्य तत्त्व आत्मा की सत्ता स्वतः सिद्ध है ।

शरीरी आत्मा को **'अजः'** अर्थात् जन्म रहित कहा जाता है । **नित्यः** आत्मा नित्य–निरन्तर रहता है । शरीर की तरह इसमें छह

विकार नहीं होते हैं । इन्द्रियों की शक्ति उम्र बढ़ने पर क्षय होने लगती है किन्तु इस नित्य तत्त्व आत्मा में क्षरण नहीं होता । इसमें कभी बदलाहट नहीं होती, इसलिये यह 'शाश्वत' कहलाता है । तथा यह कभी पैदा नहीं हुआ । इसलिये सबसे पुराना होने से इसे **'पुराणः'** कहते हैं ।

शरीर का नाश होने पर भी इस नित्य, अजः, शाश्वत, पुराण पुरुष आत्मा का नाश नहीं होता ।

हमारा व शरीर का बिलकुल अलग – अलग स्वभाव है । हम अनादि से आज तक अनन्त शरीरों को छोड़ते पकड़ते आये हैं, पर हमारे से यह शरीर चिपका हुआ लटका हुआ, मिला हुआ नहीं है । गहरी निद्रा में शरीर के न रहने से भी हमारी सत्ता में कुछ भी फरक नहीं पड़ता । हमारी कोई क्षति नहीं होती । शरीर के रहने से भी हमारी कोई वृद्धि नहीं होती एवं शरीर के न रहने पर भी हम जैसे के तैसे ही एकरस बने रहते हैं ।

य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम् ।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते ।। गीता २/१९

जो इस अविनाशी अमृतात्मा को मरने वाला मानता है, वह मन्द बुद्धि वाला ठीक से नहीं जान पाया है ; क्योंकि आत्मा अशरीरी होने से इसकी मृत्यु कैसे हो सकेगी ? वायु, तेज, जल, पृथ्वी, इन प्रकृति से बने शरीर की ही अग्नि, जल, वायु, या शस्त्रादि से मृत्यु होती है । आत्मा तो प्रकृति से परे है, उसे मृत्यु कभी भी स्पर्श नहीं कर सकती ।

जैसे यह शरीरी आत्मा मरने वाला नहीं है, इसी प्रकार यह आत्मा अपने अतिरिक्त अन्य की सत्ता के अभाव में किसे मारेगा ? अतः वे दोनों ही अज्ञानी हैं, जो इसे मरने वाला या जो इसे मारने वाला मानते हैं । यह निर्विकार रूप से नित्य रहने वाला अपना आत्म स्वरूप है । अतः इस शरीरी निजात्म स्वरूप के सम्बन्ध में मरने का भय कभी नहीं करना चाहिये ।

वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम् ।
कथं स पुरुषः पार्थ कं घातयति हन्ति कम् ।। गीता २/२१

अपने आत्म स्वरूप का कभी नाश नहीं होता, इसमें कभी कोई परिवर्तन नहीं होता, इसका न कभी जन्म होता है, न कभी यह मरता है । इस प्रकार यथार्थ सिद्धान्त को जानने वाला पुरुष कैसे किसको मारे या कैसे किसको मरवाये ? तात्पर्य यह है कि आत्म ज्ञानी अपने से पृथक् किञ्चित् भी अन्य सत्ता को नहीं देखता, इस कारण उसमें मारने या मरवाने की प्रवृत्ति ही नहीं होती है । वह न तो किसी क्रिया का कर्ता बनता है, न कार्य कराने वाला बनता है ।

यहाँ भगवान ने शरीरी आत्मा को अज, अविनाशी, नित्य, और अव्यय कहकर उसमें छह विकारों का निशेध किया है अर्थात् अपना आत्मा समस्त विकारों से रहित है ।

उत्पन्न होने वाली वस्तु ही नष्ट होती है, उसको मिटाना नहीं पड़ता, पर जो वस्तु उत्पन्न नहीं होती, वह मिटती भी नहीं है । जीव ने अनादि से आज तक अनन्त बार चौरासी लाख योनियों को धारण किया, पर कोई भी शरीर जीवात्मा के साथ आज तक चिपका न रहा, न जीव किसी शरीर में चिपका रहा । सब शरीर मिलते गये व छूटते चले गये किन्तु जीवात्मा ज्यों का त्यों असंग ही आज तक बना रहा । ऐसा अपने देह से देही स्वरूप की असंगता का ज्ञान जिन्हें नहीं है, वह मनुष्य रूप में, पशु ही है । इस मनुष्य शरीर में ज्ञानोदय होने का सौभाग्य पाकर भी यदि कोई अपने आत्मा का ज्ञान न करे तो वह मनुष्य आत्म हत्यारा, ब्रह्म हत्यारा ही है जो परमात्मा की कृपा का अनादर करने वाला है ।

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि ।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही ।।

– गीता २/२२

जैसे मनुष्य पुराने कपड़ों को छोड़कर दूसरे नये कपड़ों को धारण कर लेता है या पुराने मकान को छोड़ नये मकान में प्रवेश कर लेते हैं, ऐसे ही यह जीवात्मा प्रारब्ध भोग समाप्त होने पर वस्त्र त्यागने की तरह देह त्याग कर नूतन शरीर में प्रवेश कर जाता है ।

प्राप्य पुण्यकृतां लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः ।
शुचीना श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते ।। – गीता : ६/४१

अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम् ।
एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम् ।। – गीता : ६/४२

योग भ्रष्ट साधको के दो ही मार्ग बनते हैं या तो किसी पुण्यवानों के लोकों में अर्थात् स्वर्गादिक लोकों को प्राप्त होता है और फिर स्वर्ग सुख भोगकर किसी शुद्धाचरण वाले के घर में जन्म लेता है । अथवा वैराग्यवान् पुरुष उन लोकों व घरों में न जाकर किसी ज्ञानवान् योगियों के कुल में जन्म लेता है । परन्तु इस प्रकार का जो जन्म है, सो संसार में निःसन्देह अत्यन्त दुर्लभ है ।

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः ।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम् ।।

– गीता : १६/२३

जो पुरुष शास्त्र विधि को त्यागकर अपनी इच्छासे मन माना आचरण करता है, वह न तो सिद्धि को प्राप्त होता है, न परमगति को और न सुख को प्राप्त होता है ।

अशास्त्रविहितं घोरं तप्यन्ते ये तपो जनाः ।
दम्भाहङ्कारसंयुक्ताः कामरागबलान्विताः ।। – गीता : १७/५

जो मनुष्य शास्त्र विधि से रहित केवल मनःकल्पित घोर तप को तपते हैं तथा दम्भ और अहंकार से युक्त एवं कामना, आसक्ति और बल के अभिमान से युक्त भी हैं –

कर्शयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः ।
मां चैवान्तःशरीरस्थं तान्विध्द्यासुरनिश्चयान् ।।

–गीता : १७/६

जो शरीर रूप से स्थित भूत समुदाय को और अन्तःकरण में स्थित मुझ परमात्मा को भी कृश (शास्त्रसे विरुद्ध उपवासादि घोर आचरणों

द्वारा शरीरको सुखाना एवं भगवान् के अंश स्वरूप जीवात्मा को क्लेश देना)कराने वाले हैं । उन अज्ञानियों को तू आसुर स्वभाव वाले जान ।

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्य व्यवस्थितौ ।
ज्ञात्वा शास्त्र विधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि ।।१६/२४

अतः तेरे लिये कर्तव्य अकर्तव्य में शास्त्र ही प्रमाण है । शास्त्र विधिके अनुसार ही कर्तव्य कर्म करना चाहिये ।

अश्रद्दधानाः पुरुषा धर्मस्यास्य परन्तप ।
अप्राप्य मां निवर्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि ।। – गीता : ९/३

हे परंतप ! इस उपर्युक्त धर्म में श्रद्धा रहित पुरुष मुझ को न प्राप्त होकर मृत्यु रूप संसार चक्र में भ्रमण करते रहते हैं ।

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते ।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात् ।। – गीता :२/४०

निष्काम भाव द्वारा आत्मोद्धार के लिये कर्म करने वाले की कभी दुर्गति नहीं होती है । कर्म में साक्षी भाव अर्थात् समता भाव से मनुष्य कर्म–बन्धन से छूट जाता है । समता के अर्थात् साक्षी भाव से किये जाने वाले अनुष्ठान में यदि कोई भूल हो भी जावे तो उसका उल्टा फल नहीं होता । समता का थोड़ा–सा भी भाव हो जाय तो वह कल्याण कर देता है । जीवन में थोड़ी भी समता आ जाय तो उसका नाश नहीं होता ।

जिस साधक के मन में भोगों की वासना नहीं मिटी है, ऐसा साधक योग भ्रष्ट होने पर स्वर्गादिक लोकों में जाता है फिर वहाँ से लौट श्रीमानों के घर में जन्मलेता है । परन्तु जिस साधक के मन में भोग वासना मिट जाती है, ऐसा साधक स्वर्गादिक लोकों में न जाकर सीधे योगियों के घर जन्म लेता है ।(गीता ६/४२)

जब तक पुराने शरीर के साथ जीवात्मा का सम्बन्ध बना रहता है तब तक यह जीवात्मा पुराने शरीर को छोड़कर संचित् कर्मों के अनुसार या अन्तकालीन चिन्तन के अनुसार नये शरीर को प्राप्त होता है ।

यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम् ।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः ।। – गीता :८/६

हे कुन्तीपुत्र अर्जुन ! यह मनुष्य अन्तकाल में जिस जिस भी भाव को स्मरण करता हुआ शरीर का त्याग करता है, वह उस–उसको ही प्राप्त होता है; क्योंकि वह सदा उसी भाव से भावित रहता है ।

आकर चार लक्ष चौरासी, यानि भ्रमत यह जीव अविनाशी ।

– रामायण

शरीरों को बदलते रहने से जीवात्मा वही रहता है, जीवात्मा की मृत्यु नहीं होती है । ८४ लाख योनियों में आना–जाना जीव का धर्म है । आत्मा तो सर्वगत, है, उसमें आना–जाना नहीं है । किन्तु देह के साथ तादात्म्य करके जीवात्मा अपने को जाने–आने वाला, जन्मने–मरने वाला मान लेता है । जैसे शरीर के साथ तादात्म्य करके जीवात्मा मैं बालक हूँ, मैं जवान हूँ, मैं बूढ़ा हूँ कहता है इस प्रकार देह के धर्म को अपना मान लेने से ऐसा भ्रम होता है जबकि मैं तो एक जैसा ही रहता हूँ । जैसा मैं बाल्यावस्था में हूँ वैसा ही मैं जवानी में रहता हूँ और वैसा ही मैं अब वृद्धावस्था में हूँ । यह मेरी अन्वयता है तथा अवस्थाओं की व्यतिरेकता है ।

तात्पर्य है कि शरीर बदलता है, जीवात्मा नहीं बदलता, अगर देह के साथ कर्म कर्ता जीवात्मा भी मर जाय तो इस जन्म या अनेक पूर्व जन्म के किये शुभाशुभ कर्म का फल स्वर्ग–नरक कौन भोगेगा ?

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत ।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना ।।

– गीता : २/२८

देखने, सुनने, और समझने में आने वाले जितने भी प्राणी हैं, वे सबके सब जन्म से पहले तथा मरने के बाद अप्रकट हो जाते हैं । यह शरीर केवल जन्म के बाद और मृत्यु के पहले भाव रूप दीखता है साथ ही इस शरीर का प्रतिक्षण अभाव भी हो रहा है ।

'आदावन्ते च यन्नास्ति वर्तमानेऽपि तत्तथा'

– माण्डूक्य कारिका ४/३१

जो वस्तु आदि और अन्त में नहीं है, वह बीच में दिखने पर भी नहीं होती है । जैसे बनने के पहले अलंकार नहीं होते हैं एवं टूट जाने पर भी अलंकार नहीं कहलाते हैं । तब मध्य में जो अलंकार दिखाई देते हैं, वह असत् ही है, यह सिद्धान्त है । केवल स्वर्ण ही आदि, मध्य तथा अन्त में रहने से सत्य है ।

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः । गीता **२/१६**

असत् पदार्थ की तो तीनों कालों में सत्ता नहीं जैसे शरीर एव सत वस्तु का कभी अभाव सिद्ध नहीं होता जैसे मैं आत्मा ।

'यस्तु यस्यादिरन्तश्च सवै मध्यं च तस्य सन् ।'

–श्रीमद्भा.११/२४/१७.

जो आदि और अन्त में नहीं है, उसका 'नहीं' पना नित्य निरन्तर है तथा जो आदि और अन्त में है उसका 'है' पना नित्य–निरन्तर है । जिसका 'नहीं' पना नित्य–निरन्तर है, वह असत् शरीर है और जिसका 'है' पना नित्य–निरन्तर है वह सत् आत्मा है । असत् के साथ हमारा नित्य वियोग है एवं सत आत्मा के साथ हमारा नित्य योग अर्थात् एकत्व ही है ।

सभी प्राणियों के शरीर जन्म के पहले नहीं थे और मृत्यु के बाद भी नहीं रहेंगे ; अतः वास्तव में वह बीच में भी नहीं है । क्योंकि शरीर प्रतिक्षण बदलता जा रहा है । परन्तु यह शरीर को धारण करने वाला शरीरी (देही, आत्मा, मैं, चैतन्य) पहले भी था, पीछे भी रहेगा, और बीच में भी वह अवश्य ही रहेगा । निष्कर्ष यह निकला कि शरीर का सदा अभाव है और आत्मा का कभी भी अभाव नहीं है । इसलिये इन दोनों के लिये शोक करना व्यर्थ है ।

देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत ।
तस्मात्सर्वाणि भूतानि न त्वं शोचितुमर्हसि ।। – गीता : २/३०

मनुष्य, देवता, पशु, पक्षी, कीट, पतंग, स्थावर, जंगम आदि सम्पूर्ण प्राणियों के शरीर में यह आत्मा नित्य है । इस आत्मा का किसी प्रकार वध नहीं किया जा सकता है । इसलिये किसी भी प्राणी के देह त्याग होने पर शोक नहीं करना चाहिये । क्योंकि इस देही आत्मा का विनाश कभी किसी प्रकार हो ही नहीं सकता और विनाशी देह क्षणमात्र भी नदी प्रवाह की तरह स्थिर नहीं रहता । उसका स्वभाव ही नाशवान है, परन्तु अपना नित्य–स्वरूप आत्मा का कभी नाश नहीं होता । अगर इस वास्तविकता को जान लिया तो फिर इस अनित्य, नश्वर, विकारी, विनाशी देह के नष्ट हो जाने पर शोक करना हो ही नहीं सकता ।

यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद् विजानतः ।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः ।। इशावास्य उप–७

जिस अवस्था में परमात्मा को जानने वाले विद्वान् पुरुष के लिये सभी प्राणी परमात्मा रूप हो जाते हैं, उस अवस्था में एक मात्र सच्चिदानन्द परमात्मा को निरन्तर साक्षात्कार करनेवाले योगी पुरुष के लिये कौन सा मोह अथवा शोक रह जाता है ।

व्यक्ति के मरने का आश्चर्य नहीं होना चाहिये क्यों कि मृत्यु तो उसका सहज स्वभाव ही है, जन्म तो मरने के लिये ही हुआ है । हर संयोग वियोग के लिये ही है । आश्चर्य तो जीवित रहने का है कि यह जीवित कैसे है । क्योंकि देखा जाता है कि एक छेद ट्युब में हो जाता है तो हवा निकल जाती है यहाँ जीव के देह में तो नव बड़े–बड़े छिद्र है फिर भी जीवात्मा इस शरीर में कैसे बना रहता है ? यह आश्चर्य विचारणीय है ।

नित्य–अनित्य, सत्–असत्, अविनाशी–विनाशी, देह–देही, क्षेत्र–क्षेत्रज्ञ, पुरुष–प्रकृति – इन दोनों का अलग – अलग विवेक किये बिना कोई भी कर्म योग, भक्ति योग, ज्ञान योग का अनुष्ठान हो ही नहीं सकता । स्वर्गादि प्राप्ति के लिये भी मैं देह से पृथक हूँ ऐसा विवेक नहीं होगा तो वह किसी प्रकार के सकाम या निष्काम कर्म करने के लिये प्रवृत्त ही नहीं हो सकेगा । भक्त को भी मैं देह से पृथक हूँ, यह बोध नहीं होगा तो भगवान्

के धाम में जाकर रहने की सुख भोग करने की रुचि ही जाग्रत नहीं होगी । तब वह न कर्म में प्रवृत्त होगा और न भक्ति में ।

अतः सभी मत वाले देह से देही आत्मा को तो पृथक् ही मानते हैं । वह चाहे द्वैत वादी हो, त्रैतवादी हो या अद्वैतवादी हो ।

यदि देह के नष्ट होने से देही भी साथ–साथ नष्ट हो जावे तो इस जन्म के किये शुभाशुभ कर्म का फल कौन भोगेगा ? फिर तो स्वर्ग–नरक, पुण्य–पाप, झुठे सिद्ध होंगे व स्वर्ग–नरक, पुण्य–पाप बताने वाले शास्त्र भी झूठे हो जावेंगे या बाल्य, यूवा, प्रौढावस्था के बदलने से देही आत्मा भी बदल जावे तो फिर देह के बदलजाने को, अवस्थाओं के बदलजाने को कोई भी नहीं जान सकेगा कि मेरी बचपन, किशोर, यूवा आदि अवस्थाएँ कैसी व्यतीत हुई ? जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति अवस्था के व्यवहार का भान भी नहीं रहता । अतः अवस्थाएँ तो बदलती है किन्तु सभी अवस्थाओं को जानने वाला, देखने वाला अनुभव कर्ता मैं आत्मा कभी नहीं बदलता । बदलने वाले शरीर के साथ आत्मा भी बदल जाता तो फिर इस बदलने को कौन जानता ? किन्तु आत्मा सब बदलाहट को जानती है, इससे सिद्ध होता है कि आत्मा कभी भी नहीं बदलती है ।

यदि कोई साधक सत–असत्, आत्मा–अनात्मा, जड़–चेतन, दृश्य–द्रष्टा का विवेक करता है, तो वही वास्तव में ज्ञानी होता है ।

अतः साधक को सर्व प्रथम अपने शरीर से अलग जानने का अभ्यास कर लेना चाहिये । जैसे कुत्ते से, जूते से, मकान से हम अपने को भिन्न देखते, जानते एवं मानते हैं । इसी प्रकार देह से अपने को प्रथक् जान लेना चाहिये कि देही, मैं, आत्मा देह से सर्वथा भिन्न ही हूँ । अज्ञान काल में जितनी सच्चाई और विश्वास से हम अपने को देह मानते आ रहे थे, उसी तरह देह से पृथक् मैं देही आत्मा हूँ, इस बात की भी दृढ़ता उतनी ही सच्चाई विश्वास से मानलें तो कल्याण हो ही गया ।

जैसे लकड़ी, लोहा मिट्टी, स्वर्ण आदि धातुओं के उपयोगी सामान बनाने के लिये जिन उपकरणों को अपनाया जाता है, कार्य पूरा होने पर

उन सब यन्त्रों को जहाँ का तहाँ रख दिया जाता है । इसी तरह व्यवहार में शरीर कर्म करने का साधन है, कर्म समाप्त होते ही शरीर व उसके सम्बन्धों का मन से वहीं त्याग करलें तथा फिर जब जरूरत लगे उपयोग कर वही छोड़ अपने को असंग, अकर्ता अभोक्ता रूप में ही जानें । शरीर केवल कर्म करने का साधन है अर्थात् उपकरण है । उपकरणों का उपयोग कर रख देना है, सब समय सर पर उन साधनों का बोझा रखने की जरूरत नहीं । नोकरी करने वाले अपने कार्यालय में वे जिस पोष्ट पर होते हैं वह डायरेक्टर, सक्रेट्ररी, सुप्रिन्टेन्डेड, मजिश्ट्रेट आदि, वे आफिस से लौटते ही वह पद, वह उपाधि का अभिमान वहीं छोड़ घरमें साधारण मनुष्य की तरह प्रवेश कर पत्नी बच्चों के साथ साधारण व्यवहार करते हैं । जैसे कुआँ खोदते–खोदते पानी निकल आने पर उन सभी उपकरणों का त्याग कर दिया जाता है । यदि पानी निकलने पर भी उन खोदने वाले यन्त्रों का कुआँ में प्रयोग करते रहेंगे तो पानी स्वच्छ नहीं हो सकेगा ।

साधक जिसको असत् जान लेता है फिर उसको मन से सर्वथा त्याग कर देना चाहिये । तब उसे जल्दी ही सत्य का साक्षात्कार हो जावेगा । साधक की अपने साध्य में जो प्रियता है यही उसकी भक्ति साधन कहलाती है । यह प्रियता किसी अन्य साधन से नहीं आती है, बल्कि साध्य में अपनापन होने से प्राप्त होती है ।

वास्तविक अपनापन उसी में होता है (१) जिसके साथ हमारा स्वरूपगत एकता है (२) जिससे हम कभी कुछ न चाहें (३) जिसके साथ हमारा नित्य सम्बन्ध रहने वाला हो (४) हमारे पास जो कुछ है, वह सब जिसको समर्पित करदें ।

शरीर के साथ एकत्व भाव रखने वाला कोई भी यज्ञ, तप, दान करले, समाधि लगाले, परकाया प्रवेश करले, वाक् सिद्धि करले, दूसरे के मन की बात जान ले, लोकान्तर में सूक्ष्म शरीर से घूम आये तो भी उसके मोह का नाश एवं उसे सत्य तत्त्व की अनुभूति नहीं हो सकेगी ।

जैसे किसी विद्यार्थी ने २ और २ का जोड़ ३ या ५ लगाकर पुरा सवाल ठीक ठीक कर लिया तो उत्तर कभी सही नहीं निकल सकेगा क्योंकि उसका प्रारम्भ में ही गलत जोड़ को सहि मानकर आगे बढ़ना गलत ही होगा, या किसी ने गलत मार्ग पर कदम रख दिया तो वह कितना भी तेज चले वह मन्जिल पर नहीं पहुँच सकेगा ।

वह जन्म–मरण के बन्धन से मुक्त नहीं हो सकेगा । शरीर के साथ अपना एक्य भाव रखना कि मैं शरीर हूँ, मैं कर्ता हूँ, मैं योगी हूँ, मैं ज्ञानी हूँ, ऐसा सम्बन्ध मन से छूट जाय तो उसके द्वारा अशुभ कर्म, कर्मों का अभिमान, फलेच्छा होगी ही नहीं । उस ज्ञानी का मोह नष्ट हो जावेगा और सत्य–तत्त्व आत्मा में स्थिति होने से सहज मुक्ति का अनुभव कर सकेगा ।

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः ।
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत ।। गीता : २/१४

किसी भी पदार्थ में सुख–दुःख देने की क्षमता नहीं है । किन्तु उन–उन पदार्थों, व्यक्तियों से जीव ने जो अपना सम्बन्ध अनुकूलता या प्रतिकूलता का मान लिया है, उसी के कारण उन पदार्थों से कल्पित माना हुआ सुख–दुःख होता है ।

सभी पदार्थ विनाशी है । उत्पत्ति से पूर्व नहीं थे, नाश होने पर भी नहीं रहेंगे, इसलिये इन उत्त्पत्ति–विनाशशील पदार्थों में आसक्ति नहीं करना चाहिये । अनित्य होने से वे सब पदार्थ एवं व्यक्ति क्षणिक स्थायी है । वे प्रतिक्षण बदलते रहते हैं । इतनी तेजी से बदलते हैं कि उनकी बदलाहट को बिना विवेक के कोई नहीं जान सकता । जैसे फिल्म के व्यक्ति जो हमारी तरह चलते–फिरते दिखाई पड़ते हैं । उनके एक कदम आगे बढने या नमस्कार करने के सैकड़ों चित्र खींच जाते हैं, पर उनकों इतनी तेजी से गति दी जाती है कि वे अनेको विभाजित चित्र एक हमारी तरह चलते व क्रिया करते हुए पूर्ण ही मालूम पड़ते हैं ।

केवल पदार्थ ही अनित्य नहीं है बल्कि जिन इन्द्रियों व अन्तःकरण से इनका ज्ञान होता है, वे सभी परिवर्तनशील हैं, उनमें भी थकावट आती है एवं विश्राम करने से ताजगी आ जाती है ।

अतः विषयों के प्रति अन्तःकरण में राग–द्वेष नहीं होना चाहिये । शीत में अनुकूलता एवं उष्ण में प्रतिकूलता नहीं रखना प्रत्युत् समता भाव, साक्षी भाव रखना ही ज्ञान है । इन्द्रियों के जितने विषय है, उनके सामने आने पर यह अनुकूल है, यह प्रतिकूल है, ऐसा देखना–जानना दोष नहीं है । आहार एवं व्यवहार को विवेक पूर्वक करना ज्ञान है, दोष नहीं ।

दूसरा भाव यह है कि शरीर, इन्द्रियाँ, अन्तःकरण आदि सभी क्रियाओं का, अवस्थाओं का आरम्भ और अन्त होता है तथा उनका भाव व अभाव होता है, उनकी पटुता, मन्दता तथा अन्धता तीन प्रकृति होती है । परन्तु वे क्रियाएँ तुममें नहीं है ; क्योंकि तुम उनके आने–जाने, होने न होने को जानने वाले हो, उनसे अलग हो । तुम स्वयं ज्यों के त्यों रहते हो । अतः उन क्रियाओं में, अवस्थाओं में तादात्म्य न करो, एकता न करो । इनसे अपने को निर्विकार देखना, असंग रहना ही तितिक्षा है ।

दिखने वाले दृश्य के साथ सम्बन्ध रखने से ही, उसे देखने वाला ‘द्रष्टा’ कहलाता है । शरीर के साथ सम्बन्ध रखने से स्वयं चेतन सत्ता को ‘शरीरी’ कहते हैं। यदि शरीर के साथ सम्बन्ध न हो तो स्वयं तो रहेगा, पर उसका नाम ‘शरीरी’ नहीं रहेगा । जीव सुख–दुःख, हर्ष–शोक, राग–द्वेष, काम–क्रोध आदि आने जाने वाली दशा को देखता है, पर स्वयं अचल, चिन्मय सत्ता को मैं रूप नहीं देखता ।

यह सब दृश्य, मन की वृत्तियाँ पहले नहीं थी, बाद में नहीं रहती केवल बीच में दिखाई पड़ने पर भी वह नहीं है । किन्तु मैं सब के आदि, मध्य व अन्त में रहता हूँ । अर्थात् मैं ही एकरस रहता हूँ । तथापि किसी जीव को अपने असंग, नित्य स्वरूप पर निष्ठा नहीं होती, इसीलिये जीव को अनात्म शरीर से एकता करने के कारण सुख–दुःख का भागी बनना पड़ता है ।

सम्बन्धों के साथ एकता, स्वीकार न कर उन्हें अस्वीकार करने से ही, अर्थात् उन्हें अपने में न मानने से ही मिट सकती है । माने हुए सम्बन्ध की अस्वीकृति के बिना कितना ही त्याग किया जाय, कितना ही कष्ट उठाया जाय, कितनी ही तपस्या की जाय, ध्यान, समाधि की जाय, तो भी माना हुआ सम्बन्ध मिटता नहीं । प्रत्युत् ज्यों का त्यों ही अहंकार बना रहता है । इसलिये उसमें जो स्वीकृति हो जाती है, वह भी मनमें नित्य जैसी हो जाती है । स्वयं जबतक उस स्वीकृति को नहीं छोड़ता है, तब तक वह स्वीकृति ज्यों की त्यों बनी रहती है । जैसे संन्यास लेने पर भी अपने पूर्व आश्रम के नाम, जाति, सम्पत्ति, सम्बन्धों का, उपाधियों का सूक्ष्म अहंकार मन में जमा रहता है, वह भूल नहीं पाता है ।

२५ वर्ष की उम्र से जैसे किसी स्त्री का पति मर जाने पर वह विधवा हो जाने पर भी यदि उसे ७५ वर्ष की उम्र में भी उसके पति का नाम ले तो उसके कान में प्रवेश करते ही उसके सामने बीता सम्बन्ध जाग्रत हो जाता है ।

इससे सिद्ध हुआ कि पदार्थ या व्यक्ति न रहने पर भी उससे माना हुआ सम्बन्ध सदा मन में दबा पड़ा रहता है, समय आने पर प्रकट हो जाता है । जैसे भूमि में बीज पड़े दिखाई नहीं पड़ते किन्तु वर्षा होने पर चारों ओर हरियाली प्रकट हो जाती है । इस दृष्टि से पदार्थ ही आने-जाने वाले होते हैं किन्तु उनका मन से सम्बन्ध जाने वाला नहीं हो पाता है ।

यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ ।
समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते ।। गीता : २/१५

यह मनुष्य जीवन केवल सुख-दुःख को भोगने के लिये नहीं मिला है, प्रत्युत् सुख-दुःख से ऊँचा उठकर उस महान् आनन्द, परम शान्ति की प्राप्ति के लिये मिला है, जिस आनन्द, सुख, शान्ति की प्राप्ति होने के बाद और कुछ प्राप्त करना बाकी नहीं रहता ।

धीर मनुष्य सुख-दुःख में साक्षी रहता है । सुख-दुःख अन्तःकरण की वृत्ति को साक्षी पुरुष देखता रहता है । जब मन के साथ तादात्म्य कर

लिया जाता है, तभी जीव सुख–दुःख को भोगने का हेतु होता है । जब जीव अपने साक्षी भाव में स्थित हो जाता है, तब उस दुःख–सुख से वह पृथक् रहता हुआ देखता रहता है ।

जिसकी दृष्टि में समता भाव जाग्रत हो गया है, उस ज्ञानी को ये प्राकृत पदार्थ सुखी–दुःखी नहीं कर पाते हैं । अनुकूल पदार्थ तथा प्रतिकूल पदार्थ मिलने पर अथवा परिस्थिति आने पर, सुख–दुःख का ज्ञान तो अवश्य होगा । किन्तु वह सुख–दुःख अन्तःकरण का धर्म जान, ज्ञानी स्वयं उनसे सुखी–दुःखी नहीं होता है ।

'सोऽमृतत्वाय कल्पते' –ऐसा धीर मनुष्य अमरता को प्राप्त कर लेता है । प्राप्त क्या कर लेता है, प्रत्युत् वह तो स्वतः सिद्ध अमर ही होता है । केवल पदार्थों के संयोग–वियोग से जो अपने में विकार मानता था, वह आत्म ज्ञान द्वारा मन की भूल ही मिटती है ।

यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम् ।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः ।। – गीता :८/६

यह मनुष्य अन्तकाल में जिस जिस भी भाव को स्मरण करता हुआ शरीर का त्याग करता है, वह उस–उसको ही प्राप्त होता है; क्योंकि वह सदा उसी भाव से भावित रहता है ।

यदि हम सुख–दुःख का भोग ही करते रहेंगे, तो भविष्य में हमें भोग–योनियों में अर्थात् स्वर्ग–नरक लोकों में जाना ही पड़ेगा । क्योंकि जीव की जैसी जीवन काल में मति होती है, मृत्यु के समय उसी विचार की मुख्यता के कारण उस–उस भोगार्थ उन लोकों में जाना पड़ता है । ऐसा व्यक्ति मोक्ष का अधिकारी नहीं होता है, क्योंकि ये समस्त संसारी पदार्थ उत्पन्न एवं नष्ट होने वाले अनित्य एवं क्षण भंगुर है । ये सदा रहने वाले नहीं है, क्योंकि प्राप्ति काल में भी यह साथ–साथ नष्ट होते जा रहे हैं, परिणाम में दुःख रूप ही है '**परिणाम विषमिव तत्सुखं** ।' १८/३८

धन का सुख प्राप्त होना प्रारब्ध है, लेकिन उस धनका जीवन निर्वाह जितना उपयोग कर अतिरिक्त प्राप्त धन को दूसरे दीन–दुःखियों

की मदद करना यह प्राप्त सुख का सदुपयोग है । दुःख का सदुपयोग करना क्या है ? दुःख के कारण की खोज करना एवं उसका त्याग करना । दुःख का कारण जो अनात्म पदार्थों में तादात्म्य बुद्धि है, उसका त्याग करना ही दुःख परिस्थिति का सदुपयोग है । हम उससे शिक्षा लेवें और उस देहाध्यास कारण को त्याग करें । सुख पाने की इच्छा ही दुःख का कारण है, किन्तु निर्वासनिक को किसी भी तरह का दुःख नहीं हो सकता ।

आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेनमाश्चर्यवद्वदति तथैव चान्यः ।
आश्चर्य वच्चैनमन्यः श्रृणोति श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित् ।। २/२९

आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेनम् ।

'यह रूप से, इदम् रूप से' हमसे बाहर के पदार्थों का ज्ञान चौदह त्रिपुटियों द्वारा सहज सबको होता रहता है । इन्द्रिय भोग में ज्ञानी–अज्ञानी समान है, पण्डित–मूर्ख का उसमें भेद नहीं । गरम–ठन्डा, मीठा–कड़ुआ, सर्दी–गर्मी, भूख–प्यास, सुख–दुःख, मान–अपमान, अनुकूल–प्रतिकूल का ज्ञान सभी को होता रहता है ।

परन्तु अपना आत्म स्वरूप दृश्य रूप में, यह रूप में, इन्द्रियों का विषय नहीं हो सकता जैसे की आँख खोलते ही रूप दर्शन हो जाते हैं। इस प्रकार आत्मा 'इदम्ता' का 'यह रूप' त्रिपुटी ज्ञान का विषय नहीं है । आत्मा इन्द्रिय, मन, बुद्धि द्वारा नहीं जानी जा सकेगी । इसको तो स्वयं से, अपने–आपसे मैं रूप से ही जाना जाता है । संसार में जानने वाला एवं जानी गयी वस्तु पृथक्–पृथक् होती है किन्तु यहाँ आत्मा तो अद्वय है, आत्मा अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं । तब कौन किसको जाने ?

अन्य दृश्य पदार्थों को तो नेत्र द्वारा देखा जाता है किन्तु स्वयं नेत्रों को नेत्र द्वारा नहीं देखा जाता । यहाँ आत्मा को देखना याने स्वयं के द्वारा स्वयं को जानना है । स्वयं का ज्ञान इन्द्रिय सापेक्ष विषयों की तरह नहीं प्रत्युत् स्वयं का ज्ञान इन्द्रिय निर्पेक्ष अनुभव स्वरूप है ।

जहाँ नेत्र से देखा जाता है, वहाँ देखने वाला 'द्रष्टा' एवं दिखने वाला पदार्थ 'दृश्य' और देखने की शक्ति दर्शन – यह त्रिपुटी होती है । आत्मा तो स्वयं प्रकाश है । स्वयं के ज्ञान में यह त्रिपुटी नहीं होती है । जैसे 'मैं हूँ' ऐसा जो अपने होने पने का ज्ञान है, उसमें किसी अन्य प्रमाण की या इन्द्रिय की जरूरत नहीं है । आत्मा का ज्ञान अपने आप से ही होता है । आत्म तत्त्व दुर्लभ, दुर्गम या कठिन नहीं है बल्कि इसको जानने की जिज्ञासा की ही दुर्लभता मानव में है ।

''आश्चर्यवद्वदति तथैव चान्यः''

इसी तरह कोई आत्मानुभवी महापुरुष ही इस आत्मा का वैखरी वाणी द्वारा अकाट्य युक्तियों एवं द्रष्टान्तों द्वारा वर्णन करता है, क्योंकि यह वाणी का विषय नहीं । वाणी द्वारा संसार का वर्णन बहुत अच्छी तरह किया जाता है, किन्तु वाणी जिस शक्ति से प्रकाशित होती है, वह परप्रकाश्य वाणी अपने प्रकाशक को कैसे बता सकती है ? ''मति न लखै, जेहि मति लखे'' । अत्मा को जानने वाले भी सब कोई आत्म विषय को समझाने में समर्थ नहीं होते हैं अतः वर्णन करने वाला, आत्मा को समझाने वाला महाजन भी आश्चर्य रूप है । वह भगवान् का अत्यन्त प्रिय होता है ।

य इमं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति ।
भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः ।। गीता : १८/६८

जो ज्ञानी निःस्वार्थ, निष्काम, अदम्भ भाव से इस परम पवित्र, परम गोपनीय आत्म तत्त्व को, अज्ञ जीवों पर दया करके उनको अपने सच्चे द्रष्टा आत्म स्वरूप का बोध करायेगा तथा सब का कल्याण हो इस भावना से प्रेरित हो यह ज्ञान दान करता है, वह स्वाध्याय यज्ञ तथा ज्ञान यज्ञ का करने वाला मेरा भक्त मुझे ही प्राप्त होता है ।

'आश्चर्यवच्चैनमन्यः श्रृणोति'

जैसे गांव, नगर, शहर में कथावाचक, महात्मा संत आकर पुराणों की रोजक, मनोरंजक, विस्मित आश्चर्य करने वाली, सिद्धि चमत्कार की

कथा सुनाते हैं, जिसे हजारों लाखों की संख्या में लोग सुनने आ जाते हैं किन्तु इस आत्म तत्त्व की चर्चा में किसी प्रकार का नाचना, गाना, बजाना, रामलीला, रासलीला, सर्कस, जादू के खेल तमाशे जैसी कोई बात नहीं है, इसलिये इस आत्म चर्चा के लिये लोग सुनने का आग्रह नहीं करते हैं। आत्म चर्चा में तो मनोभंजन होता है । लोक चर्चा, पुराण चर्चा, लीला, कथा में मनोरंजन होता है, इसलिये अधिकांश लोग मनोरंजन के विषय चर्चा में रुचि रखते हैं ।

'श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित्'

सभी सुन लेने वालों ने इस आत्मा को जानलिया है, ऐसा भी नहीं समझना चाहिये, बल्कि सुनकर अपने को उसी आत्मभाव में, साक्षी भाव में, द्रष्टा भाव में स्थित कर लिया है, उन्हीं श्रोताओं ने सुना है, ऐसा समझना चाहिये । नदी का सागर में एकत्व रूप हो जाने की तरह जब यह श्रोता अपने जीव भाव को 'अहं ब्रह्मास्मि', 'सोऽहम्' भाव में लय कर देता है, अर्थात् देह भाव, जाति भाव की तरह दृढ़ता से जानलेता है, तबहि उसने श्रवण किया ऐसा माना जायगा, तब वह अपने आप से, अपने आपको जानेगा ।

जैसे कहने सुनने मात्र से सन्तान उत्पत्ति नहीं होती बल्कि वहाँ स्त्री पुरुष के बीच प्रेम एवं सम्भोग सम्बन्ध ही सन्तान उत्पत्ति का कारण होता है । एक दूसरे को पति–पत्नी मानने मात्र से कुछ नहीं होता । इसी प्रकार सुनने मात्र से परमात्मा को कोई नहीं जान सकता, प्रत्युत् सुनने के बाद जब स्वयं अपने को वैसा स्वीकार करेगा अथवा उसमें स्थित होगा, तब स्वयं मैं रूप उसको जानेगा ।

भगवान श्रीकृष्ण द्वारा अर्जुन को गीता ज्ञान सुनाने के समय सभी पाण्डव एवं कौरवों की सेना के बड़े–बड़े सेनापति, महायोद्धा, महारथी विद्यमान् थे किन्तु गीता उपदेश द्वारा एक अर्जुन का ही मोह नष्ट हुआ एवं उसे अपने भूले हुए आत्म स्वरूप की स्मृति जाग्रत हुई ।

शुकदेवजी द्वारा राजा परिक्षित ने भागवत् कथा जब श्रवण की तब ८८ हजार ऋषियों की भी उस कथा मण्डप में उपस्थिति थी, पर आत्मबोध तो केवल एक परिक्षित को ही हो सका ।

अतः सुनने मात्र से श्रोता ज्ञान की बाते सीख सकता है, दूसरों को सुना सकता है, अच्छा प्रवचन कर सकता है, ग्रन्थ लिख सकता है पर अनुभव करना दूसरी बात है । सुनकर उसी तरह उपासना करने से, वे निःसन्देह कल्याण को प्राप्त हो जाते हैं ।

अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वान्येभ्य उपासते ।
तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः ।।

– गीता : १३/२५

परन्तु इनसे दूसरे अर्थात् जो मन्द बुद्धिवाले पुरुष हैं; वे इस प्रकार न जानते हुए दूसरों से अर्थात् तत्त्वके जाननेवाले पुरुषों से सुनकर ही तदनुसार उपासना करते हैं और वे श्रवण परायण पुरुष भी मृत्युरूप संसार–सागर को निःसन्देह तर जाते हैं ।

यह शरीर है, यह मनुष्य है, यह पशु है, यह पक्षी है, यह साँप, यह पहाड़, यह पेड़ आदि सभी भौतिक पदार्थों को 'यह रूपता' से 'इदम्' रूप से बताया जाता है । शरीर को मेरा–रूप से कहा जाता है । इसलिये यह मैं नहीं हूँ, क्योंकि जो मेरा कहा जाता है, वह मैं नहीं हो सकता । इस प्रकार आकाश, वायु, तेज, जल, पृथ्वी इन पंच भूत से बने शरीर को या माता–पिता के रज–वीर्य से बने इस स्थूल शरीर को अन्नमय कोश कहते हैं । क्योंकि अन्न के खाने से स्त्री–पुरुष के शरीर में बने रज–वीर्य के संयोग सम्बन्ध से बना शरीर अन्न द्वारा ही जीवित रहता है तथा मरने पर जला देने पर पुनः इसी पृथ्वी में लीन हो जाता है । इस प्रकार स्थूल, सूक्ष्म व कारण शरीर तीनों 'इदम्' रूप ही है ।

शरीर इसलिये कहा जाता है की यह प्रतिक्षण नष्ट होता रहता है। कोश इसलिये कहते हैं कि जीवात्मा इन तीनों शरीर को अपना मानता रहता है ।

शरीर 'इदम्'रूप होते हुए भी जीव अज्ञान से इस शरीर को मैं शरीर हूँ, मेरा शरीर है, इस प्रकार 'अहम्' मान लेता है । इस स्थूल शरीर में जैसे जीव द्वारा कर्म होते हैं; उसी अनुसार जीव को दूसरे देवता, पशु, पक्षी आदि के शरीर मिलते हैं । इस प्रकार यह जीव देह में मैं बुद्धि कर बार–बार जन्म–मरण रूप फल भोगता है ।

शरीर–क्षेत्र के साथ सम्बन्ध रहने से इस जीवात्मा को क्षेत्रज्ञ नाम से कहते हैं । यदि यह शरीर के साथ सम्बन्ध न रखे तो फिर इसकी क्षेत्रज्ञ संज्ञा भी नहीं रहेगी, फिर तो यह परमात्म रूप ही रहेगा ।

घटे नष्टे तथा व्योम व्योमैव भवति स्वयम् ।
तथैवोपाधिविलये ब्रह्मैव ब्रह्मवित् स्वयम् ।। २३ आत्म उप.

घट नष्ट होने पर घट में स्थित आकाश तत्काल महाकाश रूप ही हो जाता है, उसी प्रकार देहभाव के नष्ट होते ही यह जीव तत्क्षण ब्रह्म रूप ही स्वयं शेष रहता है ।

देहात्मज्ञानवज्ज्ञानं देहात्मज्ञान बाधकम् ।
आत्मन्येव भवेत् यस्य स नेच्छन्नपि मुच्यते ।।

२/१५ बराहोपनिषत्

जिस प्रकार अज्ञान काल में देह के प्रति मैं भाव बना रहता है उसी प्रकार मैं देही आत्मा हूँ, इस प्रकार दृढ़ भावना करने से देह भाव नष्ट हो जाता है । इस प्रकार के ज्ञान वाला योगी बिना इच्छा तथा बिना किसी साधन के मोक्ष को प्राप्त होता है । जैसे वृक्ष से पका फल बिना इच्छा के भी भूमी को प्राप्त हो जाता है अथवा पहाड़, हवाई जहाज, मकान के छत से गिरा वस्तु या व्यक्ति बिना इच्छा के भी पृथ्वी को प्राप्त हो जाता है ।

जहाँ से बन्धन होता है, वहीं से मुक्ति होती है। इस सिद्धान्त के अनुसार जीव को मनुष्य शरीर में तादात्म्य बुद्धि से बन्धन लगता है । इसलिये मनुष्य शरीर के साथ तादात्म्य बुद्धि हटा लेने से ही मुक्ति हो

सकती है । यदि यह जीवात्मा इस शरीर के साथ मैं–मेरा, अहंता–ममता का सम्बन्ध न रखे तो यह स्वयं मुक्त ही है ।

कल्याण की इच्छा रखने वाले साधकों को अपना शरीर 'इदम्' 'यह' भाव से ही देखना चाहिये। इस शरीर को मैं हूँ करके नहीं जानना चाहिये । 'इदम्' का अर्थ 'यह' होता है और अपने से अलग दिखने वाले पदार्थ को 'यह' कहा जाता है । तथा 'इदमं्' या 'यह' को जानने वाला 'अहम्' कहलाता है । 'अहम्' से 'इदम्' पदार्थ जाना जाता है किन्तु इदम् पदार्थ अहम् को नहीं जान सकता ।

द्रष्टा–दृश्य विवेक

यह शरीर दृश्य है, इसे नेत्र देखता है । इस प्रकार शब्द, स्पर्श, रूपादि पांचों विषय दृश्य हैं और इन विषयों के श्रोत्र, त्वचा, नेत्र आदि द्रष्टा हो जाते हैं, फिर पांचों ज्ञानेन्द्रियाँ भी दृश्य हो जाती है, मन इनमें आये पटुता, मन्दता तथा अन्धता विकारों को जानता है । इसलिये मन इनका द्रष्टा हो जाता है । मन के विकार काम–क्रोध, चंचल–शान्त, सुख–दुःखादि को बुद्धि जानती है, इसलिये मन की द्रष्टा बुद्धि हो जाती है । बुद्धि के दोष को स्वयं जीवात्मा जानता है । अतः बुद्धि का द्रष्टा जीवात्मा हो जाता है । परन्तु जीवात्मा में कभी कोई विकार होता ही नहीं । **'ईश्वर अंश जीव अविनाशी, चेतन अमल सहज सुख राशी'** अतः वह कभी किसी का दृश्य नहीं होता । वह सदा सर्वका द्रष्टा ही रहता है ।

इन्द्रियाँ विषय को जानती हैं पर विषय इन्द्रियों को नहीं जान सकते । मन इन्द्रिय व विषय को जानता है किन्तु विषय और इन्द्रियाँ मन को नहीं जान सकते । बुद्धि, मन, इन्द्रिय और विषय को जानती है किन्तु विषय, इन्द्रियाँ, तथा मन, बुद्धि को नहीं जान सकते । जीवात्मा विषय, इन्द्रिय, मन तथा बुद्धि को जानता है पर जीवात्मा को विषय, इन्द्रिय, मन, बुद्धि नहीं जान सकते । आत्मा द्वारा जीव बुद्धि, मन, इन्द्रिय तथा विषय सब को जानता है किन्तु जीव, बुद्धि, मन, इन्द्रिय आत्मा को नहीं जान

सकते क्योंकि अति सूक्ष्म और श्रेष्ठ होने के कारण निरपेक्ष द्रष्टा अर्थात् बिना किसी दूसरे की सहायता के खुद ही देखने वाला है । जड़ इन्द्रिय, मन, बुद्धि जीवात्मा के बिना किसी को नहीं जान सकती हैं, क्योंकि यह सब जड़ प्रकृति का कार्य होने से स्वतन्त्र द्रष्टा, ज्ञाता नहीं है । अतः साधक को जानना चाहिये कि मैं दृश्य शरीर नहीं हूँ प्रत्युत् इस दृश्य क्षेत्र शरीर को जानने वाला क्षेत्रज्ञ, द्रष्टा, चेतन आत्मा हूँ ।

जैसे धन में अभिमान करने से धनी कहलाता है, धन न होने पर धनी नहीं कहलाता है, पर व्यक्ति तो रहता है । इसी तरह क्षेत्र में अहं बुद्धि से क्षेत्रज्ञ कहलाता है । क्षेत्र में अहं बुद्धि न करने से यह क्षेत्रज्ञ नहीं रहेगा किन्तु चेतन जीवात्मा तो रहेगा ।

विषय करण सुर जीव समेता, सकल एक ते एक सचेता ।
सबकर परम प्रकाशक जोई, राम अनादि अवध पति सोई ।।

क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत ।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम ।। गीता : १३/२

सभी मनुष्यों द्वारा **'मैं हूँ'** इस प्रकार कहा जाता है । परन्तु परमात्मा है कहा जाता है । **'मैं'** का सम्बन्ध किसी वस्तु या क्रिया से न रहे तो 'हूँ' नहीं रहेगा, प्रत्युत् 'है' रहेगा । 'है' ही मैं के साथ सम्बन्ध होने से 'हूँ' कहलाता है । अतः वास्तव में क्षेत्रज्ञ मैं 'हूँ' की परमात्मा 'है' के साथ एकता है । वस्तुतः दो नहीं एक ही है ।

भगवान कह रहे हैं कि हे अर्जुन ! जानने में आने वाला विषय ज्ञेय कहलाता है और जानने वाला ज्ञाता कहलाता है । ज्ञाता जिस विषय को जिस से जानता है, उसे करण या इन्द्रिय कहते हैं, यह भी दो तरह की है, बहिःकरण और अन्तःकरण । मनुष्य शब्द, स्पर्श, रूप आदि विषयों को श्रोत्र, त्वचा, चक्षु आदि बहिःकरण से जानता है और बहिःकरणों को अन्तःकरण मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार जानता है । इनमें अहंकार सबसे सूक्ष्म है । इस सूक्ष्म अहं भाव के भी ज्ञाता क्षेत्रज्ञ जीव को तू मेरा स्वरूप समझ । अतः हे जीवात्मा ! तू शरीर के साथ अपनी एकता न मानकर

मुझ परमात्मा के साथ एकता जान । क्योंकि शरीर तो प्रकृति का अंश है, इससे तुम सर्वथा अपना अहंकार छोड़ कर इस देहभाव से विमुख हो जा और तू मेरा अंश है, इसलिये तू मेरे सम्मुख हो जा ।

जगत् आत्म प्राणपति रामा, तासु विमुख किमि लहि विश्रामा ।
सन्मुख होंहि जीव मोही जबहि, जन्म कोटि अघ नासहूँ तबहि ।।

शरीर की संसार के साथ स्वाभाविक एकता है एवं जीव क्षेत्रज्ञ की परमात्मा अंशी से स्वाभाविक एकता है ।**क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि ।** १३/२। परन्तु अज्ञानता से जीवात्मा, परमात्मा से अपनी एकता न मान शरीर से एकता मान लेता है । इसी कारण यह जीव दुःख भोगता रहता है । अतः हे अर्जुन ! तुम शरीर के साथ अपनी एकता न मान मेरे साथ, परमात्मा के साथ एकता जानो । यही ज्ञान मेरे मत से यथार्थ ज्ञान है । इस ज्ञान के अतिरिक्त दुनियाँ में जितने प्रकार के ज्ञान, मत–मतान्तर हैं, वह सब वास्तविक ज्ञान नहीं है । वह सब संसार में फंसाने वाले होने से अज्ञान ही है । इसलिये तू तीनों वेदों के ज्ञान से ऊपर उठकर कर्ता जीव न बनकर केवल साक्षी आत्मवान् हो ।

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन।
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान् ।।

– गीता : २/४५

हे अर्जुन ! वेद उपर्युक्त प्रकार से तीनों गुणों के कार्यरूप समस्त भोगों एवं उनके साधनों का प्रतिपादन करनेवाले हैं, इसलिये तू उन भोगों एवं उनके साधनों में आसक्ति रहित, हर्ष–शोकादि द्वन्द्वों से रहित, नित्य वस्तु परमात्मा में स्थित, योग–क्षेमको न चाहनेवाला और स्वाधीन अन्तःकरण वाला हो, आत्मवान् हो ।

वास्तविक ज्ञान तो वही है, जिससे स्वयं का माना हुआ शरीर के साथ का कल्पित तथा मिथ्या सम्बन्ध विच्छेद होकर, अखण्ड परमात्मा में अपनी एकता जानली जाय । सम्पूर्ण क्षेत्रों के सम्बन्ध से रहित वह क्षेत्रज्ञ जीव शुद्ध ब्रह्म ही है ।

पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान्गुणान् ।
कारणं गुण संङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु ।। गीता : १३/२१

प्रकृति में स्थित होने से अर्थात् शरीरादि में अहंकार करने से यह सच्चिदानन्द जीवात्मा ऊँच–नीच योनियों में जाकर सुख–दुःख का भोक्ता होता है ।

वास्तव में यह जीवात्मा इस प्रकृति–शरीर में स्थित है ही नहीं परन्तु जब वह इस प्रकृति–शरीर के साथ तादात्म्य करके शरीर को 'मैं' व 'मेरा' मान लेता है तब वह प्रकृति में स्थित कहा जाता है । ऐसा शरीरस्थ पुरुष ही अनुकूल–प्रतिकूल परिस्थिति के आने पर सुखी–दुःखी होता है ।

यदि जीवात्मा शरीर के साथ मैं या मेरा पने का भाव सम्बन्ध न जोड़े तो सम्पूर्ण क्रियाओं को प्रकृति के द्वारा ही की हुई जानने से, यह जीवात्मा उन क्रियाओं के सुख–दुःख फलों का भोक्ता नहीं बनेगा । देह संघात् की सम्पूर्ण क्रियाओं का द्रष्टा हो जाने से सुख–दुःख में सम हो जाता है । जिस योनियों में सुख भोग की प्रधानता रहती है, उन्हें सत् योनि एवं जिस योनि में दुःख भोग की प्रधानता रहती है उन्हें असत् योनि कहते हैं । इस प्रकार पुरुष का प्रकृति–शरीर की क्रियाओं में अभिमान ही सत्–असत् योनियों में जन्म लेने का कारण है । यह तीन गुणों वाले तीनों शरीरों में अभिमान करने के कारण जीव ऊँच–नीच योनियों में जन्म लेकर सुख–दुःख का भोक्ता होता है । अपने को 'स्व' में स्थित न मानने से ही यह जीवात्मा शरीरस्थ या प्रकृतिस्थ कहा जाता है । जब देह अभिमान छोड़ देता है, तब यह जीवात्मा 'स्वस्थ' रहता है । मुक्ति जीव का सहज स्वभाव है एवं बन्धन इसका अस्वाभाविक रूप है ।

'मैं' अर्थात् अहंकार जड़ प्रकृति है और 'हूँ' चेतन पुरुष है तथा 'मैं हूँ' – यह जड़ चेतन का मिला हुआ तादात्म्य रूप है । इस मैं हूँ में ही कर्तापना, भोक्तापना रहता है अगर 'मैं' न रहे तो 'हूँ' नहीं रहेगा, प्रत्युत् 'है' रहेगा । जैसे तपने पर लोह और अग्नि में तादात्म्य दिखाई पड़ता

है । ठन्डा हो जाने पर निराकार अग्नि अपने तेज में लीन हो जाती है एवं लोह पिण्ड पृथ्वी पर ही रह जाता है । इसी तरह 'अहम्', 'मैं' तो प्रकृति में ही रहजाता और हूँ, है का स्वरूप होने से 'है' में ही विलीन हो जाता है । 'है' में कर्तापन व भोक्तापन नहीं है । 'हूँ' ही कर्ता–भोक्ता बनता है । अतः साधक को 'हूँ' में न मिलकर 'है' को ही अपना स्वरूप जानना चाहिये ।

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः ।
अहङ्कार विमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते ।। गीता : ३/२७

जिस समष्टि शक्ति से सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड की व्यवस्था हो रही है, अर्थात् जिसके प्रकाश में सूर्य, चन्द्र, पवन, पृथ्वी, सागर अपने धर्म का पालन कर रहे हैं, उसी नियामक द्वारा, उसी समष्टि शक्ति द्वारा सभी जीवों का जीवन निर्वाह एवं दैनिक क्रियाएँ होती रहती है । जैसे श्वाँसों का चलना, रक्त बनना, अंगों का बढ़ना, बाल से किशोर, किशोर से यूवा, यूवा से प्रौढ़, प्रौढ़ से वृद्ध होना, भोजन पाचन क्रिया, मल–मूत्र बनना एवं विसर्जन होना, कटे अंग का फिर मांस, चमड़े, हाड़ों का जुड़ना तथा देखना, सुनना, बोलना आदि सभी क्रिया होती रहती है । परन्तु मनुष्य अज्ञान वश उन सभी प्रकृति की क्रियाओं का अपने द्वारा हुई मान लेता है अर्थात् मैं यह सब क्रियाओं का कर्ता हूँ, ऐसा मिथ्या अभिमान कर लेता है । यही जीव के बन्धन एवं सुख–दुःख का कारण है ।

अन्तःकरण की वृत्ति अहंकार के साथ जीवात्मा मिलकर अपने को कर्ता मान लेता है, यही उसकी मूढ़ता है । जब जीव 'इदम्' को 'अहम्' मान लेता है, तब वह अहंकारी जीवात्मा विमूढात्मा कहलाता है ।

'इदम्' कभी 'अहम्' अर्थात् 'यह' कभी 'मैं' नहीं हो सकता, यह सिद्धान्त है । अहंकार का ज्ञाता इस अहं वृत्ति से अलग ही है । यह माना हुआ अहंकार किसी क्रियासे नहीं मिटता । क्रिया द्वारा तो अहंकार और बढ़ता है । माना हुआ सम्बन्ध अस्वीकार, अमान्य करने से ही मिटता है ।

मनुष्य से भूल यही होती है कि वह अपने वास्तविक शुद्ध, साक्षी अहम् को भूल अवास्तविक 'अहम्' मैं शरीर हूँ, मैं कर्ता हूँ को ही सत्य मान लेता है। विपरीत मान्यता से ही मान्यता कटती है किसी अन्य साधन से नहीं ।

जब तक 'करना' है तब तक अहंकार जीवित है । अहंकार को मारना है तो कर्ता भाव मिटाना होगा । क्योंकि कर्तापन के बिना कोई भी क्रिया का अहंकार करना सिद्ध नहीं होता है । मैं कर्ता हूँ इस भाव को ''मैं कर्ता नहीं हूँ'' इस निश्चय से ही हटाना होगा। **प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः ।** ३/२७। क्रिया प्रकृति में होती है । स्वयं चेतन स्वरूप आत्मा में कोई क्रिया नहीं है । करना व न करना दोनों जिसके द्वारा प्रकाशित होते हैं, इस अक्रिय तत्त्व आत्मा को ही अपना स्वभाविक स्वरूप जानना चाहिये ।

'मैं शरीर हूँ ; मैं कर्ता हूँ'' आदि असत्य मान्यताएँ भी इतनी दृढ़ हो जाती है कि उन्हें छोड़ना कठिन मालूम पड़ता है । फिर जो मैं वास्तविक अकर्ता, अशरीरी हूँ, यह निश्चय दृढ क्यों नहीं हो सकेगा ? अवश्य दृढ़ हो सकेगी । अर्जुन को भी तो ऐसा हुआ 'नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा' (१८/७३), तो हमें भी ऐसा निश्चय अभ्यास द्वारा हो सकेगा ।

नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति ।
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति ।। गीता : १४/१९

सत, रज, तम इन त्रिगुणों द्वारा ही समस्त क्रियाएँ हो रही है । वे गुण जिससे प्रकाशित होते हैं, वह वस्तु आत्मा गुणों से परे है । उस गुणातीत आत्मा पर गुणों व क्रियाओं का कोई प्रभाव नहीं पड़ता है । उस तत्त्व को जो विचारशील साधक जानलेता है कि वह अकर्ता, अभोक्ता, असंग, द्रष्टा, साक्षी, निष्क्रिय आत्मा मैं हूँ, वह ज्ञानी महापुरुष जीवित अवस्था में ही ब्रह्म भाव को प्राप्त हो जाता है ।

गुणों के साथ मेरा न कभी सम्बन्ध हुआ, न है, न हो सकेगा । कारण गुण परिवर्तनशील है और मैं अपरिवर्तनशील हूँ, ऐसा अनुभव

करने वाला फिर ब्रह्म रूप ही होता है । जो भूल से गुणों से व गुणों के कार्य रूप इस दृश्य शरीर से 'मैं पने' का सम्बन्ध मानता था, वह मान्यता मिट जाती है और जो ब्रह्म के साथ स्वतः सिद्ध सनातन सम्बन्ध है वह एकता ज्यों कि त्यों रह जाती है ।

स्वरूप से अमृत आत्मा होते हुए भी अज्ञानता से जीवात्मा, मरण धर्मा शरीर के साथ तादात्म्य कर लेता है कि 'मैं' शरीर हूँ, ऐसा मान लेने से मृत्यु का भय व अमरता की इच्छा होती है । जब वह अपने विवेक को महत्व देता है कि 'मैं शरीर नहीं हूँ', शरीर तो निरन्तर मृत्यु में जा रहा है और मैं स्वयं निरन्तर आत्मा में रहता हूँ। अतः साधक को चाहिये की वह शरीर के परिवर्तन अर्थात् षड् विकारों को मुख्यता न देकर अपने अचल, द्रष्टा, साक्षी, आत्मा को स्वीकार करे । अस्तु ! प्रत्येक मनुष्य को अपने गुणातीत स्वरूप का अनुभव कर लेना चाहिये । जो गुणों से सर्वथा निर्लिप्तता का अनुभव कर लेता है, उसे स्वतः सिद्ध अपनी अमरता का अनुभव हो जाता है । देह के साथ तादात्म्य (एकता) मानने से ही मनुष्य मृत्यु से डरता रहता है ।

प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः ।
यः पश्यति तथात्मानमकर्तारं स पश्यति ।। गीता : १३/२९

वास्तव में चेतन तत्त्व स्वतः स्वाभाविक निर्विकार, सम और शान्त रूप से स्थित है । संसार एवं व्यष्टि शरीर की सम्पूर्ण क्रियाएँ प्रकृति के गुणों द्वारा ही की जाती है । गुणों के सिवाय कोई अन्य कर्ता नहीं है । ऐसा जो विवेक से देखता है अर्थात् अनुभव करता है, वही वास्तव में ठीक देखता है कारण कि ऐसा देखने वाला ही जान पाता है कि मैं किसी भी क्रिया का कर्ता नहीं हूँ ।

सत्त्व, रज, तम ये तीन गुण प्रकृति जन्य है, इन तीनों गुणों का कार्य यह जगत् होने से सम्पूर्ण सृष्टि त्रिगुणात्मिका है । अतः शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, वाणी, पदार्थ आदि सब गुणमय ही है । अज्ञानी जब इन गुण विभाग एवं इन इन्द्रियों के द्वारा होने वाले कर्म विभाग से अपना

सम्बन्ध मान लेता है, तब वह बन्धन को प्राप्त होता है । जिन्होंने माने हुए 'अहम्' मैं पन से भी सम्बन्ध–विच्छेद करके अपने स्वरूप (है) का बोध कर लिया है वही 'तत्त्ववित्' कहलाते हैं ।

तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः ।
गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते ।। ३/२८ गीता

परन्तु हे महाबाहो ! गुण विभाग और कर्म विभाग के तत्त्व को जानने वाला ज्ञानयोगी, सम्पूर्ण गुण ही गुणों मे बरत रहे हैं, ऐसे समझकर उनमें आसक्त नहीं होता ।

तात्त्विक दृष्टि से देखा जाय तो जीव का प्रकृति से सम्बन्ध विच्छेद सदा से ही है । देह के साथ जीव का केवल भूल से सम्बन्ध माना हुआ था । उसे मन से अस्वीकार करके जीव यह जान लेता है कि केवल गुण ही गुणों में बरत रहे हैं । इस प्रकार अपने को पदार्थ एवं क्रियाओं से अलग अनुभव कर लेता है । जब प्रकृति से माना हुआ सम्बन्ध विच्छेद करते हैं तभी परमात्मा से नित्य सम्बन्ध का अनुभव होता है ।

जब तक साधक का देह से सम्बन्ध रहेगा तब तक वह 'तत्त्ववित्' नहीं हो सकता । **''संसार से अलग होकर ही संसार को जान सकते हैं तथा परमात्मा से एक होकर ही परमात्मा को जान सकते हैं ।''** यह नियम है ।

तत्त्वज्ञ महापुरुष प्रकृति और पुरुष, जड़ व चेतन को स्वाभाविक ही अलग–अलग जानता है । इसलिये वह प्रकृति जन्य गुणों में आसक्त नहीं होता । कर्म बन्धन रूप नहीं है, कर्म में कर्ताभाव ही जीव को बन्धन में डालता है ।

नैव किञ्चित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित् ।
पश्यञ्श्रृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन्गच्छन्स्वपञ्श्ववसन् ।। गीता : ५/८

प्रलपन्विसृजन्गृह्णन्तुन्मिषन्निमिषन्नपि ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन ।। गीता : ५/९

तत्त्ववित् महापुरुष की तरह जो साधक निर्भ्रान्त हो गया है, प्रकृति के कार्य रूप शरीर से मैं–मेरा का सम्बन्ध छोड़ चुका है, उस साधक के मन में देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि व उनकी क्रियाओं के साथ एकत्व बुद्धि नहीं होती है । इसलिये देह संघात् के द्वारा होने वाली क्रिआओं को वह अपनी क्रियाएँ नहीं मानता है । १४ त्रिपुटियों की क्रियाओं में 'मैं कर्ता हूँ' ऐसा अहंकार नहीं करता है । जब साधक के मन से कर्ता पन का अभाव हो जाता है और अपने साक्षी आत्म स्वरूप का मैं रूप से बोध हो जाता है, तब यह 'तत्त्ववित्' कहलाता है ।
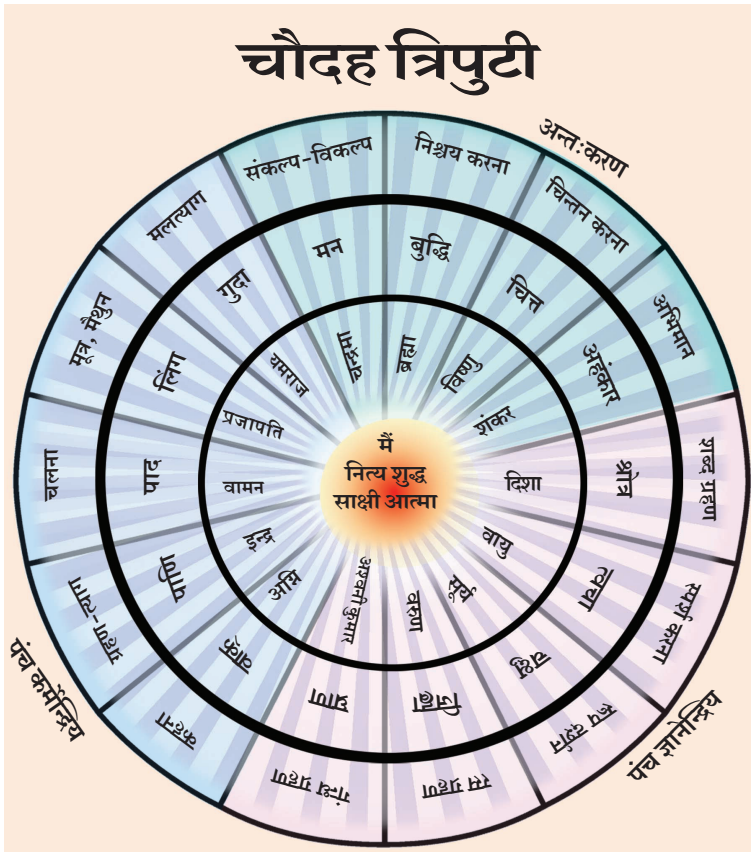
यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते ।
हत्वापि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते ।। १८/१७

जिसको 'मैं करता हूँ' ऐसा अनात्म भाव नहीं है, अर्थात् अहं कृत भाव नहीं है और जिसकी बुद्धि में मैं इसका फल भोग करूँगा, ऐसे स्वार्थ भाव का लेप नहीं है, वह पुरुष इन सब लोकों को मारकर अथवा भोग कर भी वास्तव में न तो वह मारता है और न पाप से बंधता है । जैसे शास्त्र विहित कर्म कोई व्यक्ति प्रकाश में करे अथवा शास्त्र निषिद्ध क्रिया करे किन्तु प्रकाश का उन शुभाशुभ क्रिया से किञ्चित् भी सम्बन्ध नहीं होता है । प्रकाश उन क्रियाओं का न कर्ता बनता है न फल भोक्ता बनता है । इसी तरह प्रकृति का कार्य स्वतः चलता रहता है और अपना स्वरूप केवल उसका प्रकाशक है । ऐसा ज्ञानी प्रकृति के कार्यों में 'मैं कर्ता हूँ', ऐसा अहं भाव नहीं करता है । शरीर को मैं या मेरा मानने से ही अहं कृत भाव होता है ।

तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः ।
गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते ।। गीता : ३/२८

विवेक शील ज्ञानयोगी ज्ञान इन्द्रिय कर्मेन्द्रिय, अन्तःकरण तथा प्राणों से होने वाली क्रियाओं को करते हुए भी ''मैं स्वयं कुछ भी नहीं करता हूँ' – ऐसा मानता है । तथा सम्पूर्ण स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीर की क्रियाएँ प्रकृति में ही होती देखता है, साक्षी आत्मा में नहीं ।

नैव किञ्चित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित् ।
पश्यञ्श्रृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन्गच्छन्स्वपञ्श्ववसन् ।। गीता : ५/८

प्रलपन्विसृजन्गृह्णन्तुन्मिषन्निमिषन्नपि ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन ।। गीता : ५/९

जीव का शरीर के साथ तादात्म्य होने के कारण प्रत्येक क्रियाओं में स्वयं की मुख्यता रहती है कि मैं देखता हूँ, मैं चलता हूँ, मैं खाता हूँ । क्रिया तो होती है शरीर में लेकिन जीव अपने में मान लेता है । स्वयं में

कोई क्रिया नहीं है । अहंकार से मोहित होकर स्वयं को भूल से कर्ता मान लेता है । इस कारण वह कर्म फल से बन्ध जाता है । चौरासी लाख योनियों में जाकर दुःख भोगता है । जब जीव का अकर्ता पना जो सत्य ही है उसे मान लेने से वह अकर्ता, अभोक्ता, नित्य, मुक्त ही रहेगा इसमें सन्देह ही क्या ?

वास्तव में जब वह अपने को कर्ता–भोक्ता मानता है तब भी वह स्वरूप से कर्ता भोक्ता नहीं होता है । यदि होता तो सुषुप्ति में भी कर्ता–भोक्ता का भान होता किन्तु वहाँ किसी भी प्रकार का देहाध्यास व कर्तृत्वाभिमान नहीं रहता है ।

साधक के जीवन में अनुकूलता या प्रतिकूलता प्रारब्ध से ही आती है, चाहने से नहीं आती है । अतः उन प्रकृतिस्थ अवस्था में राग–द्वेष न कर सम भाव में, साक्षी भाव में स्थिर रहना चाहिये ।

शरीर में अहंभाव होने से ही अपने सत्य स्वरूप के बोध से अर्थात् परमात्मा से दूर हो जाता है । अहंभाव न होने से परमात्मा के साथ नित्य अभिन्नता ही बनी रहती है ।

नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति ।
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति ।। गीता : १४/१९

जिस समय द्रष्टा तीनों गुणों के अतिरिक्त अन्य किसी को कर्ता–भोक्ता नहीं देखता है और तीनों गुणों से अत्यन्त परे सच्चिदानन्दघन स्वरूप मुझ परमात्मा को तत्त्व से अर्थात् आत्म रूप से, मैं रूप से ही जानता है, उस समय वह मेरे स्वरूप को प्राप्त होता है ।।

जीव के मन से अहं कृति भाव न होने से वह मनुष्य न किसीको मारता है और न बन्धता है । उसके स्वरूप की निर्विकल्पता बनी रहती है । उसके द्वारा क्रिया होने अथवा न होने से स्वरूप में कुछ भी अन्तर नहीं पड़ता । कारण क्रिया प्रकृति में होती है । स्वरूप में किसी भी प्रकार की क्रिया नहीं वह पूर्ण असंग एवं निष्क्रिय है ।

नींद से उठते ही सबसे पहले मनुष्य को अपने होने का भान होता है । इसको अहं स्फूर्ति कहते है, फिर देह में अभिमान जगता है तब इसे अहं कृति कहते हैं ।

जैसे कोई व्यक्ति गंगा में डूबकर मरे या आग में जल कर मरे, गंगा या अग्नि को पाप स्पर्श नहीं करता हैं। क्योंकि उनमें कर्तृत्वाभिमान नहीं होता है । पागल, डॉक्टर, मजिस्ट्रेट, सद्‌गुरु या अन्ध पुरुष में कर्ता भाव नहीं होता है । इसलिये किसी भी प्रकार की उनकी क्रियाओं से उन्हें पाप–पुण्य नहीं लगता । मैं मारता हूँ, मैं मारूँगा, मैं दान देता हूँ, इस प्रकार की अहंता और फल में बुद्धि की लिप्तता ही पाप–पुण्य लगने में कारण है ।

ज्ञान योग से अहं कृत भाव का नाश हो जाता है । अहं कृत भाव से ही जीव में भोग और मोक्ष की इच्छा पैदा होती है । अहं कृत– मैं कर्ता हूँ भाव मिटने से इच्छा भी नष्ट हो जाती है । ऐसी अवस्था में मनुष्य न मारता है और न बन्धता है ।

मनुष्याणां सहस्त्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये ।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः ।। गीता : ७/३

मनुष्य प्रायः तत्काल सुख देने वाले साधनों में ही रुचि रखते हैं, उनका अन्तिम परिणाम क्या होगा, इस पर वे सकामी लोग विचार नहीं करते । हजारों मनुष्यों में कोई एक ही अणिमा, गरिमा, महिमा आदि सिद्धियों के लिये चेष्टा करता है । उन सिद्धियों को नश्वर जान कोई एक आत्म सिद्धि के लिये यत्न करता है । जिससे बढ़कर कोई लाभ नहीं, जिसमें दुःख का लेश भी नहीं और आनन्द की किञ्चित्‌मात्र भी कमी नहीं । ऐसे स्वतः सिद्ध नित्य तत्त्व की प्राप्ति के लिये यत्न करता है ।

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः ।
यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते ।। गीता : ६/२२

परमात्मा की प्राप्ति रूप जिस लाभ को प्राप्त कर उससे अधिक दूसरा श्रेष्ठ कुछ भी लाभ नहीं एसा जो मानता और परमात्मा प्राप्ति रूप

जिस अवस्था में मैं ब्रह्म हूँ, मैं द्रष्टा, साक्षी आत्मा हूँ भाव में स्थित रहना है, वह योगी बड़े भारी दुःख से भी चलायमान नहीं होता है ।

जो मनुष्य इस लोक के भोगों से लेकर ब्रह्मादिक लोकों के सुख भोग की इच्छा नहीं करता, ऐसा वैराग्यवान् साधक ही संसार के अनित्य भोगों से उपराम होकर नित्यानन्द स्वरूप परमात्मा की तरफ आते हैं ।

ईशा वास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत । ई.शा उप

तीनों लोकों में जो कुछ दृश्य पदार्थ है वह सब ब्रह्म ही है ।

वास्तव में परमात्मा की प्राप्ति कठिन नहीं है, प्रत्युत् परमात्मा की ओर सच्ची लगन से चाहने वाले बहुत कम होते हैं । मुमुक्षु को तीव्र इच्छा जाग्रत होने पर भी आत्मनिष्ठ तत्त्वज्ञ, जीवन्मुक्त, ज्ञानी महापुरुषों का मिलना दुर्लभ है ।

वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः । गीता : ७/१९

मैं, तू, यह, वह, यहाँ, वहाँ सब कुछ वासुदेव ही है । इस प्रकार तत्त्व ज्ञानी महात्मा का प्राप्त होना भी अत्यन्त दुर्लभ है ।

ब्रह्म प्राप्ति की अभिलाषा जाग्रत हो जाने के बाद तो उसे पूर्ण करने का कार्य, उसे आत्म बोध कराने की जिम्मेदारी सद्गुरु या परमात्मा पर हो जाती है ।

यदि मनुष्य को अपने भौतिक जीवन से निरसता हो एवं परमात्मा की प्राप्ति की सच्ची भूख जाग्रत हो जावे तो भगवान की प्राप्ति में देर नहीं होती ''**क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति**'' ९/३१ । कारण कि जो नित्य प्राप्त है, उसकी प्राप्ति में क्या देरी ? परमात्मा कोई वृक्ष नहीं है कि बीज आज बोयेंगे तो उसकी उत्पत्ति व फल प्राप्ति कालान्तर में होगी बल्कि परमात्मा तो अखण्ड होने से सब देश में, नित्य होने से सब समय तथा अणु–अणु होने से सब रूपों में नित्य विद्यमान हैं । हमही उनसे विमुख होते जा रहे हैं, फिर भी परमात्मा हमसे कभी विमुख नहीं होते । वे हमारे साथ सदा से हैं, सनातन हैं ।

सनमुख होई जीव मोहि जबहि ।
जन्म कोटि अघ नासहि तबहि ।।

सर्व धर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहं त्वा सर्व पापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ।। १८/६६

भगवान् कहते हैं कि हे मुमुक्षु ! तू अपनी बुद्धि के द्वारा क्या करना और क्या नहीं करना है यह उहापोह, सोच–विचार छोड़ दे, क्योंकि धर्म के मामले में तेरी बुद्धि मोहित हो चुकी है । इसलिये तू निर्णय नहीं कर पायेगा(गीता–२/७) । अतः तू सम्पूर्ण धर्मों का आश्रय छोड़कर एक मात्र मेरी शरण में आजा मैं तुझे सब पापों के भय से मुक्ति दिला दूँगाँ ।

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि ।। गीता : १६/२४

इससे तेरे लिये इस कर्तव्य और अकर्तव्य की व्यवस्था में शास्त्र ही प्रमाण है । ऐसा जानकर तू शास्त्र विधि से नियत कर्म ही करने योग्य है ।

परमात्मा की प्राप्ति क्रिया के द्वारा नहीं होती । प्रत्युत् पदार्थ और क्रिया के सम्बन्ध विच्छेद से होती है अर्थात् जड़ पदार्थ एवं इनमें अहं कर्ता भाव के त्याग से ही होती है ।

अतः जिस इन्द्रिय का जो धर्म है, उसी इन्द्रिय को उस कर्म का कर्ता देखें तथा उस इन्द्रिय, उसके ग्राह्य विषय तथा मन के सुख–दुःख का अपने को साक्षी जाने ।

जैसे रोगी का कर्तव्य डाक्टर के पास पहुँचने तक है, शेष रोग निवृत्ति का उपचार काम तो रोगी का नहीं प्रत्युत् डाक्टर का है । इसी प्रकार भक्त का काम भगवान की, आत्मदेव की शरण में चले जाना है । फिर उसके पापों से, बन्धन से मुक्ति दिलाने का कार्य भगवान की जिम्मेदारी है ।

जब साधक अनन्य रूप से आत्मा की शरण ग्रहण कर लेता है, तब उसका पिछला कुछ भी शेष नहीं रहता है । जैसे नदी सागर में

मिलकर अपना नाम खो देती है । सागर में जाकर नदी भाव रहे, गंगा, यमुनादि नाम रहे, तो जानो वह अभी समुद्र से दूर है । इसी प्रकार जीव जब आत्मा के समर्पित हो गया, तब उसका तीनों शरीर, तीनों अवस्था, तीनों गुणों एवं पंचकोशों से किञ्चित् भी सम्बन्ध नहीं रहता है । यदि अपने कर्म, नाम, जाति, मन, बुद्धि की चिन्ता है, तो फिर वह आत्मा के साथ अभी एकता नहीं कर पाया है । मन, बुद्धि, शरीर व वृत्तियों को अपना न जानो । यदि कभी–कभी दीख जावे कि यह वृत्ति क्यों उठी तो परमात्मा से प्रार्थना करो कि हे प्रभो ! यह वृत्तियाँ यह शरीर, प्राण, मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ ये मेरे होकर न दीखें। आप मुझे इस अपराध से बचाइये । प्रायः देखा जाता है कि संन्यासी अखण्डानन्द, परमानन्द, ब्रह्मानन्द होकर भी वे अपने पूर्वाश्रम के नाम, जाति, सम्बन्धी, परिवार तथा उपाधि का मन में आग्रह बनाये ही रखते हैं ।

शरणागति ही गीता का सार है । अर्जुन ने जब कहा कि मैं आपके आदेश का पालन करने के लिये प्रस्तुत हूँ, तभी भगवान द्वारा अर्जुन के प्रति उपदेश की पूर्णाहुती हुई तभी उपदेश परिपूर्ण हुआ ।

साधक के कुछ न चाहने से उसे सब कुछ मिल जाता है, अतः दुखों से, पापों से छूटने की मुक्ति पाने की इच्छा न कर केवल भगवान के शरणागत हो जाना चाहिये कि तू मेरा है, मैं तेरा हूँ, मैं भगवान का हूँ और भगवान मेरे हैं । इस अपने समर्पण भाव के समान अन्य योग्यता, पात्रता अधिकारिता आदि कुछ नहीं है ।

बहुनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते ।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ।। गीता : ७/१९

यह मनुष्य जीवन २० खरब वर्ष के बाद ८४ लाख योनियों का कष्ट भोगने पर प्राप्त होता है, जो सम्पूर्ण जन्मों का अन्तिम जन्म है । जो केवल जीव के कल्याण साधन का ही एक मात्र स्थान है । विषयों का सुख भोगने के लिये यह जीवन नहीं है, क्योंकि इस मनुष्य जीवन मिलने के पूर्व सब योनियों के सब भोगों को भोग चुके हैं ।

यह तन कर फल विषयन भाई ।
स्वर्गउ स्वल्प अन्त दुःखदाई ।। (रामायण)

भगवान ने यह जीवन जीव को उसके जन्म–मरण के प्रवाह को समाप्त कर परमानन्द पाने के लिये दिया है । तथापि यह मनुष्य ज्ञान प्राप्त कर मुक्ति पाने के लिये प्रयत्न न कर, प्रत्युत् विषयासक्ति से जन्म–मरण के चक्कर में ही चला जाता है । फिर यह पशु–पक्षी, कीट, पतंगादि आसुरी योनियों में जाकर असहनीय कष्ट भोगता रहता है ।

८४ लाख योनियों के भोगों का द्वार इस मानव जीवन से प्रारम्भ होता है और इसी मानव जीवन को प्राप्त कर आत्म ज्ञान द्वारा यह जीव ८४ लाख योनियों के भ्रमण से मुक्ति भी प्राप्त कर सकता । **'साधन धाम मोक्ष का द्वारा'** (रामायण)

यह तन कर फल विषय न भाई,
स्वर्गउ स्वल्प अन्त दुःख दाई ।
जो न तरे भव सागर नर समाज अस पाई ।
सोकृत निन्दक मन्त मति आत्महन गतिजाय ।।
बड़े भाग्य मानुष तन पावा, सुर दुर्लभ सद् ग्रन्थहिं गावा ।
कबहुंक करि करुणा नर देही । देत ईश बिनु हेतु सनेही ।
नर तन सम नहि कवनेउ देही । जीव चराचर याचत तेही ।
नरक स्वर्ग अपवर्ग निसेनी । ग्यान विराग भक्ति शुभ देनी ।
नर तनु पाई विषय मन देई । पलटि सुधा ते सठ विषलई ।

बहुत जन्मों के निष्काम कर्म, उपासना के बाद ही यह मानव जीवन में ज्ञान प्राप्त कर मुक्ति पाने का शुभ अवसर प्राप्त होता है । जिसमें ब्रह्म जिज्ञासा उदय होने के बाद किसी श्रोत्रिय–ब्रह्मनिष्ठ सद्गुरु द्वारा जीव अपने भूले आत्म स्वरूप का स्मरण कर कृतार्थ हो जाता है । इस मनुष्य जीवन में आत्म ज्ञान द्वारा जीव चाहे तो सम्पूर्ण पापों का नाश करके भोग वासनाओं का त्याग कर अपना कल्याण कर सकता है । इस

दृष्टि से यह जन्म, सम्पूर्ण जन्मों का अन्तिम जन्म है । लेकिन परमात्मा को प्राप्त किये बिना, यह जीव विषय भोगों में आसक्त होकर एवं उन्हीं के संग्रह में जीवन समाप्त कर, अधम योनियों में चला जाता है । अर्थात् मृत्यु के समय इसके मन में जिस भोग की इच्छा प्रबल होती है, उसी वासना के अनुसार उसी प्रकार की योनियों में डाल दिया जाता है । जैसे की जड़ भरत मृगनी में आसक्त होकर मृग होकर पैदा हुए ।

यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम् ।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः ।। – गीता :८/६

जैसे मनुष्य योनि में मांसाहार की रुचि रखना यह पाप रूप भोजन है । यह वेद–शास्त्र एवं गुरुजनों से सुन पढ़कर भी मूढ़ मनुष्य अभक्ष भक्षण नहीं छोड़ता है । इसलिये वह मांसाहार प्रकृति के अनुरूप कुत्ता, बिल्ली, बाघ, शेर, चीता, भेड़िया, साँप, चूहा, कौवा चीलादि योनियों को प्राप्त कर लेता है । वहाँ इसे मांसाहार की पूर्ण स्वतन्त्रता रहती है, न खरीदना पड़ता है, न पकाना पड़ता है, न मन में पाप का भय रहता है । मांसाहारी मनुष्य गाय, घोड़ा, हाथी, गधा, सूवर, ऊँट, तोता आदि योनियों को प्राप्त नहीं कर सकेगा । क्योंकि वहाँ मांसाहार की सुविधा उसे नहीं मिल सकेगी । इससे सिद्ध होता है कि भगवान ने मनुष्य जीवन में उसको अपने आगामी जन्म के लिये पूर्ण स्वतन्त्रता दे रखी है कि अब वह अपने नये जन्म की तैयारी करले या वह आत्मज्ञान प्राप्त कर अपना सदा के लिये इस संसार चक्र से उद्धार करले ।

भगवान कहते हैं कि चाहे कितना ही अधम, पापी, चोर, भ्रूण हत्यारा, पिता–माता की हत्या करने वाला, वैश्यागामी, मांसाहारी, पर स्त्री भोगी भी इस जीवन में आत्म ज्ञान पाकर श्रवण कर उस अनुरूप उपासना कर निःसन्देह अति शिघ्र भव सागर से पार हो सकता है ।

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक् ।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः ।। गीता : ९/३०

यदि कोई अतिशय दुराचारी भी अनन्यभाव से मेरा भक्त होकर मुझ को भजता है तो वह साधु ही मानने योग्य है; क्योंकि यथार्थ निश्चयवाला है । अर्थात् उसने भली भाँति निश्चय कर लिया है कि परमेश्वर के भजन के समान अन्य कुछ भी नहीं है ।

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः ।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम् ।।

गीता : ९/३२

हे अर्जुन ! स्त्री, वैश्य, शुद्र तथा पापयोनि – चाण्डालादि जो कोई भी हो, वे भी मेरे शरण होकर परमगति को ही प्राप्त होते हैं । जैसे घोर अन्धकार प्रकाश के सम्मुख रह नहीं सकता, इसी प्रकार पापी जीव को आत्मज्ञान उदय होने पर उसका पाप शेष नहीं रहता है ।

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः ।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं सन्तरिष्यसि ।। गीता : ४/३६

यदि तू अन्य सब पापियों से भी अधिक पाप करनेवाला है; तो भी तू ज्ञान रूप नौका द्वारा निःसन्देह सम्पूर्ण पाप–समुद्र से भली भाँति तर जायगा ।

क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति । गीता : ९/३१

ज्ञानयोग द्वारा मनुष्य सम्पूर्ण पापों से तर जाता है । ज्ञानाग्नि अनन्त जन्मों के अनन्त पापों को इस प्रकार भस्म कर देती है, जैसे सूर्योदय से घना अन्धकार नष्ट हो जाता है ।

अनेक जन्मों के बाद, मुक्ति के साधन अनुरूप यह अत्यन्त दुर्लभ मनुष्य जीवन परमात्मा की दया से अनायास प्राप्त हुआ है । अतः बुद्धिमानी इसी में है कि वह शिघ्र–से शिघ्र मृत्यु आने से पूर्व अपने कल्याण के लिये प्रयत्न करले । संसार सागर से पार होने के लिये यह जीवन सुदृढ़ नौका के समान है तथा सद्गुरु सच्चा केवट (नाविक, मल्लाह) है तथा परमात्मा की कृपा अनुकूल वायु रूप होकर इसके लक्ष्य

प्राप्ति में सहायक है । इतनी सुविधा पाकर भी यदि कोई जीव अपने कल्याण के लिये चेष्टा नहीं करता है तो वह नराधम, आत्म हत्यारा ही है ।

जो न तरे भवसागर नर समाज अस पाई ।
सो कृत निन्दक मंद मति आतम हन गति जाई ।।

मनुष्य जीवन की सार्थकता तो इसी में है कि आत्मज्ञान प्राप्त कर मुक्ति प्राप्त करले । मनुष्य जीवन की महिमा कोई धन, पुत्र, पद, प्रतिष्ठा, बल प्राप्त करने के लिये नहीं है ।

''**उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्नि बोधत**'' कठ.उप.

उठ जाग मुसाफिर भोर भई अब रेन कहाँ जो सोवत है । हे अज्ञान निद्रा में सोने वाले भव्य जीवो ! जागों और श्रेष्ठ महापुरुष की शरण में जाकर अपने अनादि काल से भूले आत्म स्वरूप का अनुभव करलो । तुम उससे किञ्चित् भी पृथक् नहीं हो ।

सब खिलौना खाण्ड के, खाण्ड खिलौना माहि ।
तैसे सब जग ब्रह्म में, ब्रह्म जगत् के माहि ।।

जैसे स्वर्ण की मूर्ति व स्वर्ण का चूहा, चीनी व चीनी के बने खिलौने कारण–कार्य दो नहीं एक ही तत्त्व है । मिट्टी से बनने वाले विभिन्न बर्तन, खिलौना, मनुष्य, पशु, ईंट आदि में एक मिट्टी ही है । आदि, मध्य व अन्त में मूल उपादान धातु ही एकमात्र सत्य है । विभिन्न नाम, आकार तो व्यवहारिक उपयोगिता के लिये कल्पित किये गये हैं । इसी प्रकार यहाँ

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः ।
अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च ।। गीता : १०/२०

हे अर्जुन ! मैं सब भूतों के हृदय में स्थित मैं सबका आत्मा हूँ तथा सम्पूर्ण भूतों का आदि, मध्य और अन्त भी मैं ही हूँ ।

इसी तरह सृष्टि के प्रारम्भ में एक परमात्मा ही थे और सृष्टि रूप में वह ही एक से अनेक रूप में होगये और प्रलय में वही पुनः उसी एक रूप में रह जाते हैं । नाम, रूप नष्ट होने पर मूल उपादान कारण ही अवशेष रहता है ।

जब तक स्वर्ण से बने कार्य रूप अलंकारों पर, मिट्टी से बने कार्य रूप बर्तनों पर दृष्टि रहती है, तब तक उनके कारण स्वर्ण या मिट्टी पर दृष्टि नहीं जाती है । मूढ़ व्यक्ति कार्य को ही महत्व देता है कारण को महत्व नहीं देता है किन्तु विचारशील कार्य को गौण एवं कारण को ही प्रमुख मानता है ।

अज्ञानी जीव की कार्य दृष्टि रहती है एवं ज्ञानी की सदा कारण पर दृष्टि रहती है । कार्य दृष्टि को जीव दृष्टि एवं कारण दृष्टि को ईश्वर दृष्टि कहते हैं । अर्जुन ने भगवान् के अविनाशी रूप को देखने की जिज्ञासा प्रकट की तब भगवान् ने उसे कहा कि उस सनातन अविनाशी रूप का दर्शन इन लौकिक चर्म चक्षु द्वारा कदापि नहीं हो सकेगा । उसके लिये मैं तुझे ज्ञान चक्षु अर्थात् दिव्य दृष्टि देता हूँ जिसके द्वारा तू उस सनातन रूप को देख सकेगा ।

दिव्य चक्षु का अर्थ ज्ञान चक्षु, विमल नेत्र, विचार नेत्र, लय–चिन्तन तथा कार्य रहते हुए उसमें कारण दृष्टि रखना है ।

अब मिश्री पदार्थ में दिव्य चक्षु, ज्ञान चक्षु द्वारा ब्रह्म दर्शन किस प्रकार हो सकेंगे, इसके लिये–चिन्तन प्रक्रिया से समझें ।

कार्य दृष्टि से प्रथम मिश्री दिखाई पड़ती है किन्तु कारण दृष्टि से देखने पर वह चीनी रूप दृष्टि गोचर होती है । चीनी के कारण पर विचार करने से गुड़ दिखाई पड़ता है । गुड़ का कारण रस व रस का कारण गन्ना (ईख, सांटा) दिखाई पड़ता है । फिर ईख का कारण मिट्टी, मिट्टी का कारण जल व जल का कारण तेज, तेज का कारण वायु, वायु का कारण आकाश दिखाई पड़ता है । आकाश का कारण तन्मात्रा, तन्मात्रा का कारण अहं तत्त्व, अहं तत्त्व का कारण महतत्त्व, महतत्त्व का कारण

प्रकृति, प्रकृति का कारण माया, माया का कारण परमात्मा की शक्ति व परमात्मा की शक्ति का कारण स्वयं परमात्मा ही उस मिश्री के रूप में दृष्टि गोचर होते हैं । क्योंकि कारण ही सत्य होता है कार्य तो नाशवान् एवं नाम, रूप वाणी का विकार मात्र ही है । जैसे समस्त अलंकारों में स्वर्ण ही सत्य है अलंकार तो वाणी का विकार कहने मात्र को है ।

'**वासुदेवः सर्वम्**' यह वास्तविक तत्त्व है । इसमें कभी परिवर्तन एवं नाश नहीं होता । कार्य की ही उत्पत्ति एवं नाश होता है । अलंकार ही बनते बिगड़ते हैं किन्तु स्वर्ण सत्ता ज्यों की त्यों ही रहती है ।

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति ।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ।। गीता : ६/३०

अर्थात् जो ज्ञानी भक्त सब में मुझे देखता है और मुझ में सबको देखता है उसके लिये मैं अदृश्य नहीं होता हूँ और वह मेरे लिये अदृश्य नहीं होता है । तात्पर्य यह है कि यहाँ एक ब्रह्म सत्ता के अतिरिक्त अन्य किञ्चित् भी नहीं है ।

नेह नानास्ति किञ्चिन्, 'एक मेवाऽद्वितीयं ब्रह्म'

अतः तत्त्वज्ञानी सब कुछ व्यवहार करता हुआ वह नित्य निरन्तर मुझ में ही स्थित रहता है ।

सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते ।। गीता : ६/३१

जो बदलते संसार को सत्य मानते हैं, वे मूढ़ हैं, परन्तु जिनकी दृष्टि कभी न बदलने वाले परमात्म तत्त्व के तरफ रहती है, वह ज्ञानवान हैं, असम्मूढ़ है । ज्ञानी को भगवान् अपनी आत्मा ही मानते हैं ।

उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम् ।
आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम् ।। गीता : ७/१८

ज्ञानी तो साक्षात् मेरा स्वरूप ही है, ऐसा मेरा मत है । तब ज्ञानी की आत्मा भी भगवान् ही हैं ।

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते ।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ।। गीता : **७/१९**

बहुत जन्मों के अन्त के जन्म में तत्त्वज्ञान को प्राप्त पुरुष सब कुछ वासुदेव ही है– इस प्रकार तत्त्व से जानने वाला पात्र दुर्लभ है 'स महात्मा सुदुर्लभः'। क्योंकि अधिकांश लोगों को तो परमात्मा पाने का विचार तक जाग्रत नहीं होता है।

संसार में धन, पुत्र, पद, प्रतिष्ठा तो प्रारब्धानुसार मिलतें हैं किन्तु परमात्मा की प्राप्ति का अवसर प्रत्येक मनुष्य को है । अतः जो परमात्म तत्त्व शंकर, विष्णु, नारद, राम, कृष्ण, वशिष्ठ, शुक, सनकादि–ज्ञानदेव, कबीर, नानक, तुलसी, मीरा, रैदास, सुरदास, सुन्दरदास, दादु, रज्जव, सदन, धन्ना आदि को प्राप्त हुआ है, वही मुझे भी प्राप्त करना है । ऐसी तीव्र लगन जाग्रत करने वाला मनुष्य ही दुर्लभ है । परमात्मा दुर्लभ नहीं है । अतः मनुष्य को ऐसा अवसर नहीं खोना चाहिये ।

राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम् ।
प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्ययम् ।। गीता : ९/२

यह आत्मज्ञान सम्पूर्ण विद्याओं का राजा है । '**अध्यात्मविद्या विद्यानां**' (१०/३२) अर्थात् यह ब्रह्म विद्या समस्त विद्याओं में श्रेष्ठ है । संसार में जितनी गोपनीय वस्तु है, उनसे अधिक महत्वपूर्ण परम गोपनीय यह ब्रह्मविद्या है । यह विद्या पवित्रता में भी सर्वश्रेष्ठ है । गंगा आदि नदियों में तो पाप निवृत्त होता है । वह मनुष्य भविष्य में पुनः पाप नहीं करेगा ऐसा कोई बांध नहीं है । वह गंगा से बाहर निकलते ही पाप करनें में स्वतन्त्र है और वह पाप कर सकता है और करता रहता है। किन्तु यह ब्रह्म विद्या द्वारा तो दुनियाँ के महान् से महान् पापी, हत्यारे, दुराचारी भी समस्त पापों से सदा के लिये तर जाते है ।

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः ।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं सन्तरिष्यसि ।। गीता : ४/३६

श्रीभगवान का सन्देश है कि कोई भी दुनियाँ के समस्त पापियों से भी अधिक पापी है, तो भी इस ब्रह्म विद्या रूपी ज्ञान नौका पर आरूढ़ होकर वह निःसन्देह सम्पूर्ण पापों से अच्छी तरह सदा के लिये तर जायगा । पापी से पापी भी इस विद्या से शिघ्र धर्मात्मा हो जाता है ।

इसलिये किसी भी मनुष्य को अपने कल्याण के विषय में न तो सन्देह करना है और न निराश होना है क्योंकि मनुष्य जीवन मुक्ति हेतु खुला द्वार है तथा परमात्मा का सब जीवों को समस्त दुःखों से छूटने व परमानन्द प्राप्ति के लिये निमन्त्रण है।

' न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते' – गीता : ४/३८

नहीं कछु दुर्लभ ज्ञान समाना (रामायण)

यह सर्वश्रेष्ठ ब्रह्मविद्या के समान और कुछ उत्तम पवित्र तत्काल फल प्रदायक अन्य कोई यज्ञ, दान, तपादि साधन नहीं है ।

यह ज्ञान योग करने में सभी लोगों को सुलभ एवं सुगम है, क्योंकि परमात्मा स्वयं सिद्ध सबको नित्य प्राप्त है, उसे केवल जानना एवं अनुभव करना हैं । जैसे मृग के नाभि में कस्तूरी होते हुए भी वह अज्ञानता से बाहर खोज–खोज मरता है । इसी तरह अज्ञानी नित्य आत्म तत्त्व को बाहर खोज–खोज मरते रहते हैं । जब किसी सद्गुरु द्वारा आत्म बोध होगा तब यह तत्काल मुक्तता का अनुभव करेगा । इसका यह मतलब नहीं है कि पहले बन्धा था, अप्राप्त था और जो अप्राप्त था वह अब गुरु द्वारा, साधना द्वारा नूतन प्राप्त हुआ है । परमात्मा नित्य प्राप्त सभी प्राणियों का सहज स्वरूप है ।

'राम सच्चिदानन्द दिनेशा'

उसीका अंश जीव अपने में भी सद्गुरु कृपा द्वारा साध्यर्म्यम्ता का अनुभव करलेता है ।

ईश्वर अंश जीव अविनाशी, चेतन अमल सहज सुख राशी ।

जैसे परमात्मा में कर्तृत्व–भोक्तृत्व, जन्म–मृत्यु, बन्ध नहीं होता है, इसी प्रकार अपने आत्मा को जानकर वह ज्ञानी भक्त परमात्मा रूप ही हो जाता है ।

महाप्रलय के समय चौदह लोकों में हलचल मच जाती है । सभी अग्नि में जल जाते हैं । समुद्र के बढ़ जाने से पृथ्वी जल में डूब जाती है । सभी प्राणी दुःखी हो चिल्लाते हैं परन्तु इस महाप्रलय में उन ज्ञानी महात्मा को किसी प्रकार का दुःख या भय नहीं होता है तथा जैसे अज्ञानी लोगों को पुनः उनके कर्मानुसार लोक व योनियों प्राप्त होती है, उसी प्रकार ज्ञानी को महासर्ग अर्थात् सृष्टि काल में पुनः उत्पन्न नहीं होना पड़ता है ।

इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः ।
सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च ।। गीता : १४/२

इस ब्रह्म विद्या का आश्रय लेकर मनुष्य मुझ सच्चिदानन्द स्वरूप को सहज प्राप्त करलेता है ।

ज्ञानाग्नि के द्वारा जब जीव के समस्त कर्म भस्म हो जाते हैं, तब जन्म दिलाने वाले संचित् कर्म ही नहीं होने से फिर किस आधार से उसे जन्म लेना पड़े ? ज्ञानी महापुरुष का कारण शरीर नष्ट हो जाने से उसका पुनः जन्म नहीं होता है । महासर्ग और महाप्रलय प्रकृति में होते हैं या जो मनुष्य प्रकृतिस्थ है, उनका पुनः जन्म होता है । ज्ञानी महापुरुष का प्रकृति से सम्बन्ध विच्छेद हो जाने से, देह भाव नष्ट हो जाने से वह अमृत्व को प्राप्त कर लेता है ।

तात्पर्य है कि प्रकृति से सम्बन्ध नहीं रहने से उस ज्ञानी महापुरुष का 'आत्यान्तिक प्रलय' हो जाता है । प्रकृति के शरीर में अहं भाव रखने से मनुष्य मायावश परतंत्र हो जाता है, जन्म–मरण चक्र में फंस जाता है । परन्तु प्रकृति के कार्य शरीर भाव से सम्बन्ध विच्छेद कर देने पर यह जीव स्वतन्त्र हो, ब्रह्म भाव में स्थित हो जन्म–मरण से सदा के लिये मुक्त हो जाता है ।

अश्रद्दधानाः पुरुषा धर्मस्यास्य परन्तप ।
अप्राप्य मां निवर्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि ।। गीता : ९/३

इस आत्म धर्म पर श्रद्धा न रखने वाला मूढ़, पापी, आत्म–हत्यारा, नराधम मनुष्य योनि से गिरकर बारम्बार जन्म–मरण के चक्र में पड़ता रहता है ।

मनुष्य का जो अपना स्वतः सिद्ध सच्चिदानन्द स्वरूप है, उसे स्वधर्म कहा जाता है एवं प्रकृति का कार्य रूप शरीर को परधर्म कहा जाता है ।

आश्चर्य की बात है कि अज्ञानी मनुष्य अपने शरीर को, कुटुम्ब को, धन–सम्पत्तिको निःसन्देह उत्पत्ति–विनाशशील और प्रतिक्षण परिवर्तनशील देखते, जानते हुए भी उन्हीं में आसक्ति, अहंकार, श्रद्धा और ममता कर बार–बार मृत्यु रूप संसार में भटकता रहता है । परन्तु सब देश, सब काल, सब रूप में विद्यमान परमात्मा को जो सबको नित्य प्राप्त है उसे जानने के लिये प्रयत्न नहीं करता है । तात्पर्य यह है कि जीव, परमात्मा को प्राप्त न करने से इस मृत्यु रूप संसार में बारम्बार भ्रमण करता रहता है ।

केवल मनुष्य शरीर में ही भगवत् प्राप्ति का अवसर होता है, उसे पाकर भी परमात्मा के प्रति श्रद्धा, प्रेम न होने के कारण केवल संसार में ही भ्रमण करता रहता है । परमात्मा को पहचानने का, मुक्तिपाने का, या भव सागर से पार होने का अवसर तो इस मनुष्य शरीर में ही प्राप्त होता है । किन्तु अभागा जीव भगवान को प्राप्त करने की इच्छा न कर, जो हमारे नहीं, उन देश, गांव, कुटुम्ब, धन, पदार्थ को अपना मान मृत्यु को ही स्वीकार करता है । प्रबल पुरुषार्थ करके जीव को अपनी भूल मिटाना चाहिये । हमतो भगवान के हैं, भगवान का धाम ही हमारा सच्चा घर है । हम वहीं से आये हैं, विद्या अध्ययन करने । हमें पुनः वहीं लौटना है । ऐसा मन में भाव रखना चाहिये ।

भगवान् की प्राप्ति तो सभी के लिये सुगम है, क्योंकि वह सबका सहज नित्य सिद्ध स्वरूप है । तात्पर्य यह है कि हम जन्म-मृत्यु वाले संसार के नहीं हैं, यहाँ की वस्तु हमारी नहीं है । हम इन अनित्य, कुटुम्ब पदार्थ के नहीं है । हम तो परमात्मा के हैं और परमात्मा ही हमारे हैं ।

आत्म ज्ञान पर श्रद्धा न रखने वाले मनुष्य नाशवान् भोगों में सुख बुद्धि एवं सत्य बुद्धि कर बार-बार जन्मते-मरते एवं दुःख पाते हैं ।

कथं विद्यामहं योगिंस्त्वां सदा परिचिन्तयन् ।
केषु केषु च भावेषु चिन्त्योऽसि भगवन्मया ।। गीता : १०/१७

अर्जुन भगवान से पूछते हैं कि हे प्रभो ! मैं आपका निरन्तर चिन्तन किस रूप में करूँ ? जिस चिन्तन से मैं आपको जान पाऊँ, वह आपका चिन्तन मैं कहाँ-कहाँ करूँ ? किस वस्तु, देश, काल, घटना, परिस्थिति आदि में मैं आपका चिन्तन करूँ ? हे प्रभो ! मैने वेद अध्ययन द्वारा जाना है कि भगवान् के निर्गुण निराकार स्वरूप का साधक जब तक अनुभव नहीं करेगा तबतक इसका परम कल्याण नहीं हो सकेगा । आप मुझे अपना वही रूप, स्थान बतावें, जिसके द्वारा मैं सुगमता पूर्वक आपका नित्य-निरन्तर चिन्तन कर सकूँ । आपके सगुण साकार रूप का दर्शन, सेवा तो हम रोज करते ही है, किन्तु इससे जीव को कौवल्य मुक्ति नहीं मिलती है ।

समस्त संसार एक मात्र भगवान का ही रूप है **'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'** **'वासुदेवः सर्वमिति'** यह पहले बताया जा चुका है कि यहाँ एक ब्रह्म के सिवाय अन्य कुछ भी नहीं है फिर उसमें क्या गौण और क्या मुख्य ? साधक की दृष्टि में गौण तथा मुख्यता का भेद है परन्तु पूर्ण ज्ञानी की दृष्टि में कोई भेद नहीं सभी रूप उसी के है **'पण्डिताः समदर्शिनः'** । ५/१८

प्रारम्भ में दृश्य-द्रष्टा के विवेक द्वारा ही साधक के मन में ज्ञान की प्रथम किरण फूटती है । संसार में दो ही तत्त्व पाये जाते है । जिन्हें द्रष्टा-दृश्य, ज्ञाता-ज्ञेय, ध्यान-ध्येय, प्रमाता-प्रमेय, अनुभोक्ता-अनुभाव्य, जड़-चेतन, स्वयंप्रकाश-परप्रकाश, इस प्रकार भिन्न नाम से कहे जाते हैं ।

जिसने दृश्य, ज्ञेय, ध्येय, प्रमेय, जड़, पर प्रकाश को जान लिया वह द्रष्टा, ज्ञाता, प्रमाता, ध्याता, चेतन, स्वयं प्रकाश उन–उन जानी गई, देखी गई दृश्य वस्तुओं से पृथक् ही होता है । तुम द्रष्टा कभी दृश्य नहीं हो सकते । तुम दृश्य से असंग, दूर ही रहते हो ।

यहाँ सब एक ब्रह्म है । इस ज्ञान की पूर्णता में द्रष्टा–दृश्य, ज्ञाता–ज्ञेय, ध्याता–ध्येय, प्रमाता–प्रमेय, अनुभोक्ता–अनुभाव्य दो नहीं एक ही है । यदि दो मानते रहेंगे तो अद्वैत की सिद्धि नहीं होगी प्रत्युत् द्वैत की ही सिद्धि होगी । द्वैत का स्वीकार करना तो फिर अज्ञान ही होगया । साधकों को सद्गुरु ज्ञान का प्रथम पाठ द्रष्टा दृश्य से प्रारम्भ करना चाहिए। और जब पूर्णता का बोध होता है तब मैं ही सर्व हूँ इस प्रकार ज्ञान हो जाता है ।

देखत देखत ऐसा देख कि मिटजाय द्वैत रहजावे एक

जब दृश्य को सता शून्य कहा जाता है तब द्रष्टा भी सत्ता शून्य हो जाता है । जैसे पुत्र नहीं रहा तो फिर उस पुरुष के साथ पिता उपाधि भी समाप्त हो जाती है । पुत्र मरा तो पिता भी मरा, पति मरा तो पत्नी भी मरी किन्तु स्त्री बची रहेगी । इसी तरह जब दृश्य सत्य नहीं तो उसका द्रष्टा कहाँ बच रहेगा, वह भी दृश्य के तिरोहित होते ही समाप्त हो जावेगा । द्रष्टा व दृश्य दोनों एक ही श्रेणी के हैं । द्रष्टा से दृश्य अलग नहीं है । द्रष्टा दृश्य के बिना खड़ा नहीं रह सकता । तुम द्रष्टा का निर्णय कैसे कर सकोगे ? द्रष्टा की पहचान तो दृश्य के द्वारा ही हो सकेगी । दृश्य के बिना द्रष्टा बन ही नहीं सकता । द्रष्टा की परिभाषा में दृश्य को खड़ा करना ही पडेगा । तब वह द्रष्टा दृश्य से अलग कहाँ रहा ? एक ही है ।

पहले दृश्य गिर जाता है फिर द्रष्टा भी गिर जाता है और जब द्रष्टा खड़ा होगा तो उसके सामने सबसे पहले दृश्य को खड़ा होना आवश्यक होगा । अन्यथा तुम किस बात के द्रष्टा बन सकोगे ? बन ही नहीं सकते । जो द्रष्टा है वह दृश्य ही है । दो नहीं एक ही है और यही घोषणा

उपनिषदों की है **'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' 'नेह नानास्ति किंचन', 'एकमेवाऽद्वितीय ब्रह्म', 'ईशा वास्यमिदं सर्वम्'** ।

विद्या विनय सम्पन्ने ब्राह्मणे गविहस्तिनि ।
शुनि चैवश्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः ।। गीता : ५/१८

ज्ञानीजन विद्या और विनययुक्त ब्राह्मण में तथा गौ, हाथी, कुत्ते और चाण्डाल में समान एक आत्मदृष्टि रखते हैं किन्तु अर्जुन साधक की दृष्टि से पूछ रहे हैं कि मैं आपका किस रूपका चिन्तन करूँ, जो मेरी योग्यतानुसार सुगम हो ।

ज्ञानी महापुरुष जिस ओर भी देखते हैं, उसे हर रूप में एक परमात्मा ही अनुभव में आता है । अब पण्डित किसे कहते हैं उस सम्बन्ध में कहते हैं ।

शिखाज्ञानमयी यस्य उपवीतं च तन्मयम् ।
ब्राह्मण्यंसकलं तस्य इति ब्रह्मविदो विदुः ।।– ब्रह्मोपनिषद

जिसकी शिखा ज्ञान स्वरूप है और जिसका यज्ञोपवित भी ज्ञान स्वरूप है ऐसे ज्ञानी को ही ब्रह्मवेत्ता लोग पूर्ण ब्राह्मण कहते हैं ।

कर्मण्यधिकृता ये तु वैदिके लौकिकेऽपि वा
ब्राह्मणाभासमात्रेण जीवन्ते कुक्षिपूरका ।।९ ।। परब्रह्मोपनिषद

व्रजन्ते निरयं ते तु पुनर्जन्मनि जन्मनि ।। – परब्रह्मोपनिषदः९

वैदिक अथवा लौकिक कर्मों में ही अपना अधिकार मानने वाले केवल ब्राह्मण के आभास मात्र है और पेट भरने के लिये ही जीते हैं । वे सारे जन्म में पुनः पुनः घूमते रहते हैं, उनका मुक्ति नहीं ।

शिखा ज्ञानमयी यस्य उपवीतं च तन्मयम् ।
ब्राह्मण्यं सकलं तस्य नेतरेषां तु किञ्चन ।। – परब्रह्मोपनिषदः९

जिसकी शिखा ज्ञानमयी है । ज्ञानमय ही यज्ञोपवीत है । उसके पास ही सकल ब्राह्मण्य है किन्तु इतरों के पास थोड़ा भी नहीं ।

यत्र यत्र मनोयति तत्र तत्र समाधयः ।

अहमात्मा गुडाकेश सर्व भूताशय स्थितः ।
अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च ।। गीता : १०/२०

किसी भी वस्तु में जो विशेषता दिखाई पड़ती है और उसमें वृत्ति जाती है तो वहाँ भगवान् की सत्ता का ही अनुभव करना चाहिये, न कि उस वस्तु या व्यक्ति का ।

यहाँ भगवान् ने अर्जुन की जिज्ञासा एवं प्रश्न के अनुसार अपनी सम्पूर्ण विभूतियों का सार कहा है कि जहाँ–जहाँ श्रेष्ठता को लेकर तेरी वृत्ति, दृष्टि, जाती है, वहाँ–वहाँ तू उनके आदि, मध्य एवं अन्त में अधिष्ठान रूप मैं आत्मा हूँ, ऐसा जान ! उस नाम–रूप विनाशी पदार्थ को तू सत्य मत मान । यह नियम है कि जो तत्त्व, वस्तु निर्माण के प्रारम्भ एवं अन्त में होता है, वही तत्त्व मध्य में भी होता है । चाहे मध्य में वह नहीं दिखाई पड़े, तब भी वही सत्य समझना चाहिये । जैसे अलंकार बनने के पूर्व व नष्ट होने पर एक स्वर्ण ही सत्य होता है तो मध्य में अलंकार रूप में जो दिख रहा है, वह स्वर्ण ही सत्य है ।

इसी तरह सम्पूर्ण प्राणियों के आदि मध्य और अन्त में एक परमात्मा ही सत्य है । सृष्टि के प्रारम्भ से पूर्व एक परमात्मा होते हैं । सृष्टि काल में भी एक परमात्मा रहते हैं तथा प्रलय पश्चात् भी एक परमात्मा ही रहते हैं । यह बताने के लिये ही यहाँ भगवान ने अपने को सम्पूर्ण प्राणियों के आदि, मध्य एवं अन्त में बताया । इसका तात्पर्य है कि यहाँ एक भगवान के अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं ।

''**सत्त्वेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवा द्वितीयम्**''

– छान्दोग्य, उप, ६/२/३

हे सोम्य ! आरम्भ में यह एकमात्र अद्वितीय सत्य ही था ।

तदैक्षतबहुस्यां – छान्दोग्य, उप, ६/२/३,

उस सत ने इक्षण किया कि मैं बहुत हो जाऊँ ।

'अहमात्मा सर्वभूताशयस्थितः'

सब भूत प्राणियों में आत्मा रूप से, चैतन्य रूप से, द्रष्टा, साक्षी रूपसे मैं ही हूँ ।

सृष्टि पर विचार करें तो जाने की सृष्टि के आदि, मध्य एवं अन्त में एकमात्र मैं आत्मा ही हूँ ।

भगवान् आत्मा के सिवा चर–अचर में कुछ भी अन्य नहीं है और हो भी नहीं सकता । '**एकमेवाऽद्वितीय ब्रह्म**' ।

ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत् । – ईशा.उप.१

इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन ।
न चाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति ।। गीता : १८/६७

जो सत्य धर्म को प्राप्त करने में शम, दम, श्रद्धा, तितिक्षावान् नहीं है, जिसको भोगासक्ति है, उस अपवित्र मनुष्य को यह सर्व गुह्यतम् आत्म तत्त्व का उपदेश चर्चा नहीं करना चाहिये । जो भक्ति का खण्डन करने वाला है, वह 'अभक्त' है । जो अहंकार के कारण सुनना नहीं चाहता है, ऐसे अश्रद्धालु को भी यह परम गुह्यतम आत्म तत्त्व नहीं सुनना चाहिये ।

जिसकी भगवान् के पवित्र जीवन पर दोष दृष्टि है, जो भगवान् के गीता उपदेश में श्रद्धा नहीं करता है, ऐसे अधम मनुष्यों को भी यह परम पवित्र अति गुह्यतम आत्म ज्ञान नहीं सुनाना चाहिये ।

जो भगवान् व गुरु के गुणों में दोष दर्शन करता है, उसको भी नहीं सुनाना चाहिये क्योंकि वह अशुद्ध मन वाला है । वह सुनकर भी भगवान् के चरित्र की निंदा कर गुणों में दोषारोपण ही करेगा ।

नापुत्राय प्रदातव्यं नाशिष्याय कदाचन ।
गुरुदेवाय भक्ताय नित्यं भक्तिपराय च ।। (ब्रह्मविद्या उप. ४७)

जो पुत्र अथवा शिष्य भी नहीं उसे यह विद्या नहीं देनी चाहिये । यह ब्रह्मविद्या उसी पुरुष को देनी चाहिए जो गुरु का सच्चा भक्त हो और

नित्य भक्ति परायण हो । ऐसे को ही यह विद्या देनी चाहिए अन्य किसी अश्रद्धालु को नहीं ।

य इमं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति ।
भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः ।। गीता : १८/६८

जो ज्ञानी निःस्वार्थ, निष्काम, अदम्भ भाव से इस परम पवित्र, परम गोपनीय आत्म तत्त्व को, अज्ञानी जीवों पर दया करके उनको अपने सच्चे द्रष्टा आत्म स्वरूप का बोध करायेगा तथा सब का कल्याण हो इस भावना से प्रेरित हो यह ज्ञान दान करता है, वह स्वाध्याय यज्ञ तथा ज्ञान यज्ञ का करने वाला मेरा भक्त मुझे ही प्राप्त होता है ।

जिसकी भगवान् में श्रद्धा–विश्वास है और उनके वचनों में पूज्य भाव है, जो यह आत्म ज्ञान सुनने का अभिलाषी है, ऐसे मेरे भक्तों को जो कहेगा वह मेरा भक्त मुझे ही प्राप्त होगा ।

न च तस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः ।
भविता न च मे तस्मादन्यः प्रियतरो भुवि ।। गीता : १८/६९

इस आत्मज्ञान को भगवान् के तरफ चलनेवाले भक्तों को विधि पूर्वक सरलता व सुगमता से कहेगा उससे उन भक्तों को परमार्थिक मार्ग में निःसन्देहता पूर्वक आगे बढ़ने का साहस एवं युक्तियाँ मिलेगी, शंकाओं का समाधान मिलेगा, साधन करने की कठिनाइयाँ दूर होंगी, जिससे वे उत्साह पूर्वक सुगमता से अति शिघ्र ही अपने लक्ष्य को प्राप्त कर सकेंगे ।

भगवान् कहते हैं कि वह मुझे सबसे अधिक प्यारा होगा । पृथ्वी पर उससे अधिक मेरा कोई भी प्रियतर नहीं हो सकेगा ।

जो अपने मन में लौकिक–पारलौकिक प्राकृत पदार्थों की महत्ता आसक्ति रखता है, आवश्यकता समझता है और प्राप्त करना चाहता है, वह पराभक्ति के अन्तर्गत नहीं आता है । पराभक्ति के अन्तर्गत वही आ– सकता है, जिसका प्राकृत पदार्थों को प्राप्त करने की अभिलाषा किञ्चित् मात्र भी नहीं है और भगवत्प्राप्ति के उद्देश्य से ही गीता के अनुसार जीवन

बनाना चाहता है । ऐसा वैराग्यवान् विवेकी पुरुष ही इस गीता तत्त्व के प्रचार करने का अधिकारी है । हर एक गीता प्रचार के अधिकारी नहीं हो सकते हैं ।

अध्येष्यते च य इमं धर्मं संवादमावयोः ।
ज्ञानयज्ञेन तेनाहमिष्टः स्यामिति मे मतिः ।। गीता : १८/७०

इस प्रत्यक्ष फल देने वाले, अति पवित्र, परम गोपनीय, धर्ममय, सुसाध्य, सुगम आत्मतत्त्वोपदेशको ज्यों-ज्यों पढ़ेगा, पाठ करेगा उसके भावों को समझने का प्रयास करेगा त्यों ही उसके हृदय में आत्म प्रेम जाग्रत होगा, शंका समाधान होता जावेगा, शान्ति उदय होती चलेगी । उसके द्वारा मैं ज्ञान यज्ञ से पूजित होऊँगा, ऐसा मेरा मत है ।

श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परन्तप ।
सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते ।। गीता : ४/३३

हे परन्तप अर्जुन ! पदार्थों व क्रियाओं द्वारा होने वाले द्रव्यमय यज्ञ की अपेक्षा 'ज्ञान यज्ञ' अति उत्तम है । तथा यावन्मात्र सम्पूर्ण कर्म ज्ञान में समाप्त हो जाते हैं ।

जहाँ किसी ज्ञानी पुरुष द्वारा अपने आत्म कल्याणार्थ निष्कपट भाव से प्रश्न किया जाता है और उसे ज्ञानी द्वारा निष्काम भाव द्वारा समाधान किया जाता है । आत्म-अनात्म विचार के अनुसार अपनी वास्तविक स्थिति का अनुभव किया जाता है । तथा वास्तविक तत्त्व को जानकर ज्ञात-ज्ञातव्य हो जाता है । उस संवाद को ज्ञान यज्ञ कहते हैं ।

भगवान् कहते हैं कि हे अर्जुन ! हमारे तुम्हारे बीच हुए इस आत्मज्ञान सम्बन्धी संवाद का नित्य विचार पूर्वक जो पाठ करेगा तो मैं उस पाठ कर्ता द्वारा पूजित होऊँगा ।

कश्चिदेतच्छ्रुतं पार्थत्वयैकाग्रेण चेतसा ।
कच्चिदज्ञानसम्मोहः प्रनष्टस्ते धनञ्जय ।। गीता : १८/७२

श्रवण करने का नियम एकाग्रता है, बिना एकाग्रता के यथार्थ श्रवण नहीं हो सकता । दूसरी बात श्रद्धा है 'श्रद्धावान् लभते ज्ञानम्' सद्गुरु एवं सत् शास्त्र पर अपने कल्याण का पूर्ण विश्वास होने को श्रद्धा कहते हैं ।

भगवान् अर्जुन से पूछते हैं कि तू जिस चिन्ता, शोक, भय एवं पाप आदि बातों के लिये व्याकूल हो रहा था एवं मेरे से कल्याणार्थ समाधान चाहा था तो क्या वह तूने पूर्ण एकाग्रता से एवं श्रद्धापूर्वक सुना है ?

यदि तूने एकाग्रता एवं श्रद्धापूर्वक सुना है, तो फिर बता तेरे मन से अज्ञानता से उत्पन्न हुआ मोह नष्ट हुआ कि नहीं ? यदि मोह, भय, चिंता, शोक आदि नष्ट हुए हैं तो मैं जानूँगा कि तूने मेरे उपदेश को ठीक सावधान मन से सुना है । यदि तेरे मन में सन्देह, भय, शोक, चिन्ता वैसे ही बने हुए हैं तो फिर मैं समझूंगा कि तूने मेरे उपदेश को एकाग्रता एवं श्रद्धा विश्वास पूर्वक सुना ही नहीं । क्योंकि जो इस आत्म उपदेश गीता ज्ञान को श्रद्धापूर्वक सुनता है या पढ़कर मनन करता है, उसका मोह नष्ट होकर वह कल्याण को उसी तरह प्राप्त हो ही जाता है जैसे सात दिनों में मृत्यु के भय से भयभीत राजा परिक्षित शुकदेव परमहंस द्वारा भागवत् कथा श्रवण मात्र से मृत्यु भय से मुक्त हुए ।

अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वान्येभ्य उपासते ।
तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः ।। गीता : १३/२५

जो ध्यान योग, कर्म योग, सांख्य योग का साधन नहीं कर पाते है, ऐसे मन्दबुद्धि वाल पुरुष किसी श्रोत्रिय –ब्रह्मनिष्ठ सद्गुरु द्वारा देहभाव – जातिभाव, नामादि की तरह अपने आत्म स्वरूप का दृढ़ निश्चय करके, वे श्रवण परायण पुरुष बिना अन्य कठिन साधन किये मृत्यु रूप संसार – सागर को निःसन्देह तर जाते हैं ।

अतः हे अर्जुन ! अब तू मन की अवस्था को बता कि तेरे मन में मेरे उपदेश श्रवण कर क्या अन्तर पड़ा ?

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत ।
स्थितोऽस्मि गत सन्देहः करिष्ये वचनं तव ।। गीता : १८/७३

भगवान् के पूछने पर अर्जुन अपना अनुभव बता रहे हैं कि हे प्रभो ! आपकी कृपा से मेरा अज्ञान जनित मोह नष्ट हो गया और मुझे मेरे आत्म स्वरूप की स्मृति जाग्रत हो गई जिसे मैं भूलकर देह में ही मैं – मेरा भाव कर रहा था ।

अर्थात् जो अनादि अनन्त जीव का स्वरूप है, उस स्वरूप का प्रकट होना ही यहाँ 'स्मृति' है और जो देहाध्यास के कारण स्वरूप पर आवरण हो गया था उसका हट जाना ही 'लब्धा' है । किसी नूतन अप्राप्त वस्तु की यहाँ किसी प्रकार की प्राप्ति नहीं हुई । तात्पर्य यह हुआ कि ज्ञान योग से नित्य प्राप्त स्व–स्वरूप की स्मृति हो गई । जिसकी केवल विस्मृति हुई थी, अभाव नहीं हुआ था । जैसे आपरेशन के समय डाक्टर रोगी की चेतना को सुला देता है, बाद में नशा समाप्त होने से पुनः अपनी सुप्त चेतना, स्मृति जाग्रत हो जाती है ।

इसी तरह अज्ञानता से जो स्वरूप से बुद्धि की विमुखता हो गई थी, अब वह पुनः ज्ञान द्वारा सम्मुख हो गई । सब कुछ वासुदेव है, यह स्मृति जाग गई । यह अनुभव का अनुभव भगवत्कृपा से ही होता है । एकबार स्मृति हो जाने पर क्या यह फिर विस्मृति हो जायगी ? तो कहा – **'यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहम्'** अर्थात् उसको मैं रूप से जान लेने के बाद फिर विस्मृति नहीं होती ।

जैसे कर्ण कुन्ती पुत्र, पाण्डु पुत्र ही था, किन्तु जन्म से सूद पुत्र होने का आवरण बुद्धि में आजाने पर भी उसका शरीर दृष्टि से कुन्ती पुत्र होने का सम्बन्ध नहीं टूटा था, वह ज्यों का त्यों कुन्ती पुत्र ही था । जब स्मृति हो गई कि मैं पाण्डु पुत्र, कुन्ती पुत्र ही हूँ, इस स्मृति का फिर कभी जीवन पर्यन्त विस्मरण नहीं हो सका । जीव अनादि काल से परमात्मा का है, उसकी परमात्मा के साथ स्वतःसिद्ध एकता है । केवल देह में

अहंता और देह सम्बन्धियों में ममता जाग्रत हो जाने से स्वरूप के तरफ से दृष्टि हट गई थी ।

अब देह से दृष्टि हट स्वरूप पर चली गयी इसे ही '**स्मृति लब्धा**' कहा है । अर्जुन को किसी नूतन तत्त्वकी प्राप्ति नहीं हुई है । '**स्थितोऽस्मि गत सन्देहः करिष्ये वचनं तव**' । पहले क्षत्रिय जाति की दृष्टि से युद्ध करना धर्म लगता था इसीलिये युद्ध भूमि में बख्तर पहन हाथ में ढाल तलवार लेकर खड़ा हुआथा । किन्तु अपने सम्बन्धी जनों को देख पाप होने के भयसे, युद्ध करने से मैं इन्कार कर रहा था, परन्तु आत्म स्वरूप की असंगता का बोध होने से युद्ध करूँ न करूँ सब उलझन समाप्त हो गई । अब कुछ सन्देह नहीं है, कुछ कर्तव्य मेरे लिये शेष नहीं, अब तो जैसा आप कहेंगे, वैसा ही मैं करूँगा ।

साधनों से सिद्धावस्था को प्राप्त भक्तों के लक्षण

(गीता–अध्याय १२)

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च ।
निर्ममो निरहङ्कार समदुःख सुखः क्षमी ।। गीता : १२/१३

सन्तुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढ़ निश्चयः ।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः ।। गीता : १२/१४

'अद्वेष्टा सर्वभूतानाम्'

अनिष्ट करनेवालों के प्रति भी उस भक्त के मन में किसी प्रकार किञ्चित् भी द्वेषभाव जाग्रत नहीं होता है, क्योंकि वह सभी प्राणियों के रूप में एक मात्र अपने भगवान् को ही देखता है । जो ज्ञानी की सहज स्थिति होती है ।

निज प्रभु मय देखहि जगत, केहि सन करहि विरोध ।

भक्त के शरीर या उसके सिद्धान्त के प्रतिकूल कोई कितना भी विरोध निंदा दुर्व्यवहार करे, उसकी भक्ति में बाधा डाले, उसकी शारीरिक

या आर्थिक हानि पहुँचाये पर भक्त के मन में किञ्चित् भी द्वेष भाव नहीं होता है । वह सब दिखाई देने वाले अनिष्ट में भी भगवत् कृपा का ही अनुभव करता है ।

प्राणी मात्र स्वरूप से भगवान् के अंश है । भगवान् उसी में जीव रूप से विराजमान हैं । फिर उनके प्रति कुछ भी द्वेषभाव करना या बदला लेना भगवान् के प्रति ही द्वेष है । इसलिये किसी प्राणी से वैर या द्वेष करने से भगवान् के प्रति, अखण्ड व अनन्य प्रेम नहीं हो सकता । किसी के प्रति द्वेष करने से तो भगवान् के प्रति अनन्यता नहीं रहेगी उतने अंश से विमुखता हो जावेगी । अतः प्राणी मात्र के प्रति वैर भाव से रहित होने पर ही भगवान् के साथ पूर्ण प्रेम हो सकता है ।

'**मैत्रः करुण एव च**' – भगवत् भक्त के मन में द्वेष भाव तो रहता ही नहीं । साथ उसके मन में प्राणी मात्र के प्रति दया, प्रेम एवं करुणा भी बनी रहती है ।

'सुहृदः सर्व देहिनाम्' – जो भी भक्त का अनिष्ट करता है, भक्त के मन में उसके प्रति मित्रता का व्यवहार होता है ; क्योंकि उस रूप में भी वह भगवान् को ही देखता है । भक्त के मन में यह भाव रहता है कि उसके द्वारा जो भी मेरे लिये प्रतिकूल व्यवहार हुआ है, वह भगवान् का न्याय है । मेरे लिये ठीक ही किया है । मेरे पूर्व कृत पापों का ही किसकी द्वारा नाश हो रहा है । मैं पिछले पाप को भोग कर शुद्ध हो रहा हूँ । ऐसा भाव मन में हर ज्ञानी भक्त के बना रहता है ।

सुखियों के प्रति मैत्री एवं दुःखियों के प्रति करुणा का भाव रहता है । अतः दुःख देने वाले दया के विशेष पात्र हैं ।

'निर्ममः' – सबके प्रति मैत्री, करुणा, दया होने पर भी भक्त किसी में ममता आसक्ति नहीं करता है । उसकी अपने शरीर में भी ममता नहीं रहती है । किसी पदार्थ या व्यक्ति में ममता ही जीव को बान्धने वाली होती है । निर्ममता ही मुक्ति है । निर्मम और ममता इन दो पदों में ही बन्ध–मोक्ष है ।

'निरहंकार' – भक्त को अपने शरीर, नाम, जाति, आश्रम शक्ति का किञ्चित् भी अहंकार नहीं रहता है ।

'समदुःख सुखः' – भक्त प्रारब्ध से प्राप्त सुख–दुःख में सम भाव ही रखता है । वह सुख–दुःख जिनके द्वारा प्राप्त करता है, उनके प्रति राग–द्वेष नहीं करता है । अनुकूल और प्रतिकूल अवस्था आने पर हर्ष–शोकवान् नहीं होता है ।

'क्षमी' – भक्त अपने प्रति किसी प्रकार का अपराध करने वाले दुष्ट या चोर को वह दण्ड देने की इच्छा न रख उसे क्षमा कर देना ही उसका मनोभाव रहता है ।

'सन्तुष्टः सततम्' – आनन्द स्वरूप भगवान् को प्राप्त भक्त के मन में हर अनुकूल – प्रतिकूल परिस्थिति में सन्तुष्टि निरन्तर बनी रहती है । वह भौतिक पदार्थों को अधिक प्राप्त करने या उनके संग्रह में रुचि नहीं रखता है । यथा प्राप्त में भगवान् का प्रसाद जान सन्तुष्ट रहता है ।

'योगी'– नदी में सागर की तरह भक्त परमात्मा के साथ सदा अभिन्नता रखने से योगी है । भक्त अपने को परमात्मा का किसी काल में वियोग नहीं देखता है ।

'यतात्मा'– सिद्ध भक्त को मन, बुद्धि वश में करना नहीं पड़ता है । उसका मन–बुद्धि निरन्तर भगवान् में ही जुड़ा रहता है । उसे जोड़ना नहीं पड़ता है । उसका इन्द्रिय, मन, बुद्धि पर पूर्ण अधिकार रहता है । दुर्गुण, दुराचार की ओर सिद्ध भक्त का मन नहीं जाता है ।

'दृढ़निश्चयः'– उसकी बुद्धि में एक परमात्मा का ही दृढ़ निश्चय रहता है । संसार की वह स्वतन्त्र सत्ता नहीं मानता है । वह संसार के प्रति सत्य व सुख बुद्धि नहीं करता है ।

'मय्यर्पितमनोबुद्धिः'– भक्त के मन बुद्धि एक मात्र भगवान् का ही चिन्तन मनन करता है । अन्य अनात्म विषयक चिन्तन मनन नहीं करता है । उसे पर चर्चा नहीं सुहाती है । भक्त के लिये भगवान् से अधिक प्रिय एवं श्रेष्ठ कुछ भी अन्य नहीं है । इसलिये उसका मन भगवान् के अलावा किसी लोक चर्चा का चिन्तन मनन नहीं करता है ।

जिसका जिसमें प्रेम होता है, उसी का चिन्तन मनन स्वतः ही होता रहता है । उसके लिये करना नहीं पड़ता ।

कामिहि नारी पियारी जिमि, लोभी के जिमि दाम ।
तिमि रघुनाथ निरन्तर प्रिय लागहुँ मोहि राम ।।

जिस भक्त ने स्वयं को ही भगवान् के अर्पित कर दिया है उस भक्त के मन बुद्धि तो स्वतः ही अर्पित हो जाते हैं ।

ध्यान देने योग्य विशेष बात

यहाँ विवेकी जन यह समझे कि मन, बुद्धि से कल्पित भगवान् में, मन बुद्धि कैसे अर्पित हो सकेंगे ? जो भगवान् स्वयं ही मन, बुद्धि के आधीन है ? वे भगवान् तो सुषुप्ति में मन के साथ लीन हो जायेंगे । अतः मन जिसमें लीन होता है वही परमात्मा का सच्चा रूप है । अभ्यास तथा एकाग्रता से जिसकी कल्पना करते हैं, वही मूर्ति बहुत अभ्यास से ध्यान में प्रकट होती है । जब मन चंचल होता है, तब वह मूर्ति भी अदृश्य हो जाती है । अतः जिसकी भक्ति के लिये मन निरोध करना पड़े, वह सहज भक्ति नहीं है । सहज भक्ति तो वह है कि मोटर चला रहे हो, युद्ध हो, दुकान पर बैठे हो, आप्रेशन कर रहे हो, बाजार में हो एवं ध्यान सहज सर्वदा बना रहे **'तस्मात् सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युद्ध च'** ।

देखो जव तक भगवान् को नहीं जान लोगे तब तक न उसका ध्यान कर सकोगे न उसको मन, बुद्धि समर्पित कर सकोगे ।

तो भगवान् कैसा है ? ''**अनाशिनो अप्रमेयस्य**'' । नित्य रहने वाला तथा किसी प्रमाण से जाना नहीं जाता ऐसा वह परमात्मा है, तब कैसे उसका ध्यान निरन्तर कर सकोगे ?

जो निरन्तर रहेगा उसी का ध्यान निरन्तर हो सकेगा । जड़ औषधि द्वारा मन, बुद्धि तो स्वयं मुर्छित हो जाते हैं । सुषुप्ति में भी अज्ञान में लीन हो जाते हैं । वह मन, बुद्धि खुद अज्ञान के समर्पित हो जाते हैं, तब उससे उत्पन्न भगवान् भी उसके साथ लीन हो जावेंगे ।

इस सुषुप्ति व मुर्छा अवस्था को जो जान रहा है, वह केवल तुम साक्षी, नित्य, आत्मा हो, उसका ही नित्य वास है और मन, बुद्धि पहले से ही उनके समर्पित है ।

परमात्मा अप्रमेय, अचिन्त्य है । तब उसका चिन्तन अनात्म मन से कभी नहीं हो सकता है । जो मन का, बुद्धि का प्रकाशक है, उसको मन–बुद्धि कैसे प्रकाशित कर सकेंगी ?

जाग्रत्स्वप्नसुषुप्त्यादिप्रपंञ्च यत्प्रकाशते ।
तत्ब्रह्माहमिति ज्ञात्वा सर्वबन्धैः प्रमुच्यते ।। कैवल्योपनिषत् १७

जब जीव इस बात को जान जाता है कि जाग्रत,स्वप्न और सुषुप्ति आदि तीनों अवस्थाओं में जो मायिक प्रपंञ्च दिखाई देता है उसे जो प्रकाशता है वह मैं हूँ, तब वह सारे बन्धनों से मुक्त हो जाता है ।

मय्येव सकलं जातं मयि सर्वं प्रतिष्ठितम् ।
मयि सर्वं लयं याति तद्ब्रह्माद्वयमस्म्यहम् ।।

– कैवल्योपनिषत् १९

यह सारा दृश्यादृश्य प्रपञ्च मुझसे ही उत्पन्न हुआ, मुझमें ही सर्व प्रतिष्ठित है और मुझमें ही सर्व लय होता है, वह अद्वय ब्रह्म मैं ही हूँ ।

तद्वा एतदक्षरं गार्ग्यदृष्टं द्रष्टृश्रुतंश्रोत्रमतं मन्त्रविज्ञातं विज्ञातृ नान्यदतोऽस्ति द्रष्टृ नान्यदतोऽस्ति श्रोतृ नान्यदतोऽस्ति मन्तृ नान्यदतोऽस्ति विज्ञात्रेतस्मिन्नु खल्वक्षरे गार्ग्याकाश ओतश्च प्रोतश्चेति ।

– बृहदा.उप.३/८/११

हे गार्गी ! यह अक्षर किसी की दृष्टि का विषय नहीं होता किन्तु स्वयं दृष्टि स्वरूप होने के कारण द्रष्टा है । वैसे ही श्रोत्र का विषय नहीं है किन्तु स्वयं श्रुतिरूप होने से श्रोता है मनन का विषय नहीं किन्तु मतिरूप होने से मन्ता है बुद्धि का अविषय होने से दूसरों का विज्ञाता है । इससे भिन्न कोई द्रष्टा नहीं, इससे भिन्न कोई श्रोता नहीं, इससे भिन्न कोई मनन

कर्ता नहीं और न इससे भिन्न कोई विज्ञाता ही है । अतः हे गार्गी ! निसन्देह इस अक्षर से आकाश ओतप्रोत है ।

.... न दृष्टेर्द्रष्टारं पश्येर्न श्रुतेः श्रोतारं शृणुयान्न मतेर्मन्तारं मन्वीथा न विज्ञातेर्विज्ञातारं विजानीथाः । एष त आत्मा सर्वान्तरोऽतोऽन्यदार्तम्...

– बृहदा.उप.३/४/२

तुम अन्तःकरण की वृत्तिरूप दृष्टि के द्रष्टा को घटादि के समान दृश्य रूप नहीं देख सकते हो । वैसे ही श्रुति के श्रोता को नहीं सुन सकते हो । मति के मन्ता का मनन नहीं कर सकते हो, बुद्धि वृत्तिरूप विज्ञाति के विज्ञाता को नहीं जान सकते । तेरा यह आत्मा ही सर्वान्तर है । इससे भिन्न (कारण देह) नश्वर है ।

'मति न लखे जो मति को लखे'
विज्ञाता रम रे केन विजानियात् । ४/५/१५ बृहद.

हे गार्गी ! पृथ्वी है यह जो है, है यह ''है'' पृथ्वी का नहीं आत्मा का है । इस 'है' रूप में 'मैं' पृथ्वी में प्रवेश करता हूँ और समस्त चराचर को धारण करता हूँ । इस तरह 'है' रूप में चराचर में प्रतिष्ठित हूँ ।

जो पृथ्वी में स्थित होकर पृथ्वी के भीतर है, जिसको पृथ्वी नहीं जानती । जिसका पृथ्वी शरीर है जो पृथ्वी के भीतर रहकर उसे नियम में रखता है, वह तू आत्मा अन्तर्यामी अमृत है ।

जो जल में स्थित होकर जल के भीतर है, जिसे जल नहीं जानता । जिसका जल शरीर है जो जल के भीतर रहकर उसे नियम में रखता है, वह तू आत्मा अन्तर्यामी अमृत है ।

जो तेज में स्थित होकर तेज के भीतर है, जिसे तेज नहीं जानता जिसका तेज शरीर है, जो तेज के भीतर रहकर उसे नियम में रखता है, वह तू आत्मा अन्तर्यामी अमृत है ।

जो वायु में स्थित होकर वायु के भीतर है । जिसे वायु नहीं जानती जिसका वायु शरीर है जो वायु के भीतर रहकर उसे नियम में रखता है, वह तू आत्मा अन्तर्यामी अमृत है ।

जो आकाश में स्थित होकर आकाश के भीतर है, जिसे आकाश नहीं जानता जिसका आकाश शरीर है जो आकाश के भीतर रहकर आकाश को नियम में रखता है, वह तू आत्मा, अन्तर्यामी अमृत है ।

जो सब भूतों में स्थित होकर सब भूतों में रहता है, जिसे सब भूत नहीं जानते । जिसके सभी भूत शरीर है, जो सभी भूतों में रहकर सब भूतों को नियम में रखता है वह तू आत्मा अन्तर्यामी अमृत है ।

जो प्राण में स्थित होकर प्राण के भीतर है, जिसे प्राण नहीं जानते । जिसका प्राण शरीर है जो प्राण के भीतर रहकर प्राण को नियम में रखता है, वह तू आत्मा अन्तर्यामी अमृत है ।

जो नेत्रों में स्थित होकर नेत्र के भीतर है, जिसको नेत्र नहीं जानते है, नेत्र जिसका शरीर है, जो नेत्र के भीतर रहकर उसे नियम में रखता है वह तू आत्मा अन्तर्यामी अमृत है ।

जो श्रोत्र में स्थित होकर श्रोत्र के भीतर रहता है, श्रोत्र जिसे नहीं जानते, श्रोत्र जिसका शरीर है, श्रोत्र के भीतर रहकर उसे नियम में रखता है, वह तू आत्मा अन्तर्यामी अमृत है ।

जो मन में स्थित रहकर मन के भीतर रहता है जिसे मन नहीं जानता । मन जिसका शरीर है, जो मन के भीतर रहकर उसे नियम में रखता है, वह तू आत्मा अन्तर्यामी है ।

अदृष्टो द्रष्टाऽश्रुतः श्रोताऽमतो मन्ताऽविज्ञातो विज्ञाता नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा नान्योऽतोऽस्ति श्रोता नान्योऽतोऽस्ति मन्ता नान्योऽतोऽस्ति विज्ञातैष त आत्मऽन्तर्याभ्यमृतो ऽन्यदार्तम ।

– बृहदा उप. ३–७–२३

याज्ञवल्क्यजी कहते हैं कि वह दिखाई नहीं देता है किन्तु वह देखता है, वह सुनाई नहीं देता है किन्तु सुनता है, वह मन द्वारा मनन

करने का विषय नहीं किन्तु मनन करने वाला है । जो जानने में नहीं आता किन्तु सबको जानने वाला है । हे गार्गी ! तू ऐसा विचार कर कि मुझ अन्तर्यामी आत्मा के सिवाय किसी की देह में कोई अन्य द्रष्टा नहीं है । मेरे सिवाय दूसरा कोई श्रोता नहीं है, मेरे सिवाय कोई अन्य मन्ता नहीं है, मेरे सिवाय अन्य कोई विज्ञाता नहीं है । यह मेरा आत्मा ही अन्तर्यामी अमृत है, इसके सिवा सब नाशवान् है ।

जिससे सब जाना जाता है, उसे किसी अन्य जड़ साधन से कभी नहीं जान सकोगे । आत्मा के अतिरिक्त सब जड़ है, परप्रकाश है । अचिन्त्य का चिन्तन मन, वाणी, बुद्धि द्वारा नहीं हो सकता ।

राम अतर्क बुद्धि मन वाणी । मत हमार तुम सुनहु सयानी ।

जो मन, बुद्धि द्वारा चिन्तन, जप, ध्यानादि होता है व अनात्मा का ही चिन्तन होता है, आत्मा का नहीं ।

मैं आत्मा सर्वकाल में हूँ, यह बोध ही सर्वकाल का स्मरण है । तीन अवस्था, तीन शरीर, तीन गुण, पंच प्राण, पंच कोशों को जानने वाला मैं ही एक नित्य आत्मा हूँ । मैं ही निरन्तर हूँ, तब क्या मैं अपना भजन करूँगा कि मैं हूँ, मैं नित्य हूँ, मैं आत्मा हूँ ? नहीं । भजन, चिन्तन, समर्पण, अन्य, अन्य के प्रति करता है । जहाँ द्वैत–सा है वही एक दूसरे को सुनता है, देखता है, स्पर्श करता है, सूंघता है, स्वाद लेता है । छान्दोग्य उप.७/२४/१

परन्तु जहाँ पूर्ण अखण्डता है, अद्वैत है, वहाँ फिर दूसरे के अभाव में कौन है जिसे सुनेगा, देखेगा, स्पर्श करेगा, स्वाद लेगा, सूंघेगा । क्या ऐसा कोई समय है,जब मैं नहीं रहता हूँ, नहीं जानता हूँ, नहीं देखता हूँ ? अतः मैं सर्वकाल में हूँ । सर्वकाल को जानता हूँ, सर्वकाल में प्रिय हूँ । इसलिये मैं सत्+चित्+आनन्द स्वरूप हूँ ।

अतः मन, बुद्धि तो निरन्तर मुझ में ही अर्पित है । मुझ से ही जागती है तथा मुझ में ही विश्राम करती है ।

मन, बुद्धि से सर्वकाल का चिन्तन नहीं हो सकता, क्योंकि मन बुद्धि निरन्तर नहीं रहते हैं । निरन्तर तो मैं ही रहता हूँ । मेरे द्वारा प्रत्येक कार्य सम्पन्न होते हैं । अतः निश्चय करो कि मैं आत्मा हूँ । न द्रष्टा बनो, न साक्षी बनो । जब दृश्य सत नहीं तब द्रष्टा किसके कहलाओगे ? जब साक्ष नहीं तो साक्षी किसके रहोगे ? अतः चुपचाप रहो यह, वह, ऐसा–वैसा कुछ न बनो केवल आत्मा हो, आत्मा ही ज्यों के त्यों बने रहो ।

यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नो द्विजते च यः ।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः ।। गीता : १२/१५

'यस्मान्नोद्विजते लोकः' –

भक्त की प्रत्येक क्रिया जो भी वह करता है और जिसके लिये वह करता है सभी में भगवत् बुद्धि रखकर ही करता है । तब उसके द्वारा किसी को उद्वेग होने का कोई कारण नहीं । वह तो सर्वत्र **'वासुदेवः सर्वम्'** भाव में ही रहता है । वह तो गौ, गधे, चाण्डाल, कुत्ता, गाय, तथा पण्डित में सम भाव ही रखता है । गीता. ५/१८ कोई उसकी सरलता, सेवाभाव, उदारता, प्रेम व्यवहार को देख जले, ईर्षा करे उद्वेग को प्राप्त हो उसमें उस भक्त की ओर से, किसी को उद्वेगित करने के लिये कोई चेष्टा नहीं है ।

लोकान्नोद्विजते च यः– भक्त के द्वारा किसी को उद्वेग नहीं होता है । फिर भक्त को भी किसी के द्वारा उद्वेग नहीं होता हैं । क्योंकि उद्वेग का कारण अहंकार, शरीर, सिद्धान्त, मताग्रह, मन, बुद्धि होते हैं । भक्त का शरीर, मन, बुद्धि, सिद्धान्त में मताग्रह नहीं है । यदि कोई उसे उद्वेगित करना भी चाहे तो भी वह उद्वेग को प्राप्त नहीं होता, क्योंकि वह सर्वत्र एक परमात्मा को ही देखता है । वह अपने भगवान् के प्रेम में इतना निमग्न रहता है कि उसके साथ कोई किसी प्रकार का दुष्ट व्यवहार करे तो भी उसके मन में विपरीत भाव जाग्रत नहीं होता । वह सब अवस्था में

सम रहता है । इसलिये दूसरे में उद्वेग होने का भक्त में कोई कारण ही नहीं रहता ।

'हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः'

भक्त सदा अपने परमात्मा की भक्ति में ही आनन्दित रहता है । वह भौतिक, नाशवान वस्तु को पाकर क्षणिक सुख को नहीं चाहता । वह किसी के उत्कर्ष, उन्नति को देख ईर्षा भी नहीं करता कि उसको अधिक सम्मान क्यों ? मैं तो उससे ज्यादा उम्र वाला, ज्यादा भजन करने वाला हूँ । इस प्रकार अमर्ष उसके जीवन में नहीं होता है । क्योंकि उस भक्त की दृष्टि में सर्वत्र सर्वरूप में अपने भगवान् ही दिखाई पड़ते हैं ।

'मुक्तः' भक्त दुर्गुणों से, दुराचारों से, विकारों से सदा मुक्त रहता है । उसके मन में किसी प्रकार की विषयासक्ति नहीं रहती । जैसे ज्यादा तर बाबा, साधुचाय, भांग, गांजा, अफीन आदि नशे के अभ्यासी हो जाते हैं । भक्त समस्त वासना, कामना, इच्छा आदतों से मुक्त रहता है ।

अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः ।
सर्वारम्भ परित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः ।। गीता : १२/१६

'अनपेक्ष' : भक्त एक मात्र भगवान् को ही श्रेष्ठ एवं प्रिय रूप मानता है । उसकी दृष्टि में भगवत्प्राप्ति से बढ़कर त्रैलोक्य में कोई दूसरा श्रेष्ठ पदार्थ नहीं हैं, फिर वह और किस बात की अपेक्षा करें ? जीवन निर्वाह की वस्तुओं की भी वह इच्छा नहीं करता । क्योंकि वह सब उसे प्रारब्धानुसार स्वतः किसी निमित्त से पहुँच जाती है । जो भगवान् के द्वारा जन्म के समय, पहले से ही उस जीव के प्रति निश्चित किया हुआ ही रहता है ।

'शुचि' भक्त का मन निर्विकार, आसक्ति, अहंकार रहित रहता है । उसके मन में किसी प्रकार राग–द्वेष नहीं रहता । मान बड़ाई, आदर सम्मान से वह दूर रहता है, क्योंकि वह सर्वत्र एक भगवान् को ही देखता है । तब किसको देख उसका मन अहंकार या कामना कर अपवित्र बने ?

''**पवित्राणा पवित्रम्**'' जो ब्रह्मनिष्ठ महात्मा होते हैं वे और लोकों को पवित्र करने वाले हैं । जिनके चरण स्पर्श से गंगा आदि तीर्थ भी पाप मुक्त होकर पवित्र हो जाते हैं । जिनके स्पर्श से अहिल्या पाप मुक्त मानी जाती है । परोपकारी साधु पुरुष अपने अंग स्पर्श से अन्य पापियों को पापों से मुक्त कर देते हैं । क्योंकि उनके हृदय में सर्वदा एक परमात्मा ही निवास करते हैं ।

दक्षः जिस कार्य को करने के लिये यह देव दुर्लभ मानव जीवन प्राप्त हुआ था उस कार्य को वह कर चुका है । भगवत्प्राप्ति ही मानव जीवन का सबसे महत्वपूर्ण कार्य था, उसे वह मृत्यु आने से पूर्व ही कर चुका है ।

'उदासीन' उत्–आसिन अर्थात् तटस्थ हुआ, ऊपर बैठा हुआ वह किसी प्रकार के पक्षपात से रहित रहता है । भक्त को कोई मदद करे, हित चाहे तो उसके प्रति राग नहीं करता है, धन्यवाद नहीं देता है तथा भक्त का कोई अहित करे, कष्ट पहुँचाये तो भी उसके प्रति द्वेष नहीं करता । जैसे सूर्य प्रकाश ब्रह्माण्ड के जीवों की समस्त क्रियाओं व्यवहारों से उदासीन, निरपेक्ष रहता है । इसी प्रकार वह भक्त सभी १४ त्रिपुटियों के व्यवहार में, अनुकूल प्रतिकूलता के व्यवहार में उदासीन रहता है ।

'गतव्यथः'– भक्त को कुछ मिले, कुछ भी चला जाय, न मिले तो भी उसके मन में किसी प्रकार की चिन्ता–शोक रूप हलचल नहीं होती है। इन समस्त विकारों से रहित होने को उसे यहाँ गतव्यथः सब व्यथाएं चली गई ऐसा कहा जाता है ।

'सर्वारम्भ परित्यागी' – भोग व अहंकार को लेकर घर में नई–नई कीमती वस्तुओं का संग्रह अथवा निर्माण किया जाता है । भक्त भगवन्निष्ठ होता है । भक्त को यथा प्राप्त में सन्तोष रहता है एवं प्राप्त पदार्थ को भी उदासीन वृत्ति से त्याग करते हुए ही भोगता है । धन संग्रह करने की, प्राप्त धन को बैंक में जमा रखने या ब्याज पर अन्य व्यापारियों को दे रखने की प्रवृत्ति भक्त के मन में नहीं होती है । भक्त को भगवान् चिन्तन

के अलावा कुछ करना अच्छा नहीं लगता वह प्रवृत्ति से दूर रहता है । भक्त का धन उसके भगवान् में अटूट प्रेम का होना ही मात्र है ।

गुणातीत पुरुष में कर्तृत्व बुद्धि न होने से वह सर्वारम्भ परित्यागी होता है । भक्तों को अपने लिये कुछ करना शेष ही नहीं, तब वह क्या आरम्भ करे ? यदि उसके द्वारा लोक कल्याणार्थ कोई कर्म प्रवृत्ति हो जाए तो ठीक, न हो तो ठीक, वह दोनों अवस्था में सम रहता है ।

यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति ।
शुभाशुभ परित्यागी भक्ति मान्यः स मे प्रियः ।। १२/१७

'यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति'– भक्त में राग–द्वेष, हर्ष, शोक यह चारों विकार नहीं होते हैं । उसका यह अनुभव होता है कि संसार के पदार्थों का प्रतिक्षण वियोग हो रहा है । सब पदार्थ दिखते हुए नहीं में जा रहे हैं, अभाव में जा रहे हैं, मिटते जा रहे हैं और भगवान् का कभी मिटना या वियोग नहीं ।

हर्ष और शोक तो राग–द्वेष का ही परिणाम है । भक्त के मन में अनुकूलता पाकर हर्ष नहीं होता है एवं प्रतिकूलता पाकर द्वेष नहीं होता है । वह भगवान् को प्राप्त होकर पूर्ण काम हो जाता है । अतः उसको संसार के पदार्थों की कोई आशा अपेक्षा ही नहीं रहती है । इसलिये उसके जीवन में न राग होता है न द्वेष, न हर्ष होता है न शोक ।

'शुभाशुभ परित्यागी' – शुभाशुभ कर्म फल परित्यागी का मतलब शुभ व अशुभ कर्मों में राग–द्वेष रहित रहता है । वह अनुकूलता में प्रसन्न नहीं होता एवं प्रतिकूलता में दुःखी विक्षिप्त नहीं होता ।

कबीर तेरी झोपड़ी गल कटियों के पास ।
कर्ता सो भोक्ताभया तू क्यों भया उदास ।।

समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः ।
शीतोष्ण सुखदुःखेषु समः संग विवर्जितः ।। गीता : १२/१८

तुल्य निन्दास्तुतिर्मौनी सन्तुष्टो येन केनचित् ।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः ।। गीता : १२/१९

'समः शत्रौ च मित्रे च' – भक्त के मन में किसी के प्रति राग द्वेष नहीं कोई अपना–पराया नहीं, कोई मित्र–शत्रु भाव नहीं रहता है । भक्त के व्यवहार को देख कोई उसके प्रति मित्रता या शत्रुता का भाव रखे तो भी वह भक्तः दोनों अवस्था में सम रहता है ।

'तथा मानपमानयोः' – भक्त को अपने नाम, जाति, आश्रम सेवा का अभिमान नहीं होता है । इसलिये कोई उसका चाहे सम्मान करे या कोई अपमान करे, वह तो अपने मन में निर्विकार ही रहता है । उसे हर्ष–शोक पैदा नहीं होता ।

'संगविवर्जितः' – भक्त को किसी पदार्थ में आसक्ति नहीं रहती है । पदार्थ बन्धन एवं मुक्ति रूप नहीं है । वासना ही बन्धन एवं निर्वासना होना ही मुक्ति का हेतु है । कोई भी पदार्थ त्याग से या ग्रहण से मुक्ति का सम्बन्ध नहीं है । मृतक पुरुष तो देह सहित समस्त वैभव का त्याग कर रहा है तो क्या वह मुक्त हो जायगा ? अतः ज्ञानी भक्त पदार्थों की आसक्ति से मुक्त रहता है ।

'तुल्य निन्दास्तुति'– भक्त को अपने नाम, जाति, आश्रम, कुटुम्ब का अभिमान नहीं रहता है । कोई उसकी निन्दा करे तो क्या, या स्तुति करे तो क्या वह निराभिमानी होने से दोनों अवस्था में सम रहता है ।

भक्त की सर्वत्र भगवत् बुद्धि होने से उसका निन्दा–स्तुति करने वालों के प्रति भेद–भाव ; राग–द्वेष, हर्ष–अमर्ष नहीं होता है ।

'मौनी'– भक्त को निरन्तर भगवत्स्वरूप का मनन, चिन्तन होता रहता है । इसलिये उसको मौनी अर्थात् मनन शील कहा जाता है । उसकी दृष्टि में 'वासुदेवः सर्वम्' यह भाव बना रहता है । भगवान् के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं देखता, सोचता, सुनता, बोलता, करता और कहीं जाता नहीं है । इस अनन्यता के कारण वह मौनी कहा जाता है । अन्ध, बेहरा, लंगड़ा, नपुन्सक नामों से भी कहा जाता है ।

ज्ञानी पुरुष के विशेषण

अन्ध – इसलिये कि वह एक ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य को नहीं देखता है । इस दृष्टि से उसे अन्ध कहा जाता है ।

बेहरा – वह एक ब्रह्मचर्चा के अतिरिक्त अन्य कथा, नहीं सुनता है इस दृष्टि से वह बेहरा है ।

मूक – वह ब्रह्मचर्चा के अतिरिक्त अन्य लोक कथा पुराण कथा नहीं करता है, इस दृष्टि से उसे मूक कहा जाता है ।

लंगड़ा – उस के लिये प्राप्तव्य अन्य कुछ शेष नहीं रहता इसलिये गमन क्रिया उसके द्वारा नहीं होती है, इस दृष्टि से उसे लंगड़ा कहा जाता है ।

लूला – उस केलिये कोई कर्म कर्तव्य रूप नहीं होने से वह निष्क्रिय रहता है, इस दृष्टि से उसे लूला कहा जाता है ।

नपुन्सक – उसके द्वारा कर्मों में कर्ता बुद्धि नहीं होने से उसकी सभी क्रियाएँ निर्बीज होने के कारण उसके पुनर्जन्म का हेतु नहीं बनता है । इस दृष्टि से उसे नपुन्सक कहा जाता है ।

परमात्मा अखण्ड सत्ता होने से वह सब देशों में, सबकालों में, सब रूपों में विद्यमान है । परमात्मा का किसी देश से परिच्छेद नहीं, किसी काल तथा वस्तु से परिच्छेद नहीं है । ऐसा कोई देश नहीं, काल नहीं, वस्तु या रूप नहीं जहाँ, जब तथा जो परमात्मा न हो । अतः परमात्मा की देश, काल एवं वस्तु से सर्वदा अपरिच्छिन्नता है ।

'सन्तुष्ट येन केनचित्' – भक्त को प्रारब्ध अनुसार जो कुछ मिल जाता है । वह उसमें से शरीर निर्वाह जितना ग्रहण करलेता है और शेष को वह आवश्यक लोगों को वितरण कर देता है । उसको भोग पदार्थों में सन्तुष्टि नहीं होती है । उसकी सन्तुष्टि तो भगवान् के नित्य निरन्तर चिन्तन, मनन से बनी रहती है । इसलिये अनुकूल–प्रतिकूल परिस्थिति में वह भगवान् का विधान जान प्रसाद रूप प्रसन्नता से स्वीकार करता है । राग–द्वेष, हर्ष–अमर्ष से अलिप्त रहता है ।

'अनिकेतः' – भक्त की किसी निवास स्थान में आसक्ति नहीं रहती है । चाहे वह झोपड़ी हो, मन्दिर हो, आश्रम हो, महल हो या वृक्ष के नीचे खुला आसमान हो अथवा रेल्वे प्लेटफार्म हो । वह रहने के स्थान में आसक्ति रहित होता है । इसलिये अनिकेत कहा जाता है । भक्त एक रात्रि से दूसरी रात्रि उस गांव, वृक्ष या घर में नहीं ठहरता है ।

'स्थिरमति'– भक्त की श्रद्धा प्रेम भगवान् में अचल रूप से बनी रहती है । भगवान् के प्रति कभी सन्देह नहीं उठता कि वे मेरी प्रार्थना, भक्ति को स्वीकार करते होंगे या नहीं । उन्होंने मुझे शरण दी है, या नहीं । वे हैं भी कि नहीं हैं । इस प्रकार भक्त के मन में द्वन्द्व, विपर्यय नहीं होता है ।

'भक्तिमान्मे प्रियो नरः' – प्रत्येक मनुष्य में स्वभाव से भक्ति ही रहती है । भूल यही हो जाती है कि वह भगवान् को छोड़कर संसार के पदार्थों को पाने हेतु किसी अन्य देवी–देवता की भक्ति करने लगता है । यद्यपि वह टेड़े ढग से भगवान् की ही भक्ति है । किन्तु उन सकाम भक्तों का फल नाशवान् है एवं भगवान्की निष्काम भक्ति करने वालों का फल नित्य है । ९/२३ ।

येऽप्यन्यदेवता भक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः ।
तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम् ।।

– गीता : ९/२३

भगवान् को प्राप्त करने के लिये भक्त अपना जीवन समर्पित कर देता है । वही मनुष्य नर कहलाने का अधिकारी है । अन्यथा उसे सींग पूछ रहित प्राणी अर्थात् पशु कहा जाता । भक्तिवान् ही भगवान् को प्यारे है ।

अस प्रभु छाड़ि भजहि जो आना ।
ते नर पशु बिन पूछ विशाना ।।

ज्ञानी के सहज लक्षण

अमानित्वमदम्भित्वमहिंसा क्षान्तिरार्जवम् ।
आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्मविनिग्रहः ।। गीता : १३/७

'अमानित्वम्'– ज्ञानी महापुरुष का देहाभिमान आत्मानुभूति के द्वारा पूर्णतः गल जाने से उसे किसी प्रकार का मन में घमण्ड, अहंकार, अपने नाम, जाति, आश्रम, विद्या, गुण तथा भौतिक उपाधियाँ जैसे डाक्टर, वकील, मंत्री आदि पद प्रतिष्ठा को लेकर श्रेष्ठता का भाव नहीं रहता है । वह अपने को असाधारण बनाने, दिखाने के लिये किसी वेश विशेष को धारण नहीं करता है ।

''**सबहि मानप्रद आप अमानि**'' वह ज्ञानी सबको मान देता है । क्योंकि देहाभिमानियों को मान आदर प्रशंसा प्रिय है किन्तु ज्ञानी सर्वत्र सर्व रूपों में अपने को देखने के कारण किसी से मान पाने की इच्छा नहीं करता है।

'अटम्भित्वम्'– ज्ञानी अद्वेत भाव में ही निष्ठा रखता है । उसकी द्रष्टि में अन्य सता का पूर्ण अभाव रहता है 'एकमेवाऽद्वितीयं ब्रह्म', 'नेह नानास्ति किञ्चिन्' इसलिये वह दूसरे के अभाव में दिखावटी, बनावटी बनना नहीं चाहता । संसारी लोगों की दृष्टि में अन्य की प्रधानता रहती है । इसलिये उन्हें दूसरे को दिखाने, रिझाने, फंसाने, सम्मान पाने हेतु सौन्दर्य प्रसाधन की जरूरत रहती है । जब तक दूसरा सम्मुख नहीं दिखाई देता है व्यक्ति चलता रहता है या बैठा रहता है । जहाँ दूसरा

दिखाई दिया तभी अपने कपड़े, अलंकार चेहरे के साथ उसकी तुलना करने लग जाता है । वह बारम्बार दृष्टि अपनी ओर से दूसरकेकी उसकी ओर तथा दूसरे ओर से अपने ओर तुलनात्मक दृष्टि से करता रहता है ।

कनक तजोकामिनी तजो, तजो धातु को संग ।
तुलसी लघु भोजन करि, जीयत मान के रंग ।।

'अहिंसा' – ज्ञानी मन, वचन, कर्म से किसीको दुःख नहीं पहुँचाता है । अपने को आत्मा न जान देह मानना ही सबसे बड़ी आत्म हत्या है ।

'आतम हन गति जाई'

'क्षान्तिः' – ज्ञानी अपने से भिन्न को नहीं देखता है । इसलिये उसका अपमान करने वाले, हानि पहुँचाने वाले, कष्ट देने वाले के प्रति उसमें सामर्थ्य होते हुए भी क्षमा भाव रखता है । अपने हाथ का पत्थर अपने पर गिर जाये या दांतों से अपनी जीभ कचड़ जावे तो किसे दण्ड देना होगा ? किसी को नहीं । क्योंकि उसके ही सब अंग है ।

'आर्जवम्' – ज्ञानी के जीवन में सादगी रहती है । सजावट, फेशन, सुन्दर बन कर दिखाने का भाव नहीं रहता । सरलता–सादगी ही उसका आभूषण है । उसके जीवन में वाणी में ऐंठ–अकड़ गर्व नहीं होता है । वह बालक की तरह सरल निराभिमान रहता है ।

'आचार्योपासनम्' – ब्रह्मविद्या प्राप्ति की इच्छा से ब्रह्मविद्या प्रदाता सद्गुरु की तन, मन, धन से सेवा करना उन्हें दण्डवत् प्रणाम करना ऊँचे आसन, बसन देना चाहिये । गुरु शरणागत शिष्य अन्य किसी देवी–देवता, चित्र–मूर्ति की उपासना नहीं करता है ।

सो वर्ष भले गुरु भक्ति करे, एक दिन पूजै आन ।
सो अपराधी–आत्मा, पड़े चौरासी खान ।।

उसके लिये गुरु ही साक्षात् परम ब्रह्म रूप है । साधक को ज्ञानवान् गुरु की शरण में रह कर ही साधन करना चाहिये ।

शिष्य में अपने प्रति गुरुत्व आजाने से उसका पतन हो जाता है । शिष्य को चाहिये कि वह अपने लिये कुछ न चाहकर गुरु के लिये ही समर्पित हो जाय, उनकी मरजी में ही अपनी मरजी मिलादे ।

साधक को सोच समझकर आत्म ज्ञानी आचार्य, संत, महापुरुष के पास ही जाना चाहिये ।

गुरु भी शिष्य से किञ्चित भी किसी धन, मान, सेवा आदि की अपेक्षा न रखें ।

शिष्य के हित के लिये ही तत्पर रहता हो वह गुरु योग्य है ।

जिसके संग से हमारे मन में रहने वाली शंकाएं निर्मूल हो जाय, बिना पूछे ही शंकाए दूर हो जाय ।

जिसके पास रहने, बैठने से शान्ति का अनुभव होता है संसार की तरफ मन न जाना चाहे ।

भगवान् अर्जुन को तत्त्वज्ञ जीवन्मुक्त महापुरुष के पास जाने की आज्ञा एवं विधि बताते हैं ।

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया ।
उपदेक्षन्ति तेक़ ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ।।गीता : ४/३४

उस ज्ञान को तू तत्त्वदर्शी ज्ञानी सद्गुरु के पास जाकर समझ, उनको भली भाँति दण्डवत् प्रणाम कर उनकी सेवा करने से और कपट छोड़कर सरलता पूर्वक प्रश्न करने से वे परमात्म तत्त्व को भली भाँति जानने वाले ज्ञानी महात्मा तुझे उस तत्त्वज्ञान का उपदेश करेंगे ।

'शौचम्'– शरीर बाल, नाखून, मुंह, जिह्वा, दांत तथा वस्त्र, बर्तन, आश्रम आदि की बाहरी शुद्धि करना चाहिये व मन में राग–द्वेष, ईर्षा, कपट, निंदा न होकर दया, क्षमा, उदारता होनी चाहिये ।

'स्थैर्यम्'– अपने लक्ष्य से निष्ठा से श्रद्धा–विश्वास से विचलित न होना तितिक्षा रखना स्थैर्यम् कहा जाता है ।

आत्मविनिग्रहः– मन को वश में रखना ही आत्म निग्रह कहा जाता है । अभ्यास व वैराग्य में मन वश से होता है । मन को ध्येय वस्तु में बार–बार लगाना यह अभ्यास है तथा अनित्य पदार्थों, व्यक्तियों, स्थान में राग न होना ही वैराग्य है ।

इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहंकार एव च ।
जन्म मृत्यु जरा व्यधि दुःख दोषानुदर्शनम् ।। गीता : १३/८

'इन्द्रियार्थेषु वैराग्यम्'– इन्द्रिय विषयों में भी राग होगा तो वह तत्त्व ज्ञान नहीं कर सकेगा । इसीलिये आश्रमों में प्रथम ब्रह्मचर्याश्रम है । उस काल में सर्व प्रथम गुरु आश्रम में रह ब्रह्म बोध कर लें, फिर ग्रहस्थाश्रम का चाहे तो सेवन करे ।

'अनहंकार एव च' – दूसरों को अपने से छोटा देखने से अहंकार पैदा होता है । दान, दया, विद्या, आश्रम में भी अहंकार साधक के मन में आजाता है । अतः वह दूसरों की कमी न देख, अपने में ही कमी देखे । साधक के मन में अहंकार व अभिमान दोनों का सर्वथा अभाव रहता है ।

'जन्ममृत्यु जराव्याधि दुःखदोषानु दर्शनम्'– 'जनमत मरत दुसह दुख होई' बारबार विचार करना चाहिये कि यह प्राप्त शरीर का प्रतिक्षण क्षरण हो रहा है । न चाह कर भी रोग, वृद्धावस्था मृत्यु आ जाती है । गर्भ में असंख्य जीव काटते हैं । उसका वहाँ किसी प्रकार निवारण नहीं कर पाता है । स्त्री के गर्भ से बालक के बाहर आने में दोनों को असहनीय पीड़ा होती है जैसे नाक के छिद्र से नारियल को बाहर करने की तरह । मृत्यु के समय कुटुम्बियों को एवं मेहनत से संग्रह किया धन सम्पत्ति को छोड़ जाते समय ममता के कारण बहुत कष्ट होता है। इस बात का मन में विचार करने से देह से मैं भाव एवं देह सम्बन्धियों में ममता भाव समाप्त हो जाता है ।

'शरीरं व्याधि मन्दिरम्'– इस शरीर में वात, पित्त, कफ इन त्रिदोषों से शरीरों में अनेको रोग पैदा होते हैं । इस प्रकार विचार करने से देहासक्ति, देहाभिमान दूर हो जाता है ।

असक्तिरनभिष्वङ्गः पुत्र दार गृहादिषु ।
नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु ।। १३/९

'आसक्ति'– संयोग जन्य वस्तु, व्यक्ति स्थान से लोग सुख मानते हैं किन्तु सच्चा सुख वियोग से मिलता है । आशा ही दुःख रूप है । निराशा ही सुख रूप है । अन्य पदार्थों में जो प्रियता है, उसे सक्ति कहते हैं । उस सक्ति से रहित को **'आसक्ति'** कहते हैं ।

ममेति बध्यते जन्तु निर्ममेति विमुच्यते

– पैङ्गंल. उपः ४/२०

'यह मेरा है' इस प्रकार मानने से जीव बन्धन को प्राप्त हो जाता है, और यह मेरा नहीं है, ऐसा जानने से जीव उससे मुक्त हो जाता है ।

'अनभिष्वंग पुत्रदार गृहादिषु'– पुत्र, स्त्री, घर, धन, जमीन, पशु, मशीन आदि के साथ जो माना हुआ सम्बन्ध है कि यह मेरे हैं, इस प्रकार का अपनापन रखना अभिष्वंग है । किन्तु अपनापन, ममता, आसक्ति रहित सेवा करना अनभिष्वंग है ।

जैसे पुत्र के साथ माता की एकता हो जाने के कारण पुत्र बीमार हो जाने से उसकी माता का शरीर भी कमजोर हो जाता है । पुत्र व धन नष्ट हो जाने से उनमें एकता स्थापित रखने वाला कहता है, हाय में मर गया, हाय में मारा गया, लूट गया–ऐसी एकात्मता रहित होना ही अनभिष्वंग कहलाता है ।

'नित्यं च समचित्तत्वामिष्टानिष्टोपपत्तिषु' – इष्ट और अनिष्ट अनुकूल तथा प्रतिकूल में राग, हर्ष, सुखादि विकार न हो और मन के प्रतिकूल अनिष्ट वस्तु, व्यक्ति, व्यवहार, आदि के प्राप्त होने पर चित्त में शोक, दुःख, द्वेष, उद्वेग आदि विकार न हो । तात्पर्य है कि सभी अवस्थाओं में चित्त समता भाव में रहे ।

तुम्हे संसार की सामग्री संसार की सेवा में लगाने के लिये मिली है, न कि केवल अपने ही शरीर, इन्द्रियों के सुख पहुँचाने के लिये मिली है । जैसे किसी दानी से महात्मा को दान मिला है, तो वह दूसरों के कल्याणार्थ

लगाने के लिये मिला है, न कि अपना भोग मोज–मजा करने के लिये मिला है ।

सरकारी रुपया लोक सेवा के लिये मिलता है न कि अधिकारी लोगों के अपने सम्पत्ति धन मकान को बनाने के लिये मिला है ।

इसी प्रकार मनुष्य को जो कुछ प्रतिकूल सामग्री मिली है, वह दुःख भोगने के लिये ही नहीं मिली है, प्रत्युत् वह संयोग जन्य सुख का त्याग करने के लिये मनुष्य को सांसारिक राग, आसक्ति, कामना, ममता आदि छुड़ाने के लिये मिली है । तात्पर्य है कि दोनों परिस्थितियाँ मनुष्य को सुख–दुःख से ऊँचा उठाकर परमात्मा को प्राप्त करने के लिये मिली है ।

मयि चानन्य योगेन भक्ति व्यभिचारिणी ।
विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि ।। गीता : १३/१०

'मयि च अनन्य योगेन'–भगवान् द्वारा ही मेरा कल्याण हो सकेगा । भगवान् के अतिरिक्त कोई भी देवी–देवता, मनुष्य, पुरुषार्थ, मंत्र, तन्त्रादि द्वारा मेरा कल्याण नहीं होगा । इस प्रकार भगवान् में ही श्रद्धा विश्वास का होना अनन्य योग है ।

'भक्ति अव्यभिचारिणी'– तत्त्व प्राप्ति का साधन भी भगवान् हो और साध्य भी भगवान् हो– यही अनन्य योग के द्वारा भगवान् में अव्यभिचारिणी भक्ति का होना है ।

'विविक्तदेशसेवित्वम्'– वास्तविक एकान्त जंगल में नहीं है, वास्तविक एकान्त वहाँ है, जिसमें एक आत्म तत्त्व के सिवाय दूसरी कोई चीज न उत्पन्न हुई है, न है और न होगी । जिसमें न शरीर है, न इन्द्रिय है, न प्राण है, न कर्मेन्द्रिय है, न ज्ञानेन्द्रिय है, न मन, बुद्धि अन्तःकरण है । जिसमें न व्यष्टि संसार है, न जिसमें समष्टि संसार है । जहाँ एक अखण्ड आत्म सत्ता से किञ्चित् भी अन्य नहीं है । हमारा सम्बन्ध कभी शरीर व संसार के साथ हुआ ही नहीं, न अन्तःकरण से सम्बन्ध हुआ । यदि होता तो गहरी नींद में भी जाग्रत, स्वप्न की तरह दिखाई पड़ता ।

क्योंकि शरीर व अन्तःकरण प्रकृति का कार्य है और जीव का सम्बन्ध सच्चिदानन्द परमात्मा से है । इस प्रकार अनुभव करना विविक्त देश सेवित्वम् है ।

'अरतिर्जनसंसदि'– साधारण तया मनुष्य उठकर खबर कागज पढ़ता है, कहाँ क्या हो रहा है, देश–विदेश में क्या मुख्य कार्य हो रहा है, अब क्या होगा, कैसे होगा, कौन पार्टी जीती, कहाँ मेच चल रहा है, कौन जीते–हारे आदि सांसारिक बातों को सुनने, जानने की इच्छा रखता है । किन्तु जिसे उपरोक्त किसी बातों से कोई सम्बन्ध, कोई रुचि न हो, केवल आत्म चर्चा ही करना, जिज्ञासुओं को आत्म सम्बन्धी शिक्षा देना, शंकाओं का समाधान करना, उनके संग में रहने की रुचि होना तो यह जन समुदाय में रुचि नहीं कहलायेगी । अर्थात् आसक्ति पूर्वक किसी का भी संग नहीं करना चाहिये यही 'अरतिर्जनसंसदि' है ।

'अध्यात्मज्ञाननित्यत्वम्' – उत्पत्ति, नाश रूप अनित्य संसार का पहले भी सद्भाव नहीं था, आगे भी नहीं रहेगा और मध्य में भी प्रतिक्षण नाश की ओर जा रहा है । परमात्मा पहले भी था, अभी भी है एवं आगे भी रहेगा । परमात्मा के सिवाय संसार की स्वतन्त्र सत्ता है ही नहीं । परमात्म सत्ता के सहारे ही यह असत् संसार भास रहा है । जैसे रस्सी अज्ञान से सर्प भ्रम भासता है । इस प्रकार संसार की सत्ता का मन में अभाव एवं परमात्मा की सत्ता का निश्चय करना अध्यात्म ज्ञान नित्यत्वम् कहलाता है । तत्त्वज्ञ महापुरुषों के संग रहना इसमें सहायक है ।

'तत्त्वज्ञानार्थ दर्शनम्'– उस परमात्मा का ही सब जगह दर्शन करना तत्त्व दर्शन है । परमात्मा ही अखण्ड होने के कारण सब देश, सब काल तथा सब रूप में हैं । सब अवस्था में तथा समस्त क्रियाओं में एक परमात्मा के सिवाय दूसरी सत्ता ही न दीखे । इस प्रकार सर्वत्र एक परमात्मा का अनुभव करने का स्वभाव बन जाय यही 'तत्त्वज्ञानार्थ दर्शनम्' है ।

'एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तम ज्ञानं यदतोऽन्यथा' – यह जो अमानित्वम् से लेकर तत्त्वज्ञानार्थ दर्शनम् तक ८ श्लोकों में २० साधन कहे गये हैं, यह सभी साधन देहाभिमान मिटाने वाले होने से तथा परमात्म तत्त्व का बोध कराने में सहायक होने से ज्ञान नाम से कहे गये हैं । इन साधनों से इनके विपरीत मानित्व, दम्भित्व, हिंसा, ईर्षा, अहंकार, राग–द्वेषादि सब देहाभिमान बढ़ाने वाले हैं । परमात्मा से विमुख करने वाले होने से 'अज्ञान' ही है ।

यदि व्यक्ति को प्रबल वैराग्य से शरीर व उसके माने हुए सम्बन्धों से मन हट जाय तो यह सभी साधन समुदाय उसमें स्वतः प्रकट हो जाते हैं । **विनाशी शरीर को अपने अविनाशी आत्म स्वरूप से अलग जानना एवं परमात्मा से एक जानना यही साधक के लिये मुख्य साधना है ।**

विचारें कि शरीर बचपन से आज तक बदलता आ रहा है । यह बात जितनी सत्य प्रत्यक्ष है, उतनी ही सत्य व प्रत्यक्ष यह बात भी है कि मैं बचपन से आज तक नहीं बदला, मैं ज्यों का त्यों प्रारम्भ से अभी तक एक रस हूँ । शरीर के साथ माना हुआ कल्पित सम्बन्ध है तथा परमात्मा व मेरा वास्तविक सम्बन्ध है । **''ममैवांशो जीव लोके जीव भूतः सनातनः''** १५/७

कर्म में अकर्म व अकर्म में कर्म कैसे हो ?

शुभ कर्म के पेड़ में सुख रूपी फल लगेंगे और विकर्म के पेड़ में दुःख रूप फल लगेंगे। सुख–दुःख भोगने के लिये पुनः देह धारण करना पड़ेगा । सुख स्वर्ण की जंजीर है, तो दुःख लोह की जंजीर है । दोनों कर्म जीव को देह की केद में डालने वाले हैं । मुक्ति की प्राप्ति अकर्म से अर्थात् साक्षीभाव द्वारा होती है ।

अकर्म अलौकिक क्रिया है । क्रिया होने पर भी उसमें कर्तापन का अहंकार राग–द्वेष, नहीं होता है तथा प्रभु प्रित्यर्थ किया जाता है । समष्टि के कल्याण के लिये की हुई क्रिया अकर्म बन जाती है । अकर्म संचित कर्म में जमा नहीं होते हैं और न उसको प्रारब्ध के रूपमें भोगना पड़ता है । क्योंकि कर्तापन का बीज ही कर्म फल उत्पत्ति का कारण होता है । इसलिए अकर्म मोक्ष का साधन रूप होता है ।

कर्म में अकर्म देखना याने देह, प्राण, इन्द्रिय तथा मन, बुद्धि द्वारा कर्म होने से मैं कर्म का कर्ता नहीं हूँ, ऐसा भाव पैदा हो जाता है। यह तभी सम्भव हो सकेगा जब हम कर्म के होने के समय साक्षी भाव से रहें । कर्म करने के लिये मन कहता है, देह, प्राण, इन्द्रिय सब मिलकर करते हैं, मन भोगता है व मैं तो उन इन्द्रिय के पटुता, मंदता, अन्धता तीनों प्रकृति को तथा मन भोक्ता को जानता रहता हूँ ।

जब भोजन करने बैठें तब मन में ऐसा जानों की प्राणों को भूख लगी है । प्राणों की तृप्ति के लिये हाथ भोजन को उठा कर मुख द्वार से

डाल रहा है, दाँत उसे चबाकर, पीसकर अन्दर पहुँचा रहे हैं, जीभ रस ले रही है और मन सुखी हो रहा है । मैं केवल द्रष्टा, साक्षी भाव से भोजन की क्रिया को देख रहा हूँ ।

जब आप का देह, प्राण, इन्द्रिय, मन, भोजन करने बैठें तो आप साक्षी रूप में दूर खड़े रहकर उसे देखो । साक्षी रूप से देखने की कला ही कर्म को अकर्म बना देती है । इस भावना से व्यक्ति कर्म करता हुआ भी वह अकर्ता ही बना रहता है । यही कर्म में अकर्म को देखना कहलाता है । देह और मैं पृथक् यह होश का रहना ही साक्षी भाव में रहना है । यदि प्रत्येक क्रिया के समय द्रष्टा भाव में रहने का अभ्यास किया जाय तो कर्म में भी अकर्म दिखाई पड़ता है । स्वप्न के कर्मों में मैं अकर्म ही रहता हूँ ।

अब अकर्म में कर्म देखना समझे । जैसे सूर्य उदय से सभी जीव अपना–अपना कार्य करने लग जाते हैं, सम्पूर्ण देश का अन्धकार विलीन हो जाता है । सूर्य से आप कहे कि आपने बड़ी कृपा की जिससे सब अन्धकार दूर हो गया । सूर्य कहेगा मैंने कुछ नहीं किया। मैं किसी प्रकार की शुभाशुभ, हानिलाभ, की क्रिया करता ही नहीं न मैं किसी से कोई क्रिया करता हूँ ।

इस तरह भीतर ही जो साक्षी रूप से बैठा है, वह द्रष्टा पद में स्थित हो जाय तो उसका सर्व शक्तिमान परमात्मा के साथ तादात्म्य हो जाता है और वह कुछ भी कर्ता नहीं होने पर भी वह सब कुछ करता है क्योंकि उसकी सत्ता के बिना एक श्वाँस का आना–जाना भी सम्भव नहीं है। इसी का नाम अकर्म में कर्म को देखना कहते हैं । फिर वह कुछ नहीं करते हुए भी वह सब कुछ कर रहा है । हवा को भी वही चला रहा है, सूर्य, चन्द्र को भी वही चला रहा है, वृक्ष को भी वही बढ़ाता है । फूल भी वही खिला रहा है । कर्म सहज होने से उसी का नाम अकर्म है ।

आत्मा शब्द को देह के साथ जोड़ देने से मैं मनुष्य हूँ, मैं आत्मा शब्द को अवस्थाओं के साथ जोड़ देने से मैं किशोर, जवान, प्रौढ़, वृद्ध हूँ । मैं आत्मा शब्द को प्राण के साथ जोड़ देने से मैं जीवित हूँ, मैं मरा

नहीं हूँ । मैं आत्मा शब्द को इन्द्रियों के साथ जोड़ देने से मैं देखता हूँ, मैं सुनता हूँ, मैं भूखा हूँ, मैं प्यासा हूँ, मैं खाता–पिता हूँ । आत्मा शब्द को मन के साथ जोड़ देने से मैं कामी, क्रोधी, सुखी, दुःखी, बद्ध, मुक्त हूँ ऐसा मानता है ।

आत्मा शब्द को बुद्धि के साथ जोड़ देने से मैं मूर्ख नहीं हूँ, मैं महा विद्वान् हूँ, पंडित हूँ ऐसा मिथ्या अभिमान करने लगजाता है । किन्तु मैं अन्तरात्मा ही शुद्धात्मा हूँ । जो सब क्रिया व अहंकार के पीछे प्रकाशक रूप में सदा रहता है ।

मैं अकर्ता आत्मा हूँ

आत्मनिष्ठ ज्ञानी पुरुष सम्पूर्ण कर्मों को सब प्रकार से प्रकृति के द्वारा अर्थात् सत्त्वगुण, रजोगुण, तमोगुण के किये हुए देखता है तथा अपने को 'मैं अकर्ता, साक्षी, आत्मा हूँ' इस प्रकार जानता है । अपने को अकर्ता द्रष्टा रूप जानने वाला ज्ञानी परमात्मा स्वरूप ही होता है ।

ब्रह्मवित् ब्रह्मैव भवति । ३/३/९ मुण्डक. उप.

देखिये (१) प्रकृति रूप आकाश के सत्त्व गुण का कार्य श्रोत्र इन्द्रिय, रजोगुण के कार्य रूप वाणी तथा तमोगुण के कार्य रूप शब्द है । यहाँ पर कान सुनने वाला, वाणी बोलने वाली और मैंने उसे जाना इसलिये मैं आत्मा अकर्ता हूँ ।

(२) प्रकृति रूप वायु के सत्त्वगुण का कार्य त्वचा, रजोगुण के कार्य रूप हाथ एवं प्रकृति के तमोगुण से स्पर्श है । त्वचा को शीत-उष्ण, सरसराहट, खुजली, दर्द के जरूरत लगती है तो हाथ तत्त्काल वहाँ पहुँचकर जैसी जरूरत है रजाई, कम्बल, शाल, चादर, पंखा, हीटर, तेल, मालिश आदि करता है और मैं साक्षी आत्मा अकर्ता जानता हूँ ।

(३) प्रकृति रूप तेज के सत्त्वगुण का कार्य चक्षु इन्द्रिय, रजोगुण का कार्य रूप पाद इन्द्रिय एवं तमोगुण का कार्य रूप है । नेत्रों को रूप देखने की इच्छा हुई तो पैरों ने वहाँ ले जाकर खड़ा कर दिया । किन्तु मैं अकर्ता आत्मा इस कार्य को देखता रहा ।

(४) प्रकृति रूप जल के सत्त्वगुण का कार्य जिह्वा, जलके रजोगुण का कार्य लिंग एवं प्रकृति रूप तमोगुण का कार्य रस है । रसना रस को चखना चाहती है तो उपस्थ रस का त्याग करता है । मैं साक्षी आत्मा केवल जानता हूँ ।

(५) प्रकृति रूप पृथ्वी के सत्त्वगुण का कार्य नासिका प्रकृति के रजोगुण का कार्य गुदा इन्द्रिय एवं प्रकृति रूप तमोगुण का कार्य गन्ध है । घ्राण इन्द्रिय गन्ध को ग्रहण करती है और गुदा इन्द्रिय गन्ध का त्याग करती है । किन्तु मैं साक्षी आत्मा अकर्ता जानता रहता हूँ ।

पूर्वोक्त प्रकृति रूप पंचभूतों की पाँच ज्ञानेन्द्रियों तथा पाँच कर्मेन्द्रियों के साथ अनुकूल व प्रतिकूल विषयों के सम्बन्ध से सुख–दुःख भोगने वाला मन है तथा प्रकृति द्वारा रचे हुए पदार्थों के सुख–दुःख, भले–बुरे, गुण दोष का निर्णय करने वाली बुद्धि प्रकृति है तथा प्रकृति रूप अहंकार सब में कर्ता रूप है । इस प्रकार सब का व्यवहार प्रकृति के गुणों में हो रहा है और मैं आत्मा तो इस प्रकृति के रचित लीला का जानने वाला क्षेत्रज्ञ अकर्ता आत्मा हूँ यह निम्न कोष्टक से ज्ञान हो सकेगा ।

गुणा गुणेषु वर्तन्त– ३–२८

प्रकृति रूप

पंच भूत	सत्त्वगुण	रजोगुण	तमोगुण
आकाश	श्रोत्र	वाक्	शब्द
वायु	त्वचा	पाणि	स्पर्श
तेज	चक्षु	पाद	रूप
जल	जिह्वा	लिंग	रस
पृथ्वी	घ्राण	गुदा	गन्ध

नान्यं गुणेभ्य कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति ।
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति ।। –गीता : १४/१९

जो अपने द्रष्टा रूप आत्मा को अकर्ता और अविकारी समझने वाला ज्ञानी, जिस समय तीन गुणों के अतिरिक्त दूसरे किसी को कर्ता नहीं जानता है तथा इस त्रिगुणात्मिक प्रकृति से विलक्षण मैं ब्रह्म रूप साक्षी अकर्ता आत्मा हूँ ऐसा जानता है उस समय वह विद्वान् मेरे स्वरूप को प्राप्त होता है वह ब्रह्मभाव में ही रहता है ।

नाहं देहो जन्म मृत्यु कुतो मे,
नाहं प्राणः क्षुत्पिपासे कुतो मे ।
नाहं चेताः शोक मोहौ कुतो मे,
नाहं कर्ता बन्ध मोक्षौ कुतो मे ।।

आत्मनिष्ठ ज्ञानी महापुरुष निश्चय से यह जानता है कि मैं सच्चिदानन्द आत्मा जब देह नहीं हूँ तब फिर जन्म–मृत्यु मुझ में कहाँ ? जब मैं प्राण नहीं तब क्षुधा–पिपासा मुझ द्रष्टा साक्षी आत्मा में कहाँ ? जब मैं मन नहीं, तब शोक–मोह मुझ द्रष्टा आत्मा में कहाँ ? और जब मैं किसी कर्म का कर्ता नहीं तब फिर मुझ असंग, अकर्ता, साक्षी, आत्मा में बन्ध तथा उससे छूटने की इच्छा रूप मोक्ष भी कहाँ ?

जैसे सर्वत्र व्याप्त हुआ आकाश सूक्ष्म होने के कारण कहीं किसी से लिपाय मान नहीं होता, उसी प्रकार सब शरीरों में सब क्रियाओं के मध्य रहते हुए भी मैं आत्मा उनके गुण धर्मों से असंग ही रहता हूँ ।

अज्ञानी देहाभिमान पुरुष देह इन्द्रिय, प्राण तथा मन, बुद्धि की क्रियाओं को, अवस्थाओं को अपना रूप जानने से बन्धन को प्राप्त होता है । जब कि समस्त क्रियाएँ मनुष्य शरीर में प्रकृति के द्वारा ही सम्पन्न होती है ।

किन्तु सद्गुरु से प्राप्त आत्मनिष्ठ ज्ञानी पुरुष देह संघात् की क्रियाओं में कर्तापन, भोक्तापन का अहंकार नहीं करता है बल्कि यह जानता है कि समस्त देह संघात् की क्रियाएँ प्रकृति के सत्त्वगुण, रजोगुण तथा तमोगुण द्वारा होती है । मैं किञ्चित् भी किसी अच्छे–बुरे कर्म का कर्ता नहीं हूँ । मैं केवल निष्क्रिय, असंग, द्रष्टा, साक्षी, आत्मा हूँ ।

मैं समस्त वेदान्त के द्वारा जानने योग्य ब्रह्म ही हूँ । मैं आकाश, वायु, तेज, जल, पृथ्वी एवं उनसे निर्मित देखने, जानने, अनुभव करने जैसी जड़ स्थूल वस्तु नहीं हूँ । मैं नाम, रूप तथा क्रियासे रहित सच्चिदानन्द आत्मा हूँ ।

तेज के सत्त्वगुण से बने हुए नेत्र तो तेज के तमोगुण से निर्मित रूप को दिखा सकते हैं । मेरा दर्शन अर्थात् आत्म दर्शन इन विकारी नेत्रों से कभी नहीं हो सकता । आत्म दर्शन के लिये, आत्म अनुभूति के लिये, असंग, अकर्ता स्वरूप दर्शन के लिये तो कोई सद्गुरु ही ज्ञान नेत्र प्रदान करके ही दर्शन करा सकता है । परन्तु अपने इन प्राकृत नेत्रों द्वारा आत्मा को जानना सम्भव नहीं है ।

जैसे टी.वी के स्क्रीन पर विशाल सागर, आकाश, हवाई जहाज, ट्रेन, जंगल, हाथी, बाघ, सांप, नदी, अग्नी, वर्षा, रक्त दिखाई पड़ते हैं किन्तु वहाँ किंचित् भी नहीं होता है केवल प्रतीति मात्र है । इसी प्रकार तुझ आत्मा में विराट् अद्भूत संसार दिखाई पड़ता है किन्तु अन्दर लेशमात्र संसार नहीं है । सर्वत्र मैं एक आत्मा ही हूँ । मिलने वाला दूसरा पदार्थ मेरे अतिरिक्त कुछ भी नहीं है । जब मैं ही अखण्ड हूँ तब पाया किसे ? खोया किसे ?

जिनका भगवान् साकार है, उसे ध्यान में लाना या देखना चाहोगे किन्तु जिसका परमात्मा मैं रूप में है उसे ध्यान नहीं करना होता है, उसे तो केवल स्मृति करना, जानना मात्र पर्याप्त है ।

दैवी सम्पदा के लक्षण जो ग्रहण करने योग्य है

अभयं सत्त्व संशुद्धिर्ज्ञान योग व्यवस्थितिः ।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम् ।। गीता : १६/१

'अभयम्' – जो भगवान् के शरण में सर्वभाव से हो जाता है । हर परिस्थिति को भगवान् का प्रसाद, न्याय, कृपा जान लेता है, वह सर्वत्र अभय हो जाता है । चोर, डाकू, सर्प, सिंह, आदि प्राणियों से अपने शरीर के नाश की शंका होती है । पर जब विवेक जाग्रत हो जाता है कि शरीर तो नाशवान् है, एकदिन सबका नष्ट होने ही वाला है । उसे आज तक राम, कृष्ण, भीष्म, हिरण्यकश्यप जैसे महान शक्तिशाली महापुरुष नहीं बचा सके, नहीं रोक सके तब मैं भय क्यों करूँ ? मेरे भय करने से क्या मैं बचा सकूँगा ? कभी नहीं । इस प्रकार चिन्तन से अभयता प्राप्त होती है ।

एक घटना

विवाह कर पत्नी – पति नौका में जा रहे थे । नदी में जोर से हवा के दबाव से तूफान आया । नौका डूबने की स्थिति में दिखाई देने लगी । स्त्री ने पुरुष से कहा क्या चुपचाप बैठे हो, कुछ डर नहीं । आदमी ने जेब से चाकू निकाल पत्नी के गले पर टिका दिया । स्त्री हंसने लगी । पुरुष ने पूछा तू हंस रही है, डर लगता नहीं । पत्नी ने कहा तुम्हारे हाथ में चाकू है तो मूझे डर क्यों ? पुरुष ने कहा हमारे जीवन की डोर परमात्मा के हाथ में है तो हमें डरने की क्या बात । वह जो करेगा ठीक करेगा ।

जीव को डरना है तो वेद विरुद्ध कर्म करने से डरें, जो हमारे अभयता में सहायक होंगे । जीव चोरी, हत्या, गर्भपात, बलि, माता–पिता को कष्ट देना, मांसाहार करना, शराब पीना, दुराचरण करना, अण्डा सेवन करना आदि निषिद्ध आचरण तभी तक करता है, जब तक उसके मन में यह गलत धारणा रहती है कि शरीर मेरा है ।

मनुष्य शरीर पाकर यह जीव जब तक करने योग्य कर्म नहीं करता है, पाने योग्य को प्राप्त नहीं करता है, जानने योग्य आत्म वस्तु को नहीं जानता है, तब तक यह जीव कभी अभयता को प्राप्त नहीं कर सकता ।

भगवान् पर विश्वास करने वाला जीव ही अभयता को प्राप्त हाता है । वह यह विचार करता है कि मैं तो परमात्मा का अंश हूँ । मैं अविनाशी हूँ । मैं कभी मर नहीं सकता । देह संसार का अंश है, वह कभी अमर हो नहीं सकता ।

'सत्त्व संशुद्धिः'– अन्तःकरण की शुद्धि का होना सत्त्व संशुद्धि कहलाती है । संसार में राग रहित होकर भगवान् में अनुराग हो जाना अन्तःकरण की शुद्धि है । नाशवान् भोग पदार्थों में आसक्ति होने से अन्तःकरण में मल, विक्षेप तथा आवरण यह त्रिदोष उत्पन्न हो जाते हैं ।

शास्त्रों में मलदोष को दूर करने के लिये निष्काम कर्म, विक्षेप दोष को दूर करने के लिये उपासना तथा आवरण दोष को दूर करने के लिये सद्गुरु द्वारा ज्ञान ग्रहण करने से जीव ब्रह्म भाव को प्राप्त हो जाता है ।

'ज्ञानयोगव्यवस्थिति'– सांसारिक पदार्थों की प्राप्ति–अप्राप्ति, मान–अपमान, निन्दा–स्तुति, रोग–निरोगता में सम रहना अर्थात् मन में हर्ष–शोक, राग–द्वेषादि न करना ।

'दानम्'– जिस भूमि, अन्न, वस्त्र, धन, पशु स्वर्णादि पदार्थों को अपना मानकर संग्रह कर रखा है, उन्हें अपने एवं परिवार के जीवन निर्वाह के अतिरिक्त जो है उसे उचित पात्र को पहुँचा देना चाहिये । इन सब नश्वर वस्तुओं के दान से केवल जीव को जीवन निर्वाह ही प्राप्त हो

सकेगा, किन्तु उन्हें अभयता, मुक्ति, परम शान्ति नहीं मिल सकेगी । अतः भौतिक दान जीवन निर्वाह के लिये तो करना ही चाहिये । जिससे दाता की लोभ वृत्ति समाप्त होती है । साथ ही ज्ञान दान भी करना चाहिये जो कि महान् दान है, जो जीव को अमृत्व प्रदान करता है । इस दान से जीव सदा के लिये जन्म–मरण के दुःख से मुक्त होजाता है ।

'यज्ञ'– जिस किसी समय जो कर्तव्य प्राप्त हो अपने सामर्थ्य अनुसार स्वार्थ और अभिमान का त्याग करके बदले व प्रशंसा पाने की भावना छोड़कर दूसरों की मदद करना वास्तविक यज्ञ है ।

मन, वचन, कर्म से किसी को कष्ट न देना, प्रत्युत् जो जिस सेवा का अधिकारी हो उसे भगवान् रूप जान समय पर सेवा करना यज्ञ है । अपने मुख में सात्विक आहार पहुँचाना एवं वैश्वानर जठराग्नि होकर चारों प्रकार के अन्न का पचाना यह भगवान् का ही काम है, यह यज्ञ है । सतशास्त्रों का पढ़ना यह ऋषि यज्ञ है, मनुष्यों की सेवा करना यह नर यज्ञ है । सत शास्त्रों का स्वाध्याय एवं ब्रह्म चिन्तन करना यह ब्रह्म यज्ञ है ।

'स्वाध्याय'– अपने स्वरूप का ज्ञान करना ही स्वाध्याय है '**स्वस्व अध्यनम् स्वाध्यायः**' । शास्त्रों को पढ़ते समय मन में पांच प्रश्न करे व उत्तर निकाले, तभी वह स्वाध्याय सही हो सकेगा ।

कोई भी मंत्र, श्लोक, चौपाई, दोहादि पढ़कर मन में प्रश्न करे (१) कौन (२) किससे (३) क्या कह रहा है (४) तुम इन दो में से अपने को वक्ता मानते हो या श्रोता (५) चारो प्रश्न का उत्तर मन से विचारो कि अब तुम्हारा क्या कर्तव्य है ? उनकी बात मानकर उसके मुताबिक करना, चलना या उनके विमुख होकर चलना ? जब उनके आदेशानुसार चलेंगे तभी वह स्वाध्याय तुम्हारे कल्याण का मुख्य साधन बन सकेगा । अन्यथा प्रतिदिन रामायण, गीता आदि धर्म ग्रन्थ पढ़ना न्यूज पेपर, अखबार, खबर कागज पढ़ रख देने के समान है । क्योंकि उसकी शिक्षा को हमने स्वीकार ही नहीं किया तो लाभ कैसे होगा ?

औषध का पर्चा या औषध का नाम जाप निरन्तर करते रहने से,

जेब में परचा या दवा रख लेने से क्या रोगी का रोग कटता है या औषधि सेवन से ?

लोग दोहा, चौपाई, श्लोक, मंत्रादि रट लेते हैं । प्रतिदिन स्नान के बाद नियमित उन्हें दोहराते रहते हैं । पर वे हमें क्या करने का आदेश दे रहे हैं, इस पर किसी का ध्यान ही नहीं जाता । फिर दिन में एक बार भी व्यावहारिक जीवन में उसका विचार नहीं आता कि आज गीता द्वारा मुझे मेरे स्वरूप के लिये या संसार के स्वरूप को क्या बताया था ? प्रातः अखबार की पढ़ी हुई बात का हमारे दैनिक जीवन में एक बार भी जैसे स्मरण नहीं आता है । वही अवस्था हमारे धार्मिक कहलाने वाले सत शास्त्रों के अध्ययन की रहती है ।

जैसे गीता में भगवान् अर्जुन को कहते हैं कि तू सब धर्मों को छोड़ एक मात्र मेरी शरण में आजा तो मैं तुझे सब पापों से मुक्त कर दूँगा । अब यदि अर्जुन कृष्णात्मा की ओर सम्मुख हो गये तो होगया कल्याण और होगया स्वाध्याय, हो गई गीता पढ़ाई । अब गीता में क्या रखा, गीता का उद्देश्य गीता में पाठ करने वाले को फंसा रखना थोड़े ही था । गीता का उद्देश्य तो जीव को वास्तविक स्वरूप आत्मा के सम्मुख और जगत् से विमुख करना था । यदि आत्म सम्मुख हो गये तो गीता पढ़ने की कोई जरूरत नहीं । यदि आत्म सम्मुख नहीं हुए तो १००० बार लाख बार, करोड़बार पढ़ो, पढ़ते रहो तोता रटन मात्र है । कुछ लाभ नहीं होगा ।

'तपः'– अपने लक्ष की प्राप्ति में जो विघ्न, कष्ट, भूख–प्यास, सर्दी–गरमी, अपमान आदि आए उन् को सहते हुए लक्ष्य की ओर चलना ही सच्चा तप है । अथवा देह भाव का त्याग करना ही वास्तविक तप कहलाता है ।

'आर्जवम्'– सरलता बनावटी पन से दूर भीतर–बाहर एकता का भाव रखना । कठोरता, कपटता का व्यवहार दूसरों के प्रति न करना ।

कपट गांठ मन में नहीं सबसों सरल सुभाव ।
नारायण उस भक्त की, लगी किनारे नाव ।।

इसलिये मन, वचन, कर्म से एक होना चाहिये, उनमें किसी प्रकार झूठ या दूसरे को मीठे वचन कह अपने चंगुल में फंसाने का भाव न रहे । कोई बनावटीपना नहीं होना चाहिये ।

अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम् ।
दया भूतेष्वलो लुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम् ।। गीता : १६/२

'अहिंसा'– शरीर, मन, वाणी आदि के द्वारा किसी का भी किसी प्रकार अनिष्ट न करना न चाहने को अहिंसा कहते हैं । वास्तविक अहिंसा तब होती है जब मनुष्य अनात्म संसार से, शरीर से अहंता–ममता छोड़ आत्मानुभूति कर लेता है । अन्यथा आत्मा से विमुख व्यक्ति को आत्म हत्यारा, आत्मघाती कहा जाता है।

जो न तरे भव सागर, नर समाज अस पाई ।
सो कृत निन्दक मंदमति आतम हन गति जाई ।।

'सत्यम्'– बिना स्वार्थ या राग–द्वेष के जैसा देखा–सुना वैसा कहना व्यावहारिक दृष्टि से सत्य कहा जाता है । परमात्मा को जानना ही एक मात्र सत्य है । शेष सभी व्यवहार असत्य है, क्योंकि शरीर व संसार जो स्वप्न समान है, उनके लिये ही वह जीवन व्यतीत कर देता है ।

उमा कहऊँ मैं अनुभव अपना ।
सत हरि भजन जगत सब सपना ।।

'त्यागः'– देह भाव एवं संसार को मन से मिथ्या जान लेना एवं आत्मा की ओर हो जाना, आत्म सम्मुख हो जाना ही जगत् का त्याग करना है । साधक को बाहर से दुष्कर्मों का त्याग भी करना चाहिये ।

'शान्तिः'– अन्तःकरण में राग–द्वेष जनित हलचलका न होना 'शान्ति' है । क्योंकि राग–द्वेष के व्यवहार से ही अशान्ति पैदा होती है । अतः राग–द्वेष किसी के प्रति न करे ताकि मनमें अशान्ति न हो । हमारा आत्म स्वरूप तो परम शान्त है ही इसका अनुभव रोज गहरी नींद में होता है और सुबह कहते भी हैं कि मैं रात सुख से सोया । क्योंकि सुषुप्ति

में किसी प्रकार राग–द्वेष, अशान्ति, दुःख, चिन्ता, भय, प्रलोभन का कारण वहाँ मन ही नहीं है ।

'अपैशुनम्' – किसी के दोष को दूसरे के सम्मुख प्रकट कर उसे नीचा दिखाना, दूसरों के मन में उसके प्रति अश्रद्धा कराना **पिशुनता** है । लोगों में प्रायः अपनी प्रशंसा एवं दूसरे में गौणता दिखाना सहज प्रवृत्ति होती है और ऐसा न करना **'अपैशुन'** है ।

'दया भूतेष' – दूसरों को दुःखी देखकर उनके दुःख को दूर करने की भावना, कामना, प्रयास करना दया कहलाती है । वास्तव में दया उन्हें देखकर आती है, जो देव दुर्लभ मानव जीवन पाकर भी अपने को सृष्टि चक्र, आवागमन से मुक्त करने के लिये चेष्टा नहीं करते हैं एवं पुनः उसी दुःख रूप जन्म–मरण के चक्र में पड़ने के साधन रूप संसार व शरीर में अहंता–ममता कर रहे हैं । सद्‌गुरु, महात्माओं के जीवन में जीवों के कल्याणार्थ सदा दया बनी रहती है और वे अपना ब्रह्मानन्द सुख छोड़ अपमानित होकर, कष्ट सहकर, गर्दन कटाकर, जहर पीकर, मृत्यु दंड पाकर भी लोक कल्याण करते रहते हैं ।

'अलोलुप्त्वम्' – इन्द्रियों का विषयों से सम्बन्ध में अधिक आसक्ति का होना, धन संग्रह की वृत्ति, दूसरों को भोगते हुए देख उस भोग को मैं कैसे प्राप्त करूँ ? मेरा भोग, धन, सुख कम न हो इसे **लोलुपता** कहा जाता है । इन सब दोषों का न रहना **'अलोलुप्त्वम्'** कहा जाता है ।

'मार्दवम्' – बिना कारण से दुःख देने वाले और वैर रखने वाले के प्रति भी मन में उनके अहित करने, बदले की भावना, कठोरता का भाव न होना मार्दवम् कहलाता है । उनके प्रति सरलता का भाव रखना तथा उनकी सत्‌बुद्धि के लिये भगवान् से प्रार्थना करना यह मार्दव है । शरीर की प्रधानता को लेकर आर्जव और मन की प्रधानता से मार्दव कहा जाता है ।

'ह्रीः' – शास्त्र व लोक मर्यादा के विरुद्ध काम करने में जो संकोच होता है उसे ह्री कहते हैं । मैं साधु होकर चोरी कैसे करूँ, लोग क्या कहेंगे ? ऐसी लज्ञा के कारण बुरे कर्मों से बच जाता है ।

'अचापलम्' – किसी कार्य को धैर्य एवं श्रद्धा विश्वास से करना अचपलता कहलाती है । चपलता से काम बिगड़ जाता है ।

तेजः क्षमा धृति शौचमद्रोहोनातिमानाति ।
भवन्ति सम्पदं दैवीमभिजातस्य भारत ।। १६/३

'तेजः' – संत महापुरुषों एवं सच्चे साधकों को सात्विक जीवन एवं साधन के फल स्वरूप एक आभा, ओज–तेजसा प्रकट होता है । जो उनके पास जाता है, उन्हें परम शान्ति प्राप्त होती है । बुरे विचार हट अच्छे विचार उदय होने लगते हैं । अपने पाप कर्मों का मन में प्रायश्चित होने लगता है कि देखो मैंने मेरा जीवन कैसा दुःख व नरक का घर बना रखा है । इन महापुरुष का कैसा स्वर्ग का जीवन है।

'क्षमा' – सामर्थ्य होते हुए भी अपने को हानि पहुँचाने वाले अपराधी के अपराध को सह लेना, उसके प्रति शत्रु भाव मन में न रखना क्षमा है ।

'धृति' – किसी अनुकूल या प्रतिकूल परिस्थिति में अपने लक्ष्य से विचलित न होकर अपनी निष्ठा, भक्ति, साधन, कर्तव्य कर्म से लगे रहना 'धृति' कहलाती है ।

'शौचम्' – शरीर के भीतर–बाहर की शुद्धि स्नान, उपवास आदि से करना एवं मन की शुद्धि सदाचार सत्संग द्वारा करना शौच है । शरीर की शुद्धि करते समय यह विचार आना चाहिये कि यह शरीर मल का भण्डार है, इससे देहाभिमान नहीं होने पावेगा ।

'अद्रोह' – बिना कारण अनिष्ट करने वालों के प्रति भी अन्तःकरण में बदला लेने की भावना का न होना अद्रोह है ।

निज प्रभुमय देखहिं जगत, केहि सन करहि विरोध ।।

'नातिमानिता' – सामान्य लोगों से अपना मान चाहना मानिता है एवं श्रेष्ठ पुरुषों से, गुरुजनों से मान चाहना अति मानिता है । इन दोनों प्रकार के मान को न चाहना **'नातिमानिता'** है ।

आसुरी सम्पदा जो त्यागने योग्य है

दम्भो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च ।
अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ सम्पदमासुरीम् ।। गीता : १६/४

'दम्भः'– मान, बड़ाई, सेवा, पूजा कराने के लिये जैसी अपनी योग्यता नहीं है फिर भी वैसा दिखाना, घर सजाना, खर्च करना, कर्ज लेकर दान दाताओं की सूची में अपना नामांकित करना, यह सब दम्भ है ।

'दर्प'– अनित्य धन, सम्पत्ति, पुत्र, पति, पत्नी, पद, प्रतिष्ठा के कारण मन में जो गर्व पैदा होता है कि मैं कितना महान् हूँ, मेरे बराबर कोई धनवान्, बलवान्, बुद्धिमान्, गुणवान्, दयालु, दानी, सेवक कोई नहीं इस प्रकार मन में घमण्ड होने को दर्प कहते हैं । ममता की चीजों को लेकर दर्प होता है एवं अहंता की चीजों को लेकर अभिमान होता है ।

'**क्रोध'**– मनुष्य के स्वभाव या आकांक्षा के विपरीत कार्य करने से उसका अनिष्ट करने के लिये अन्तःकरण में जो जलनात्मक वृत्ति पैदा होती है, उसका नाम क्रोध है । क्रोध के वशीभूत होकर न करने योग्य काम कर बाद में पश्चाताप करता है ।

गुरु का शिष्य के प्रति, माता–पिता का सन्तान के प्रति जो क्रोध है, वह वास्तव में क्रोध नहीं है वह 'क्षोभ' है । उसमें उसके हित का भाव छिपा है ।

क्रोध मनुष्य का प्रथम शत्रु है, जो देह में स्थित होकर देह का नाश करता है । जैसे अग्नि लकड़ी में स्थित हो लकड़ी को ही जलाती है । क्योंकि अपना अनिष्ट किये बिना क्रोधी दूसरे का अनिष्ट कभी नहीं कर सकेगा । जैसे कपड़े को गरमी पहुँचाने के लिये आयरन को प्रथम गरम होना ही पड़ेगा ।

'पारुष्यम्' – कठोरता का नाम 'पारुष्य' है । जैसे वाणी से कठोर बोलना, सीधे न बोल टेड़े ढंग से बोलना, अहंकार युक्त बोलना ।

'अज्ञानम्' – सत–असत्, जड़–चेतन, आत्मा–अनात्मा, द्रष्टा–दृश्य, शव–शिव, कारण–कार्य का विवेक न होना अज्ञान कहलाता है । वास्तव में तो अपने को देह मानना व परमात्मा को अन्य जानना ही अज्ञान है ।

उपरोक्त सभी लक्षण आसुरी सम्पत्ति को लेकर चलने वाले मनुष्यों के हैं, जो जीव को जन्म–मरण के चक्र में बांधने वाले है ।

अतः साधक को आसुरी लक्षणों से दूर रहना चाहिये एवं जीवन से उन्हें अलग करदेना चाहिये, जैसे कष्ट पाकर भी पैर में लगे कांटों को निकाल फेंक देते हैं तथा देवी सम्पदा के लक्षणों को अंलंकारों की तरह धारण करना चाहिये ।

शिष्य सद्गुरु के पास कैसे जावे

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया ।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ।। गीता : ४/३४

'तद्विद्धि' – इस जन्म–मरण के दुःख से छूटने की इच्छा वाला, साधक सर्व प्रथम कर्म, उपासना द्वारा अन्तःकरण के मल, विक्षेप दोषों को दूर करे । ब्रह्म जिज्ञासा होने पर सभी कर्म, उपासना का फल सहित त्याग करे । तत्पश्चात् शम, दम, श्रद्धा, तितिक्षा, उपरामता, समाधानता साधनों से सम्पन्न होकर आत्म ज्ञान की प्राप्ति के लिये जिज्ञासा एवं श्रद्धा पूर्वक श्रोत्रिय और ब्रह्मनिष्ठ गुरु के पास जाकर आत्मज्ञान को प्राप्त करे । अध्यात्म रामायण उत्तरकांड ५/७

'प्रणिपातेन' – श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ ज्ञानी गुरु के सम्मुख जब भी जावें उन्हें श्रद्धा पूर्वक भगवत्बुद्धि रख साष्टांग दण्डवत् प्रणाम करना चाहिये । नम्रता, सरलता, सम्मान पूर्वक उनके सब उपयोगी सेवा को लोक लज्जा मानादि छोड़ करना चाहिये । अपने शरीर व वस्तुएँ उनके अर्पण करदे ।

'सेवया' – जिससे वे प्रसन्न हो वैसा काम करे । जो तत्त्व गुरु से प्राप्त किया है, वह तत्त्व अन्य मुमुक्षुओं, जिज्ञासुओं तक पहुँचाना तथा स्वयं उसी अनुसार अपने को बनाने हेतु तत्पर रहना चाहिये । गुरु सेवा व आज्ञा पालन में अपने जीवन बलिदान करने की जरूरत पड़े तो पीछे न हटे, सिर काट देना पड़े तो भी अति शिघ्र कर देना चाहिये । यहाँ आत्महत्या या सिर काटने का इसारा समस्त अहंकार को त्याग करने के लिये कहा है ।

यह तन विष की बेलड़ी, गुरु अमृत की खान ।
शीष कटाये जो मिले, तो भी सस्ता जान ।।

यह मन ही सब अहंकार करता है अतः इसका समर्पण करना ही सिर काट कर देना है । अपने आपको उनके सर्वथा आधीन करदे । उनके संकेत व मन के अनुसार कर्म करे ।

'परिप्रश्नेन'– निष्कपट्ता, सरलता व नम्रता से अपने कल्याण के लिये पूछे, उनकी परीक्षा करने अथवा अपने विद्वता दिखाने के लिये प्रश्न न करे । केवल परमात्म तत्त्व जानने के लिये प्रश्न करे ।

ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः– श्रोत्रिय अर्थात् वेद शास्त्रों का भली प्रकार ज्ञान हो ऐसे ब्रह्मनिष्ठ महापुरुषों के पास जाकर ज्ञान प्राप्त करे । यदि गुरु शास्त्र ज्ञाता है किन्तु आत्म निष्ठ नहीं है, तो उसकी बातों को सुनकर श्रोता को दृढ़ बोध कभी नहीं हो सकेगा । श्रोत्रिय गुरु प्रवचन कर सकता है, शास्त्र पढ़ा सकता है, ग्रन्थ लिख सकता है । जगत् वन्दनीय भी हो सकता है, पर उसका व अन्य का ब्रह्मनिष्ठा बिना कल्याण नहीं हो सकेगा अतः ब्रह्मनिष्ठ तत्त्वदर्शी महापुरुष द्वारा ही ज्ञान प्राप्त करें।

उद्धव जो भगवान् श्रीकृष्ण के पास १२५ वर्ष रहे । एक समय गोपियों को श्रवण कराने हेतु कृष्ण ने एक ज्ञानोपदेश पत्र लिख उद्धव को जाकर सुनाने को कहा । उद्धव ने जाकर गोपियों को पढ़ सुनाया किन्तु किसी एक को भी आत्म बोध नहीं हुआ । परन्तु जब सूर्य ग्रहण के समय कुरुक्षेत्र पर कृष्ण गये वहाँ वही उपदेश ब्रज गोपियों को कहा तो उन्हें तत्काल ब्रह्मबोध होगया । उद्धव द्वारा वही उपदेश सुनाने पर उसका प्रभाव क्यों नहीं पड़ा ? उसका कारण उद्धव स्वयं तत्त्वदर्शी नहीं थे । इस प्रकार केवल शास्त्र वेत्ता से सम्पूर्ण जीवन ज्ञान कथा सुनते रहेंगे तो भी सुनने वालों को आत्मबोध नहीं हो सकेगा ।

'उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानम्' – विवेक, वैराग्य, षट् सम्पत्ति तथा मुमुक्षुता युक्त होकर गुरु के समीप अपने को पूर्ण रूपेण समर्पित कर उनकी प्रसन्नता अनुसार सेवा करने पर वे तत्त्वज्ञान का उपदेश देंगे । इसका यह

तात्पर्य नहीं है कि महापुरुषों को आपके नश्वर विकारी तन, धन की जरूरत है । प्रत्युत इसलिये कि तुम्हारी उनसे आसक्ति, अहंता–ममता दूर हो सके एवं एकाग्रता पूर्वक तत्त्व ग्रहण कर सके ।

'ज्ञानम्' – वास्तव में ज्ञान द्वारा स्वरूप का बोध नहीं होता प्रत्युत् संसार के अनित्यता, नश्वरता, क्षणभंगुरता एवं बन्धन का ज्ञान होने से वहाँ से मन उपराम हो जाता है । फिर संसार व शरीर से सम्बन्ध विच्छेद हो जाता है और स्वतः सिद्ध परमात्मा का अनुभव हो जाता है ।

'उपदेक्ष्यन्ति' – श्रद्धावान् साधक को ही सद्गुरु उपदेश करते हैं, जिससे वह आत्मानुभूति कर जीवन धन्य करलेता है । अपने को सच्चिदानन्द ब्रह्म रूप में अनुभव करलेता है । जिसके फल स्वरूप वह पुनः इस शरीर–संसार में अहंता–ममता नहीं करपाता है ।

गुरुमृत्युः जिसे अपने को पूर्ण रूपेण मिटाकर नूतन जीवन प्राप्त करने की इच्छा हो, वह गुरु के पास जावे । सच्चा सद्गुरु तुम्हें इसी जीवन में दूसरा जन्म दिला देता है । जैसे नदी मिटकर सागर हो जाती है, इसी प्रकार सच्चा सद्गुरु शिष्य की वर्तमान जीवन के सभी अनात्म अहंकार से मुक्ति दिलातेहै नया जीवन आत्मानुभूति का प्रकट हो जाता है ।

मन मुखी का कल्याण नहीं

अज्ञश्चाश्रद्धानश्च संशयात्मा विनश्यति ।
नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः ।।४/४०

जिस पुरुष को सद्गुरु एवं सत शास्त्रों के सिद्धान्त पर श्रद्धा एवं विश्वास नहीं है, ऐसे अश्रद्धावान् संशयात्मा का परमार्थ पथ से पतन हो जाता है । क्योंकि वह शिक्षा रहित मनुष्य की बुद्धि तो सत–असत् का विवेक करने में समर्थ होती नहीं और उपदेश करता सद्गुरु पर भी श्रद्धा नहीं, तब ऐसे मूर्ख व्यक्ति को ज्ञान कौन जाग्रत करा सकेगा ? संशयों का समाधान तो तब हो जब वह किसी महापुरुष के उपदेश को ध्यान से श्रवण करे । वह तो श्रवण करता नहीं, श्रद्धा करता नहीं केवल अपनी ही मूढ़ता के कारण अपने अधूरे ज्ञान को ही पूर्ण ज्ञान मानलेता है ।

साधक को अपनी बुद्धि पर पूर्णता का विश्वास नहीं कर लेना चाहिये कि मैंने जितना जाना है, वही पूर्ण है, इससे ज्यादा मुझे कोई कुछ नहीं बता सकता । साधक को अपने स्वरूप के प्रति संशय बनाये रखना और महापुरुषों की बातों पर अविश्वास कर अपने मताग्रह मूढ़ता पर सन्तोष नहीं करना चाहिये ।

ज्ञान हो तो संशय मिट सकता है और श्रद्धा हो तो भी संशय मिट सकता है । किन्तु संशयात्मा मनुष्य में न तो अपना विवेक है और न सद्गुरु पर श्रद्धा है । ऐसा व्यक्ति लोक तथा परलोक दोनों और से गया । क्योंकि न उसे यहाँ शान्ति होगी न परलोक में विश्वास तो वहाँ जा

ही कैसे सकता है ? इस तरह उसका पतन अवश्य ही होता है इसमें किञ्चित् भी सन्देह नहीं ।

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य योऽपिसुः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रस्तेऽपि यान्ति परां गतिम् ।।

गीता : ९/३२

हे अर्जुन ! स्त्री, वैश्या, शुद्र तथा–चाण्डालादि पाप योनि जो कोई भी हों, वे भी मेरे शरण होकर परमगति को ही प्राप्त होते हैं ।

साधक को अपने कल्याणार्थ सद्गुरु एवं सत शास्त्रों के सिद्धान्त पर विश्वास करना चाहिये । क्योंकि वेद, उपनिषद, पुराण, गीता, रामायण आदि धर्म ग्रन्थ उन त्रिकालज्ञ महापुरुषों द्वारा सत्य की खोजकर, अनुभव कर ही लिखे गये हैं । अतः श्रद्धावान् को ही ज्ञान की प्राप्ति होती है । ज्ञान द्वारा ही समस्त दुःखों से छुटकारा व अखण्डानन्द की प्राप्ति हो सकती है ।

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः ।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति ।। गीता : ४/३९

जितेन्द्रिय, साधनपरायण और श्रद्धावान् मनुष्य ज्ञान को प्राप्त होता है तथा ज्ञान को प्राप्त होकर वह बिना विलम्बके – तत्काल ही भगवत्प्राप्तिरूप परम शान्ति को प्राप्त हो जाता है ।

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः ।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम् ।। गीता : १६/२३

जो लोग शास्त्र विधि अर्थात् त्रिकालज्ञ भगवान् अथवा महान् तत्त्वज्ञ महापुरुष, ऋषियों के देखे, जाने, माने अनुभव से कहे हुए सिद्धान्त पर अश्रद्धा करता है, उनकी आज्ञा की अवहेलना करता है और अपने कल्याण के लिये अपने अज्ञानी मन के अनुसार यज्ञ, दान, तप, व्रतादि कष्ट प्रद साधन करता है । वह अपने मन कल्पित साधनों द्वारा मुक्त नहीं हो सकेगा ।

पाषाणलोहणिमृण्मयविग्रहेषु पूजा पुनर्जननभोगकरी मुमुक्षोः ।
तस्माद्यतिः स्वहृदयार्चनमेव कुर्याब्दह्यार्चनं परिहरेदपुनर्भवया ।।

– मैत्रेय्युपनिषदः २/२६

पत्थर, सोना अथवा मिट्टी द्वारा बनाई मूर्तियों की पूजा मोक्ष की इच्छा वालों को फिर से जन्म और भोग प्राप्त कराने वाली होती है । इसलिये फिर से जन्म न लेना पड़े इस उद्देश्य से संन्यासी को ऐसी बाहरी पूजा का त्यागकर हृदय में ही आत्मा की पूजा करनी चाहिए ।

ऐसे उन सकामी लोकवासना एवं देह वासना से ग्रसित लोगों को परमगति नहीं मिल सकेगी । क्योंकि वे तो परमगति को मानते भी नहीं और फलेच्छा को लेकर, अपने मान बड़ाई पाने के लिये काम, क्रोध युक्त हुए कर्म, उपासना आदि करने से जन्म–मरण के बन्धन को ही प्राप्त होते हैं ।

कर्मणा बध्यते जन्तुर्विद्या च विमुच्यते ।
तस्मात्कर्म न कुर्वन्ति यतयः पारदर्शिनः ।।

– संन्यासोपनिषदः २/९८

कर्म करने से जीव को बन्धन होते है और ज्ञान से मुक्त होता है । अतः तत्त्व का दर्शन करने वाले यति लोग कर्म नहीं करते हैं ।

यदि वे शास्त्र पर श्रद्धा करते एवं शास्त्र विद्धि अनुसार चलते तो अपने नाम की ख्याति प्राप्त करने के लिये सकाम कर्म न कर निष्काम कर्म करते, जिससे उनका मल, विक्षेप दोष दूर होकर वे ज्ञान के द्वारा परमगति निर्वाण को प्राप्त कर पाते ।

जैसे रोगी अपने रोग से मुक्ति पाने के लिये डाक्टर वैद्य की दी गई औषधि को श्रद्धा विश्वास से खाता है, कूपथ्य का त्याग करता है, तो वह शिघ्र रोग से मुक्ति लाभ कर पाता है । परन्तु आसक्ति वश रोगी कुपथ्य का त्याग न करे एवं औषध भी ग्रहण न करे तो वह अधिक रोगावस्था को ही प्राप्त करता है ।

इसी प्रकार अज्ञानी शास्त्र विधि का त्याग कर अपने मन माने शुद्ध आचरण को अपनाते हैं और समाज सुधार, परोपकार की भावना, दीन

दुःखियों की सेवा भी करते हैं । परन्तु सकामी व्यक्ति के मन में मान बड़ाई अहंकार रहने से उनके अच्छे आचरण भी बुराई में, बन्धन रूप फल में बदल जाते हैं । वे अपने से अधिक दान कर्ता, यज्ञ कर्ता, तप कर्ता के प्रति ईर्षा भी करते हैं ।

इसलिये उन लोगों को न यहाँ वर्तमान में सुख मिल पाता है न परमगति अर्थात् परमानन्द रूप मुक्ति को प्राप्त कर पाते है ।

न मां दुष्कृतिनो मूढ़ाः प्रपद्यन्ते नराधमाः ।
माययापहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः ।। गीता : ७/१५

भोग तथा संग्रह की आसक्ति में रचे–पचे मूढ़ लोग मेरी शरण को ग्रहण न कर इस माया संसार में सत्य व सुख बुद्धिकर उसे पाने हेतु मनुष्यों में महान् नीच कर्म करने वाले अधोगति आसुर योनि को ही प्राप्त होते हैं ।

अशास्त्र विहितं घोरं तप्यन्ते ये तपो जनाः ।
दम्भाहङ्कार संयुक्ताः काम राग बलान्विता ।। गीता : १७/५

कर्शयन्तः शरीरस्थं भूत ग्राममचेतसः ।
मां चैवान्तः शरीरस्थ तान्विद्धयासुर निश्चयान् ।। गीता : १७/६

शास्त्र में जिसका विधान, अनुमोदन, आज्ञा नहीं किया गया है, प्रत्युत् उसे बन्धन रूप, दुःख रूप, पुर्नजन्म का हेतु तथा अधोगति का कारण बताकर निषेध किया है । फिर भी उस असुर स्वभाव वाले पुरुष की उन लोग दिखावटी एवं दूसरे प्राणियों के अहित करने, उन्हें नीचा दिखाने या मारने की असुर प्रकृति को लेकर घोर कष्टप्रद साधन करता है ।

कर्शयन्तः शरीरस्थं भूत ग्रामम्' – वे असुर प्रकृति के लोग, अपने को श्रेष्ठ एवं दूसरों को नीचा दिखाने की भावना वाले उन तपों को करते है ; पृथ्वी, जल, तेज, वायु से बने इस पांच भूतों के शरीर को कृश करने वाले, सुखाने वाले होते हैं । जैसे दिन–रात एक पैर पर खड़े रहना, शीत, उष्ण, वर्षा में खुले आकाश में रहना, एक हाथ आकाश की तरफ उठाकर

रखना, काँटों पर सोना, शीर्षासन लगाये रखना, नाक, कान के द्वारा बन्द रखना, अग्नि पर चलना, पानी में, जमीन में समाधि लगाना । अधिक भूखे रहना, बिना अन्न, जल केवल वायु पर रहना, शरीर की प्राणगति को रोक रखना, भयंकर गरमी में चारों तरफ अग्नि रख मध्य में बैठे रहना, मुर्दे का मांस खाना, नर बलि, शिशु बलि या पशु बलि देना आदि अनेकों कु–कर्मों को शास्त्र विरुद्ध अविधि पूर्वक कर शरीर को कष्ट देने वाले लोग शरीर व अन्तःकरण में स्थित मुझ जीवात्मा को भी दुःख देते हैं ।

यन्ति देवव्रता देवन्पितृन्यान्ति पितृव्रता ।
भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम् ।

– गीता : ९/२५

अतः ऐसे अज्ञानी लोगों को असुर निष्ठा वाले जानना चाहिये फिर इन असुर निष्ठावान् लोगों को असुर योनि में ही मैं जन्म दिलाता हूँ । क्योंकि ऐसा नियम है कि मृत्यु के समय जिस प्रकार की भावना होती है, वह उस भाव से सदा भावित होता हुआ उस–उस योनि में ही चला जाता है ।

यं यं वापि स्मरन्भावंत्यजत्यन्तें कलेवरम् ।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भाव भावितः ।। गीता : ८/६

वास्तव में सब समय श्वाँस बाहर जा रही है और श्वाँस का बाहर जाना ही तो मृत्यु है । अतः साधक को प्रत्येक श्वाँस अन्तिम जान अच्छे विचार, शुभ चिन्तन, परोपकार की भावना ही हर समय मन में रखना चाहिये ताकि उसकी सद्गति हो सके ।

काल करे सो आजकर आजकरे सो अब ।
पल में प्रलय होयगा फिर करेगा कब ।।

श्वाँस श्वास में नाम सुमिर वृथा श्वाँस मत खो ।
न जाने इस स्वाँस का, फिर आवन होय न होय ।।

यत्र यत्र मानोयाति तत्र तत्र समाधयः

तत्त्वज्ञान की महिमा

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः ।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं सन्तरिष्यसि ।। गीता : ४/३६

'अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः' भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन को कहते हैं – दुनियाँ में पाप करने वाले जितने भी पापी हैं, यदि तू उन सबसे भी अधिक पापकृत है तो भी हे जीवात्मा ! तू तत्त्वज्ञान से सम्पूर्ण पापों से भली प्रकार निःसन्देह तर जायगा ।

'सर्वं ज्ञानप्लवनैव वृजिनं सन्तरिष्यसि'– प्रकृति के कार्य शरीर, इन्द्रिय तथा मन, बुद्धि से ही समस्त पाप होते हैं । तत्त्वज्ञान होने से प्रकृति के कार्य रूप यह शरीर एवं संसार से सम्बन्ध विच्छेद हो जाता है । कारण पाप कितने ही क्यों न हो, वे सब असत् सूक्ष्म शरीर द्वारा हुए है । इसलिये असत् की सत्ता नहीं एवं ज्ञान सत है उसके सम्मुख असत् टिक ही कैसे सकता है ? अन्धकार कितना घना एवं पुराना क्यों न हो किन्तु वह प्रकाशके सम्मुख ठहर नहीं सकता । सूर्य के प्रकाश में दीपक का प्रकाश या चन्द्रप्रभा निस्तेज हो जाती है । इसी प्रकार ज्ञान के सम्मुख अज्ञान अभाव रूप हो जाता है ।

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युःपाप योनयः ।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परांगतिम् ।। गीता : ९/३२

जो पूर्व जन्मके कुकर्मी पापी है जैसे असुर, चाण्डाल, चोर, हत्यारे, पर स्त्री हरण करने वाले, गुरु, पिता, माता, भ्रूण हत्यारे स्त्री,

वैश्य, शूद्र वे सभी भगवद्भक्ति के द्वारा निःसन्देह परमगति को प्राप्त हो सकते हैं ।

जैसे मां की गोद में बच्चे को जाने का पूर्ण अधिकार है, बच्चा चाहे जितना गन्दा ही क्यों न हो, मां उसे ऐसा कभी नहीं कहती कि जब तू स्नान कर मल, मूत्र का त्याग कर आयेगा तब तुझे मैं गोद में लूँगी ।

इसी प्रकार नीच से नीच मनुष्य भी परमात्मा को पाने के लिये खुला द्वार है । किन्तु पशु, पक्षी, में परमात्मा की ओर चलने योग्य विवेक नहीं है, फिर भी जटायु, गजेन्द्र, गरुड़, काक भुषुण्डी आदि के नाम पुराणों में मिलते हैं ।

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात कुरुतेऽर्जुन ।
ज्ञानाग्निः सर्व कर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा ।। गीता : ४/३७

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात कुरुतेऽर्जुन – जैसे प्रज्वलित अग्नि काष्ठादि सम्पूर्ण ईंधन को भस्म कर देती है कि उसका किञ्चित् मात्र भी अंश शेष नहीं रहता, अथवा जैसे सूर्य प्रकाश घोर अन्धकार को विलीन कर देता है । जैसे जला, भुना गेहुँ, चना, मक्का, मटर आदि पुनः अंकुरित नहीं होते है, इसी प्रकार ज्ञान रूप अग्नि सम्पूर्ण पापों को इस प्रकार नष्ट कर देती है कि फिर पुनर्जन्म का हेतु कर्म बीज ही शेष नहीं रहता ।

ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा –जैसे अग्नि समस्त ईंधन राशि को भस्म कर देती है, इसी प्रकार ज्ञान रूपी अग्नि जीव के सभी संचित्, प्रारब्ध एवं क्रियमाण कर्मों को नष्ट करदेती है ।

द्रष्टा, साक्षी ज्ञान होने पर कर्तृत्वाभिमान नहीं रहने से जीव द्वारा कर्म होते दीखने पर भी वह उन शुभाशुभ कर्मों का कर्ता नहीं रहता है । ज्ञानी के सब कर्म ज्ञानाग्निसे निर्बीज हो जाते हैं । अतः सभी क्रियमाण कर्म अकर्म हो जाते हैं । शरीर रहने तक प्रारब्धानुसार अनुकूल प्रतिकूल

परिस्थितियाँ आने पर उसके निवारणार्थ प्रयत्न एवं भोग होने पर भी उन क्रियाओं का कर्ता नहीं बनता है।

जो कहते हैं कि प्रारब्ध कर्म ज्ञानाग्नि द्वारा नष्ट नहीं होते हैं, उनकी यह भूलहै, भ्रान्ति है । क्या जिस पुरुष की तीन पत्नी हों और पुरुष मर जावे तो क्या ऐसा कहा जा सकेगा कि दो पत्नी विधवा हो गई किन्तु एक अभी सधवा जीवित है ? नहीं, तीनों ही एक साथ विधवा मानी जावेगी । अतः ज्ञानाग्नि द्वारा जीव के समस्त कर्म भस्मीभूत हो जाते हैं । ज्ञानी का जब देह नहीं तब देह का प्रारब्ध कैसे रहेगा ? ज्ञानी याने आत्मा ।

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते ।
तत्स्वयं योग संसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति ।। गीता : ४/३८

संसार में यज्ञ, तप, दान, व्रत, पूजा, उपवास, जप, ध्यान, प्राणायाम आदि जितने भी साधन हैं तथा गंगा, यमुना, गोदावरी, त्रिवेणी आदि जितने भी पवित्र करने वाले तीर्थ हैं। उन सबसे अधिक पवित्र एवं जीव को तत्काल पापों से मुक्ति दिलाने वाला तत्त्व ज्ञान के समान कोई भी साधन, तीर्थ आदि नहीं है । सभी साधन तत्त्वज्ञान पाने में सहायक है । तत्त्वज्ञान सबका साध्य है ।

ज्ञानयोग पराणां तु पाद प्रक्षालितं जलम् ।
भाव शुद्ध्यर्थमज्ञानां तत्तीर्थं मुनि पुङ्गव ।।

– जावाल दर्शन. उप. ४/५६

अज्ञानी मनुष्यों के अन्तःकरण शुद्धि के लिये ज्ञानयोग में तत्पर योगियों का चरण अमृत ही सर्व श्रेष्ठ तीर्थ है ।

यावानर्थ उदपाने सर्वतः सम्प्लुतोदके ।
तावान्सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मज्ञस्य विज्ञानतः ।। गीता : २/४६

सब ओर से परिपूर्ण महान् जलाशय के प्राप्त हो जाने पर छोटे जलाशय में मनुष्य का जितना प्रयोजन रहता है । ब्रह्म को तत्त्वसे जानने वाले ब्राह्मण का भी समस्त वेदों से कोई प्रयोजन नहीं रहता है ।

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः ।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति ।। गीता : ४/३९

परमात्मा में, महापुरुषों में, धर्म में और शास्त्रों में अपने कल्याण का विश्वास करना 'श्रद्धा' कहलाता है ।

परमात्मा अखण्ड होने से सब देश, सब काल, सब रूप में है तो मुझ में भी परमात्मा है । ऐसा मान लेने का नाम श्रद्धा है । अपने से परमात्मा की दूरी मान लेने के कारण ही परमात्मा सर्वत्र सब रूपों में होने पर भी अनुभव में नहीं आपाते हैं ।

जिसकी सम्पूर्ण इन्द्रियाँ पूर्णतया वश में है और जो अपने साधन में तत्पर है ऐसा श्रद्धावान् मनुष्य ज्ञान को प्राप्त होकर तत्काल परम शान्ति को प्राप्त हो जाता है ।

जैसे मृग की नाभि में कस्तूरी होते हुए भी उसे तत्काल प्राप्त नहीं होती है, क्योंकि वह अज्ञानता से उसे बाहर ढूँढता फिरता है । इसी प्रकार जीव का ब्रह्म स्वरूप सहज परमशान्त ही है । किन्तु उसकी दृष्टि अनित्य शरीर व संसार की तरफ सुख मिलने की आशा में लगी रहती है । इसलिये अनेक जन्मों से आज तक शान्ति की खोज में भटकते रहने पर भी उसे शान्ति नहीं मिल सकी ।

तत्त्वज्ञान का अनुभव होने पर दुःख रूप शरीर व संसार से मैं–मेरा तथा सुख बुद्धि का त्याग होकर अपने सच्चिदानन्द आत्म स्वरूप में मैं भाव जाग्रत हो जाता है, तब स्वतःसिद्ध परमशान्ति का तत्काल अनुभव हो जाता है ।

श्री आत्मदेवाय नमः

मृत्यु क्या है ?

गर्भ में जीवात्मा नव माह हाथ पैर बंधे सकड़े स्थान में पड़ा रहता है । जहाँ वह न पैर, हाथ फैला सके, न श्वाँस ले सके, ऐसे संकीर्ण मल, मूत्र एवं दुर्गन्ध स्थान में रहता है । वहाँ पर जहरीले कीड़ों से भरी गन्दी, अन्धेरी नाली में वह उल्टे सिर लटकाये असह्य दुःख को भोगता रहता है । यदि किसी मनुष्य को ऐसे स्थान पर हाथ पैर बांध कर, बाह्य पवन व प्रकाश रहित संकीर्ण जगह में रखा जाय नव माह तो क्या नव मिनट भी नहीं रह सकेगा । यदि जीवात्मा को यह गर्भस्थ दुःख की स्मृति रह जाय तो फिर वह दूसरी बार किसी माता के गर्भ में कभी नहीं जाना चाहेगा । जन्म के समय गर्भाशय से बाहर आने के कष्ट की कल्पना करना चाहे तो इसी से अनुमान लगाले जैसे कि नाक के छिद्र से नारियल को बाहर किया जाय । उस कष्ट के समान जन्मदाता मां तथा उत्पन्न शिशु के लिये यह कष्टप्रद होता है ।

''जन्मत मरत दुःसह दुःख होई'' रामायण

लोग मृत्युंजय जाप स्वयं तथा पंडित द्वारा करवाते हैं, पर उसके द्वारा कोई मृत्यु से बच नहीं पाता। उसका अर्थ भी ऐसा नहीं है कि हे शंकर ! आप मेरी मृत्यु को रोक दें। मुझे मृत्यु न आवे या मेरी उम्र बढ़ा दे ।

मृत्युंजय जाप का सरल अर्थ है, हे त्रयंवकेश्वर भगवान् शंकर ! हम आपका भजन पूजा करते हैं । आप हमारे प्रसन्न एवं आनन्दित जीवन

को बढ़ावे, हमारा जीवन सुवासित हो । तरबूज के फल की तरह देह के बन्धन में से हमें सहज मुक्त कीजिए । बिना कष्ट भोगे, मृत्यु पाश से हमे मुक्त करदे अर्थात् सहज देहत्याग हो जावे । महामृत्युंजय जाप द्वारा अमर होने की आशा रखने वाले सोचें कि भगवान् राम भी अपने पिताकी मृत्यु को चौदह वर्ष के लिये नहीं रोक पाये तब क्या आप मृत्यु से बच पायेंगे ?

हानि लाभ जीवन मरण, यश अपयश विधि हात ।

''मोह मूल परमार्थ नाहीं'' (रामायण)

देह, परिवार धन, सम्पत्ति में अहंता–ममता करना बन्धन का कारण है । अतः पिछले जन्म के परिवार को जैसे अज्ञानता वश भूल गये, अब ज्ञान पूर्वक इस परिवार को भी मैं – मेरा भाव से मुक्त करें ।

भगवान् की कृपा से यह अच्छा हुआ जो हमें पूर्व जन्म के पति–पत्नी पुत्र, मित्र, पिता आदि का स्मरण ध्यान नहीं रहता । यदि स्मरण रह जाता तो रास्ते से निकलते समय आपके पूर्व जन्म के पति भैसा, गधा, सूअर रूप में या पत्नी, कुतिया, गधी के रूप में दिखाई दे और आप के साथ वर्तमान घर में आ जाते तो वर्तमान की पत्नी या पति उस पूर्व जन्म की पत्नी या पति को घर में घूसने भी नहीं देंगे व मार डन्डे सर फोड़ देगें, बिना खिलाये घर से बाहर निकाल देंगे।

याद रखें ! अन्तःकरण में अनादि से आज तक के भोग व शरीरों के संस्कारों का रेकार्ड, आडीओ, वीडिओं सीडी बनकर रखी हुई है । सारे जीवन के किये हुए जीव के द्वारा अच्छे बुरे कर्मों के संस्कार अन्तःकरण में चित्रगुप्त द्वारा अंकित होते जाते हैं और उन कर्मों की वीडियों फिल्म आटोमेटिक तैयार हो जाती है । फिर देह छोड़ते समय जीवात्मा को यह फिल्म दिखाई जाती है, जो एक सेकण्ड के सौवें भाग में १०० वर्ष की जीवन यात्रा देखलेता है । दशरथजीने भी उस फिल्म को देखा कि राम वियोग में जो मैं मर रहा हूँ इसमें कैकेयी का दोष नहीं है, बल्कि मैंने जो श्रवण को मारा है उसके अन्ध पिता का ही श्राप है, यह मेरे पाप का ही परिणाम है ।

शरीर छोड़ते समय जैसी मति होती है, आने वाले जन्म में वही योनि प्राप्त होती है । योगी जड़ भरत हरिण में आसक्ति कर देह त्याग करने से हरिण योनि में पहुँच गये ।

यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम् ।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः ।। गीता : ८/६

हे कुन्तीपुत्र अर्जुन ! मनुष्य अन्तकालमें जिस भावका स्मरण करते हुए शरीर छोड़ता है, वह उस (अन्तकालके) भावसे सदा भावित होता हुआ उसको ही प्राप्त होता है अर्थात् उस योनि को ही चला जाता है ।

जो जीवित अवस्था में अच्छे कर्म करता है तथा मन, वचन से किसी जीव को कष्ट नहीं पहुँचाता है । ऐसा शुद्ध मानवात्मा परमात्मा को प्राप्त न होने पर भी वह व्यक्ति देह छोड़कर निच योनियों में नहीं जाता है ।

न हि कल्याण कृत्कश्चिद् दुर्गतिं तात गच्छन्ति । गीता : ६/४०

जाते नहीं है कोई दुनियाँ से दूर चलके ।
मिलते सब यही हैं कपड़े बदल बदलके ।।

जिसे जीना नहीं आता उसे मरना भी नहीं आता और अन्त में वह कुत्ते की मौत मरता है । अस्तु ! मौत आने से पूर्व उसे जो जान लेता है जिसकी मृत्यु कभी नहीं होती तो फिर उसे कभी नहीं मरना पड़ता है । यदि मरने से पहले उसे नहीं जाना जिसकी कभी मृत्युनहीं होती है तो फिर उसे बारबार मरना ही पड़ेगा ।

जन्म को हम जितना आनन्दप्रद उत्सव रूप मनाते हैं, उतना ही आनन्दप्रद मांगलिक प्रसंग मृत्यु है । मृत्यु की घटना परमात्मा न बनाता तो यह घर नरकागार हो जाता । यदि जीवों के शरीर हजारों–हजारों वर्ष रह जाते तो वे सिकुड़–सिकुड़ कीड़े मकोड़े की तरह छोटे हो जाते । फिर वे जीव जीर्ण–शीर्ण शरीर से, खाट पर पड़े रहते । वहीं मल, मूत्र,

कफ का त्याग करते रहते। घर में सब बूढ़ों की खाट ही खाट रखी होती, घर में पैर रखने की भी जगह नहीं होती । यह परमात्मा ने मृत्यु की घटना जीवों के लिये अत्यन्त उपकारक बनाई है । उससे आप देह छोड़ने के समय परमात्मा के साथ महामिलन के मांगलिक उत्सव को भी मना सकेंगे ।

मृत्यु, पापी की मृत्यु कराकर उसे पाप कर्म करने से मुक्त कर देती है । रावण, दुर्योधन, शकुनी, हिटलर, सिकन्दर, औरंगजेव, चंगेजखान जैसे पापी के पाप कर्मों को रोकने की किसी में सामर्थ्य नहीं थी । भला कौन चूहा बिल्ली के गले में घंटी बाधने का साहस करेगा ? मृत्यु ने ही इन महापापियों को पाप कर्म से रोका है ।

जो साधक अपने कल्याण का साधन करते हुए प्राण छोड़ जाता है, तो वह आगे आने वाले जन्म में योग भ्रष्ट संस्कारी अत्यन्त श्रद्धावान् ज्ञानवान् योगियों के कुल में जन्म लेता है । जहाँ उसे पूर्व जन्म के शरीर से की गई साधना के संस्कार नये शरीर में अनायास ही प्राप्त हो जाते हैं । परमात्मा के मार्ग में चलने वाले साधक की साधना व्यर्थ नहीं जाती है न उसका विपरित फल ही होता है।

नेहाभिक्रमनाशोस्ति प्रत्व्यवायो न विद्यते ।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायतो महतो भयात ।। गीता : २/४०

जिसकी संगीत कला, नृत्यकला, तीरन्दाजी, युद्धकला, मलयुद्ध, विज्ञानकला की साधना करते–करते प्राण छूट गया तो उस कला को आगामी जीवन में पूर्ण करने का सौभाग्य, मृत्यु देव ही उसे प्रदान करते हैं । कई पुण्यशाली जीवात्माओं में अनेक प्रकार के समाज हितकारी शुभ कर्म करने की इच्छा होती है किन्तु उसे उस कार्य करने में सामाजिक परिस्थिति, धर्म, वर्णाश्रम, जाति आदि बाधक हो जाती है । तो ऐसे पुण्यशाली जीवात्मा को मृत्यु नया जन्म दिलाकर उसे अच्छे संस्कार वाले घर में जन्म दिला देती है, जिससे वह पुण्यशाली जीवात्मा कल्याणकारी, परोपकारी कर्म करने का अवसर प्राप्त कर पाता है ।

मृत्यु बड़े–बड़े अहंकारियों को तथा, अहंकार की इमारत को खण्डित करदेती है । राजा व रंक का भेद मिटा देती है, दोनों को एक स्मशान भूमि पर पहुँचा देती है । पुरुष शरीर से मुक्ति दिलाकर स्त्री शरीर अथवा स्त्री शरीर से मुक्ति दिलाकर पुरुष शरीर दिलाने का अवसर मृत्यु देव ही प्रदान करते हैं । इस जन्म के संस्कार आगामी जन्म में उसे पूर्ण करने का अवसर मृत्यु ही प्रदान करती है । अथवा इस जन्म में किये पाप कर्म का फल भोगने के लिये उसे ८४लाख योनियों में पहुँचा देती है ।

किसी से इस जीवन में हुई हमारी दुश्मनी एवं राग–द्वेष पर मृत्यु परदा डाल देती है । जिसे हम मृत्यु तक भूल नहीं सकते थे उस दुशमनी एवं कर्जदार के स्मरण से मृत्यु मुक्त करा देती है । पिछले जन्ममें हम जिसके कर्जदार थे इस जन्म में वह हमारा पुत्र बनकर उपस्थित हो जाता है और अपना कर्ज लेकर चला जाता है । यदि पिछले जन्म की बात याद रह जाती तो वर्तमान परिवार नष्ट हो जाता । आपको यह स्मरण आ जाय कि वर्तमान में जो मेरा पुत्र है, यह तो मेरा पूर्व जन्म का कट्टर शत्रु है । जो मेरी पुत्री या मां रूप पूर्वजन्म में थी अब वह इस जन्म में मेरी पत्नी रूप में आ गयी है । अब इसके साथ पत्नी का सम्बन्ध कैसे करूँ ? यह पूर्व जन्म का दुश्मन अब इसे पुत्र रूप में कैसे पालूं ?

बूढे रोगी शरीर को घर वाले सेवा कर करके रात–दिन थक जाते हैं कहते भी हैं कि अब यह मर जाय तो अच्छा है । हमसे सेवा नहीं होती रोज ४००–५०० की दवाखर्च, आठ दस हजार माह का खर्च रक्त बदलाव में लगता है । यदि यह मर जाय तो खटिया भर जगह पैर फैलाने को हमें मिल जाय । बूढ़ा भी करवट नहीं बदल पाता, बिस्तर पर ही टट्टी–पेशाब में लिपटा पड़ा रहता है । वह रोगी भी भगवान् से प्रार्थना करता है कि हे भगवान् ! मुझे अब तो इस शरीर से मुक्ति दिलादो । विदेशो में तो रोग से पीड़ित रोगी को कष्ट से मुक्ति दिलाने के लिये उसे जहर देकर या गोली से मृत्यु दिलाते हैं जिसे Mercy Death कहते हैं ।

भारत में यह प्रथा नहीं है । यहाँ मृत्युदेव ही दया कर उस भगन्दर रोग से ग्रसित, कैन्सर रोग, किडिनी रोग, हृदय रोग से पीड़ित को इस वर्तमान शरीर से मुक्ति दिलाकर नूतन शरीर, परिवार, शक्ति, विचार का अवसर दिलाती है ।

मृतक व्यक्ति के घर वाले उसे शिघ्र जलाकर भस्म कर देते हैं कि यह पुनः इस शरीर में आकर भूत रूप में हमें सता न सके । दसवे दिन पिण्ड दान कर भी यही कहते हैं कि तू अब यहाँ से चला जा । हमारा–तेरा अब कोई लेन देन का सम्बन्ध नहीं हमें अब परेशान मत करना । ग्यारहवें दिन घट भरकर रख देते हैं कि यदि तू अग्नि तपन में जल रहा है, तो इस घट का पानी पीकर शान्त हो कहीं भी चला जा । अब इस घर की तरफ मत आना, अब तेरा हमसे कोई सम्बन्ध नहीं है, अतः अब तू यहाँ से चला जा, हमें व्यर्थ परेशान मत करना, हमने तेरा सब कर्ज चुका दिया है । अब तेरा कोई ऋण–बंध, लेने–देन हमारे साथ नहीं रहा ।

इसके बावजूद भी इस जीवात्मा की किसी वस्तु में आसक्ति रह गई होगी तो तेरहवे के दिन उसकी शैय्या भरी जाती है । नया पलंग, गद्दा, रजाई, चद्दर, तकिया, कम्बल, जूता, चप्पल, एक चांदी की सीढी, चांदी की नौका रख साथ में ब्राह्मण को मृतक स्त्री/पुरुष के नामसे सभी वस्त्र दान कर दिये जाते हैं और कहा जाता है कि हमने तुम्हारे नाम का स्नान कर लिया है अब तुम इस घर द्वार से चले जाओ। अब इस द्वार पर कभी मत आना ।

मृत्यु परमात्मा की विभूति है । जन्म–मृत्यु यह जीव के हाथ की बात नहीं, यह घटना परमात्मा के हाथ में है । जो जन्म दे सकता है, वही मार सकता है । अतः मारने व जन्म देने का अभिमान कभी नहीं करना चाहिये । परमात्मा कहते हैं मैं सर्वहरः अर्थात् मैं सब का हरण करने वाला मृत्यु हूँ । कालोऽस्मि अर्थात् मैं काल हूँ, मैं महाकाल हूँ । मैं ही सृजन कर्ता, पालन कर्ता तथा संहार करता हूँ । मैं ही सब भूतों की आत्मा हूँ, मैं ही सबका आदि, मध्य एवं अन्त हूँ । मैं अनादि अनन्त हूँ ।

जीवन में जब मृत्यु घटे तब परमात्मा की ही स्मृति कीजिएगा कि परमात्मा ही मुझे मृत्यु रूप में लेने व नूतन शरीर प्रदान करने आये हैं ।

जन्म व मृत्यु जीवन के दो पैर हैं, जीवन नदी के दो किनारे हैं । नींद भी एक अल्प मृत्यु है, जो जीवन के लिये अनिवार्य है । यदि निद्रा न हो तो मनुष्य अधिक दिन जीवित नहीं रह सकेगा । जो निद्रा पूर्ण नहीं कर पाता है वह दिन भी हंसी खुशी से नहीं गुजार पाता है । दिन में जो कामना, वासना, इच्छा पूर्ण नहीं कर पाते हैं, वह सब स्वप्न में पूर्ण करलेते हैं ।

जीवन की सारी गति वृत्ताकार है । श्वाँस लेने से जन्म है, तो श्वाँस ही मृत्यु द्वार है । मृत्यु, जन्म से विपरीत नहीं है । जो मृत्यु को शत्रु जानता है उसका जीवन जहर हो जाता है । जो मृत्यु को मित्र जानते हैं, वही जीवन का सच्चा आनन्द लेता है । उसके लिये जीवन में कुछ दुःख दायी नहीं है । जो व्यक्ति अपने प्रिय पुत्र, पति, पत्नी मर जाने पर भी परमात्मा को धन्यवाद दें, वही सच्चा आस्तिक है । फिर उस व्यक्ति को पूजा, मन्दिर, तीर्थ जाने की जरूरत नहीं । जो अपने जीवन में हर श्वांस, हर कदम, हर क्रिया, हर विचार, हर निश्चय, हर चिन्तन में परमात्मा को साथ रखता है वह हर चेष्टा परमात्मा को ही समर्पित करता है ।

अपने अहंकार को दृढ़ करना ही पाप है, वही दुःख है । अहंकार को मिटाना ही बड़ा पुण्य है । यह मालकियत ही जीव को दुःख देती है कि मरने पर मेरी पत्नी, पति, पुत्र, पुत्री मकान का क्या होगा ?

नदी दो किनारों के बीच बहती है । उसके दोनों किनारे एक दूसरे के विरोधी नहीं है, एक किनारा हटा दो तो दूसरा भी नहीं रहेगा । यदि मृत्यु रोकदें तो जन्म भी नहीं हो सकेगा । देखो ! अन्धकार ही न हो तो प्रकाश का, दुःख ही न हो तो सुख का, अपमान ही न हो तो सम्मान का, वियोग ही न हो तो संयोग का, कड़वा, खट्टा, चटपट न हो तो मिठासका अनुभव नहीं हो सकेगा । सब एक ही वृत्त के दोनों आधे–आधे भाग हैं।

जन्म से मृत्यु आधा वृत्त है तथा मृत्युसे जन्म आधा वृत्त होकर जीवन एक चक्र पूरा होता है ।

प्रत्येक मनुष्य मृत्यु की कतार में खड़ा है । यदि कोई ऐसा यंत्र बना सके जो व्यक्ति के हाथ में घड़ी की तरह बन्धा रहे व उसकी मृत्यु की दूरी बताता रहे तो व्यक्ति के जीवन में एक सात्त्विकता, दया, प्रेम, निरहंकारता का जन्म हो जावे । जीवन के प्रति मोह रहेगा तो मृत्यु का भय भी रहेगा । द्वन्द्वों से परे रहना ही निर्द्वन्द्व स्थिति है ।

जहाँ तक आपको 'मैं हूँ' यह अहंकार रहेगा तब तक भयभीत ही रहेंगे । जब आपका 'मैं' अहंकार मिट जायगा तब मृत्यु भय भी समाप्त हो जायगा । निर्द्वन्द्व स्थिति प्राप्त होने पर महल व झोपड़ी, घर व जंगल में कोई फर्क नहीं पड़ता । द्वन्द्वों के पार हो जाना ही संन्यास है । परमात्मा को केन्द्र में रखकर जीवन की परिक्रमा कीजिये परन्तु अहंकार को कभी केन्द्र न बनाओ ।

दूसरों को मरता देखकर हम मानते हैं कि एक दिन हम भी मरेंगे । परन्तु धन, परिवार में आसक्ति का त्याग नहीं करता है । मरने वाला केवल शरीर बदलता है, स्वयं नहीं बदलता । एक शरीर में शयन कर दूसरे शरीर में जाग जाना ही जन्म है । आकृति बदल–बदल नया रूप प्रकट होता रहता है ।

यदि माता के गर्भ में वीर्य की सूक्ष्म बूंद के गिरते समय से उसका फोटो ले लेवें फिर बालक, किशोर, यूवा, प्रौढ़, वृद्ध तक के फोटो खींच कर एक नूतन व्यक्ति को खींचे हुए फोटो एलबम देखने देंवे तो वह नहीं कह सकेगा कि यह सब एक ही व्यक्ति के विभिन्न अवस्था के फोटो हैं ।

एक मुसाफिर ट्रेन में बैठा प्रारम्भ से मन्जिल तक के सभी स्टेशनों से गुजरता हुआ पहुँचता है पर स्वयं अपने उन आदि से अन्त तक व बीच के किसी स्टेशनों में अहंकार नहीं करता कि मैं बीना हूँ, मैं भोपाल हूँ, मैं इन्दौर हूँ । इसी तरह जन्म, रहना, बढना, घटना और नष्ट होना यह

शरीर के विकार हैं किन्तु मैं उपरोक्त अवस्थाओं से पृथक् हूँ । इस सत्य को वह सहज स्वीकार नहीं करता है ।

आप कपड़ा, शाल, स्वेटर आदि ओढ,पहन कर जैसे घूमते हैं उसी प्रकार क्या आप अपने शरीर को ओढकर घूमते हैं, ऐसा अनुभव किसी दिन हुआ ? मुझे भूख नहीं लगी परन्तु मेरे प्राणों को भूख लग रही है क्या ऐसा अनुभव किसी दिन हुआ ? शरीर बूढ़ा हो रहा है किन्तु मैं बूढ़ा नहीं हूँ, क्या ऐसा आपको भीतर से बोध जगा ? अनादि देहाध्यास के कारण हम देह को अपना स्वरूप मान बैठे हैं इसलिये मैं देह से पृथक् हूँ ऐसा बोध जाग्रत नहीं हो पा रहा है ।

जिस प्रकार हम समुद्र के किनारे बैठे उसकी लहरों को उछलते, दौड़ते, गिरते, चढते देख आनन्द लेते हैं । उसी तरह तत्त्वज्ञानी इस जीवन की प्रतिक्षण बदलने वाली मनोवृत्ति को, जीवन की घटनाओं को, देह की अवस्थाओं को जीवन के किनारे बैठ अपने द्रष्टा साक्षी भाव में स्थित रह कर जीवन्मुक्ति का आनन्द लेता रहता है ।

परम कल्याण के साधकों को चाहिये कि वे अपने द्रष्टा, साक्षी रूप में बैठे स्वयं को उन घटनाओं में बिना मिलाये परमात्मा की लीला समझकर प्रसन्न रहते देखते रहें ।

मैं कौन हूँ ? यह प्रश्न प्रत्येक मनुष्य में उठना चाहिये किन्तु यह विचार किसी पुण्यशाली के मन में उठते हैं । बाकी सारी दुनियाँ के सभी प्रकार के सांसारिक प्रश्न सबके मन से ही उठते रहते हैं ।

न मैं मृत्यु शंका न मैं जाति भेदा
पिता नैव मे नैव माता च जन्म
न बन्धुर्न मित्रं गुरु नैव शिष्यः
चिदानन्द रूपः शिवोऽहं शिवोऽहम् ।

आत्मज्ञान के द्वारा आप आज अभी ही मर जाइये, तो आपको मृत्यु आने के समय मरने का भय नहीं रहेगा । आप बनावटी मर जाइये, मरना तो निश्चित है ही। घरवालों को कहदें, सम्बन्धियों को पत्र लिख दें कि मैं

मर गया हूँ, बस अब न मृत्यु का डर रहेगा न अहंकार रहेगा, न कर्तापन मन में रहेगा । मृत्यु तो प्रारब्ध से निश्चित है, जब आना है, तभी आवेगी, उसकी तुम चिन्ता ना करो, केवल बनावटी मरकर तो देखो फिर जीवन मुक्त होकर रहोगे ।

आपको परम सिद्धि संसिद्धि प्राप्त करनी है तो आप जो–जो कर्म करो उस एक–एक कर्म को केवल परमात्मा के पूजा की सामग्री–पुष्प बना दो । एक–एक कर्म परमात्मा के चरणों में समर्पित करदो । जैसे तुम परमात्मा पर चढ़ाने अच्छा पुष्प, अच्छा फल, अच्छा मिष्ठान्न लाते हो, वैसे ही उत्तम से उत्तम कर्म परमात्मा के चरणों में अर्पण करने के लिये करो । बुरे कर्म का त्याग कर शुद्ध, निष्पाप और राग – द्वैष रहित कर्म करना ही परमात्मा की सच्ची पूजा, भक्ति हो जावेगी ।

घर में प्रतिदिन भोजन बनता है किन्तु अतिथि के आने से विशेष प्रकार का भोजन बनाकर सत्कार किया जाता है । इसी तरह परमात्मा तो सबसे बड़ा है उनके चरणों में भी उच्च कोटि के शुद्ध एवं पवित्र कर्म समर्पित करें । अतः संसार में रहकर नियत कर्म करें । वृक्ष के फल या पौधे के पुष्प तोड़ लाने, चढाने की जरूरत नहीं । अपने प्रत्येक निष्काम कर्म को ही परमात्मा की पूजा का पुष्प बतावे ।

योग भ्रष्ट देहत्याग कर कहाँ जाता है ?

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात् ।। गीता : २/४०

कृषि, व्यापार, विद्या, युद्धादि में प्रारम्भ से अन्त तक ठीक से कार्य न हुआ तो निषतक हो जाजा है ।

इस कर्मयोग में आरम्भ अर्थात् बीजका नाश नहीं है और उलटा फलरूप दोष भी नहीं है, बल्कि इस कर्मयोग रूप धर्म का थोड़ा-सा भी साधन जन्म-मृत्यु रूप महान् भय से रक्षा करलेता है ।

प्राप्य पुण्य कृतां लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः ।
शुचीनां श्रीमतां गेहे योग भ्रष्टोऽभि जायते ।। गीता : ६/४१

सत् पथ पर चलने वाले सत्यार्थी की कभी अधोगति नहीं हो सकती । साधन करते हुए लक्ष्य प्राप्ति के पूर्व शरीर छूट जाने पर वह पुण्य कर्ता स्वर्गादि लोकों को प्राप्त होते है । फिर उन लोकों के भोग से उपराम होकर वह योग भ्रष्ट इस मृत्यु लोक में आता है और शुद्ध आचरण वाले श्रीमान के घर में जन्म लेता है, ताकि साधन करने का अधिक समय मिल सके । इसके लिये उस योग भ्रष्ट साधक को धर्म परायण सात्त्विक परिवार में भेजा जाता है अथवा-

अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम् ।
एतद्धि दुलर्भतरं लोके जन्म यदीदृशम् ।। गीता : ६/४२

वह वैराग्यवान बुद्धि की मन्दता के कारण स्वरूप निश्चय दृढ होने से पूर्व देहत्याग होनेपर अथवा भोगों की वासना न होने के कारण स्वल्प जो परमात्मा तत्त्व को प्राप्त कर चुके हैं, जिनकी बुद्धि परमात्मा में स्थिर हो चुकी है, ऐसे तत्त्वज्ञ जीवन्मुक्त ज्ञानवान् के घर में जन्म ग्रहण करता है । क्योंकि ब्रह्मज्ञानी के कुल में ऐसे ही जीवात्मा को भेजा जाता है, जो ब्रह्म ज्ञान को प्राप्त कर ब्राह्मण हो सके । ज्ञान से रहित होकर उस परिवार में ब्राह्मण बन्धु होकर रहे ऐसे अधम जीव को उत्तम ब्रह्म ज्ञानी कुल में नहीं भेजा जाता है।

ब्रह्मज्ञानी के कुल में जन्म लेना बहुत दुर्लभ है । क्योंकि जिस घर में, कुल में सभी ब्रह्मज्ञानी होते हों, जहाँ का वायु मण्डल पारमार्थिक रहता है, जहाँ सब समय ब्रह्मचर्चा ही होती रहती है, ऐसे कुल, परिवार में जन्म लेने का सौभाग्य साधारण जीवों को प्राप्त होता है । उत्तम अधिकारी साधक वहाँ बचपन से ही अपनी पूर्व जन्म की छूटी हुई अधूरी साधना में शिघ्र प्रवृत्त हो अपने लक्ष्य को प्राप्त कर लेता है ।

ब्राह्मणादि जाति के लक्षण

शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च ।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम् ।। गीता : १८/४२

'शमः'– मनका निग्रह करना अर्थात् जहाँ लगाना चाहे वहाँ लग जाय और जहाँ से हटाना चाहे वहाँ से हट जाय इस प्रकार मन के निग्रह को शम कहते हैं ।

'दमः'– इन्द्रियों को अपने वश में रखना किन्तु इन्द्रियों के वशीभूत न होना । जैसे चाय, बीड़ी, सिगरेट, गांजा, भाग तम्बाखू, गुटका, प्याज, लहसुन, मांस, मदिरा के अभ्यासी उन–उन पदार्थों के बिना नहीं रह सकते । इस प्रकार प्रत्येक अभ्यास का त्याग 'दम' कहा जाता है ।

'तपः'– अपने कर्तव्य कर्म को पालन करने में जो कष्ट हो उसे सहन कर प्रसन्नता पूर्वक कार्य करना तप है । देह भाव का त्याग कर आत्म भाव में दृढ़ होना ही वास्तविक तप है ।

'क्षान्ति'– अपना अहित करने वाले को अपनी सामर्थ्य होते हुए भी उन अपराधी द्वारा क्षमा मांगे बिना भी क्षमा कर देना 'क्षान्ति' है ।

'आर्जवम्'– शरीर, वाणी, मन आदि के व्यवहार में सरलता और मन में छल, कपट, दुराव, छिपाव आदि दुर्भाव न हो अर्थात् सरलता हो उसका नाम आर्जव है ।

'ज्ञानम्'– वेद, शास्त्र, पुराण आदि का अच्छी तरह अध्ययन होना और उसको समझाने समझने की योग्यता होना, कर्तव्य अकर्तव्य का बोध होना 'ज्ञान' हैं ।

'विज्ञानम्' – यह विधि का तथा अनुष्ठान आदि का अनुभव कर लेने का नाम यहाँ विज्ञान है ।

'अस्तिक्यम्' – परमात्मा में, आत्म ज्ञान में, परलोक में श्रद्धा विश्वास हो तथा उनके अनुसार अपना आचरण हो इसका नाम आस्तिक्य है ।

'ब्रह्मकर्म स्वभावजम्' – यह सब उपरोक्त गुण उसके स्वाभाविक होते हैं, उसके लिए उसे कोई प्रयत्न नहीं करना पड़ता ।

यह सब लक्षण ब्राह्मण के कहे जाते हैं। क्षुद्र संस्कार वाले दुष्चरित्र लोग भी वर्तमान में अपने को चर्म से ही ब्राह्मण मानने लग गये हैं, जिनमें उपरोक्त कहे गये एक भी लक्षण ब्राह्मण वाले नहीं होते हैं ।

कर्मण्यधिकृता ये तु वैदिके लौकिकेऽपि वा
ब्रह्मणाभासमात्रेण जीवन्ते कुक्षिपूरका ।
व्रजन्ते निरयं ते तु पुनर्जन्मानि जन्मानि ।। – परब्रह्मोपनषिद:९

वैदिक अथवा लौकिक कर्मों में ही अपना अधिकार मानने वाले केवल ब्राह्मण के आभास मात्र है और पेट भरने के लिये ही जीते हैं । वे सारे जन्म–जन्मान्तर में पुनः पुनः घूमते रहते हैं, उनकी मुक्ति नहीं ।

शिखा ज्ञानमयी यस्य उपवीतं च तन्मयम् ।
ब्राह्मण्यं सकलं तस्य नेतरेषां तु किञ्चन ।। – परब्रह्मोपनषिद:१२

जिसकी शिखा ज्ञानमयी है । ज्ञानमय ही यज्ञोपवीत है । उसके पास ही सकल ब्राह्मण्य लक्षण है किन्तु इतरों के पास थोड़ा भी नहीं ।

शिखाज्ञानमयव यस्य उपवीतं च तन्मयम् ।
ब्राह्मणं सकलं तस्य इति ब्रह्मविदो विदुः ।।– ब्रह्मोपनषिद

जिसकी शिखा ज्ञान स्वरूप है और जिसका यज्ञोपवीत भी ज्ञान स्वरूप है ऐसे ज्ञानी को ही ब्रह्मवेत्ता पूर्ण ब्राह्मण कहते हैं ।

शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम् ।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम् ।। गीता : १८/४३

शूर वीरता, तेज, धैर्य प्रजा के संचालन आदि को विशेष चतुरता तथा युद्ध में कभी पीठ न दिखाना, दान करना और शासन करने का भाव यह सब क्षत्रिय के स्वाभाविक कर्म है ।

'शौर्यम्'– मन में अपने धर्म पालन करने की तत्परता। सिर कटने पर, घाव होने पर भी अस्त्र शस्त्र चलाते रहना शौर्य कहलाता है ।

'तेज'– जिसके पराक्रम को देख पापी, दुराचारी मनुष्य भी पाप करने से डरे, जिसके सामने लोगों को मर्यादा विरुद्ध चलने का साहस न हो ।

'धृतिः'– विपरीत से विपरीत अवस्था में भी अपने धर्म से अपने लक्ष्य से विचलित न हो, धर्म तथा नीति विरुद्ध कार्य न करे । युद्ध में शत्रु के हाथ से तलवार गिर जावे तो जब तक वह शस्त्र हाथ में न ले उस पर वार न करे ।

कृषि गौरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम् ।
परिचर्यात्मकं कर्म शुद्रस्यापि स्वभावजम् ।। गीता : १८/४४.

खेती करना, पशुओं की रक्षा करना और जीविका निर्वाह हेतु व्यापार करना यह सब वैश्य के लक्षण जानना चाहिये । चर्म से जाति नहीं मानना चाहिये ।

तथा सभी जाति की सेवा करना शूद्र का स्वाभाविक एवं उच्च कर्म मानना चाहिये ।

'ब्राह्मणस्य हि देहोऽयं क्षुद्र का माय नेष्यते' ११/१७/४२ भागवत

जिस ब्राह्मण के खान–पान बिगड़ा हुआ है जिनका कर्म दूषित है, आचरण से पतित है, उनका आदर नहीं करना चाहिये । उन्हें शूद्र ही जानना चाहिये ।

यदि कोई भगवद्भक्त सामाजिक दृष्टि से शूद्र माना जाता है तो भी वह पारमार्थिक दृष्टि से शूद्र नहीं प्रत्युत उसे परम श्रेष्ठ ब्राह्मण ही मानना चाहिये –

अपिचेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक् ।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः ।। गीता : ९/३०

यदि कोई पूर्व अतिशय दुराचारी भी वर्तमान में अपने सभी दुष्कर्मों को छोड़ कर आत्म भाव को प्राप्त कर चुका है । सोऽहम् भाव को प्राप्त हो चुका है तो उसे अब साधु ही जानना चाहिये । क्योंकि अब उसने जान लिया है कि एक परमात्मा ही सत्य है ।

आहार के भेद

आयुः सत्त्वबलारोग्य सुख प्रीति विवर्धनाः ।
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्त्विक प्रियाः ।।

गीता : १७/८

'आयुः' – जिन आहारों के करने से मनुष्य की आयु बढ़ती है **'सत्त्वम्'** – सत्त्वगुणबढ़ता हो, **'बलम्'** – शरीर, मन, बुद्धि में सात्त्विक बल एवं उत्साह पैदा हो, आलस्यता न हो, **'आरोग्य'**–स्वास्थ्यवर्धक हो, शरीर में रोग प्रतिरोधक क्षमता बढ़ाने वाला हो, 'सुखम्'–सुख–शान्ति प्रदायक हो और **'प्रीतिविवर्धना'**–जिसको देखने से ही मन में प्रीति हो, जैसे पके आम, अंगुर, सन्तरा, केला, अमरूद, पपीता आदि ।

'स्थिरा'– जो गरिष्ठ नहीं, प्रत्युत् सुपाच्य है और जिनका सार बहुत दिन तक शरीर में शक्ति देता है और **'हृद्याः'** हृदय, फेफड़े, किडनी आदि को शक्ति देने वाला तथा बुद्धि में सुशीलता भाव लाने वाला, **'रस्या'**– फल, दूध, रस, आदि रस युक्त पदार्थ, **'स्निग्धाः'**–घी, मक्खन, बादाम, काजू, किसमिस तथा सात्त्विक पदार्थों से निकले हुए तेल मिष्ठान्न भोजन के पदार्थ, जो अच्छे पके हुए ताजा है ।

'आहारा सात्त्विक प्रियाः'– ऐसे भोजन के भोज्य, पेय, लेह्य, और चोष्य पदार्थ सात्त्विक मनुष्य को अच्छे लगते हैं । यह सात्त्विक मनुष्य की पहचान है ।

कट्वम्ललवणात्युष्ण तीक्ष्णरूक्षविदाहिनः ।
आहारा राजसस्येष्टा दुःख शोकामयप्रदाः ।। गीता : १७/९

'कटु' – करेला, ग्वारपाठा, नीम, चिरायता आदि अधिक कड़वे पदार्थ; **'अम्ल'**– इमली, अमचूर, कच्चा आम, आंवला, नीबू, सिरका, छाछ सड़ाकर बनाया गया केक, डबलरोटी, इडली, ढोकला, खम्मण, डोसा **'लवणम्'**–अधिक नमक वाले पदार्थ ; **'अत्युष्णम्'** – जिसमें अधिक गरम भाप निकलती हो ऐसे अत्यन्त गरम चाय–काफी, सूपादि पदार्थ, **'तीक्ष्णम्'**– जिनको खाने से नाक, आँख, मुख में पानी आने लगे सिरसे पसीना टपकने लगे, ऐसे लाल मिर्च आदि अधिक तीखे पदार्थ ; **'रूक्षम्'**– जिनमें घी, दूध, तेल आदि का सम्बन्ध न हो ऐसे भुने चना, मक्का, जुवार, फुलमखाना, सत्तू आदि रूखे पदार्थ और **'विदाहिने'**–राई काली मिर्च, पीपली, कुलन्जन आदि अधिक दाहकारक (राईके पानी में भिगाकर तीन घंटे बाद पानी पीने से दाहकारक हो जाता है, जिसे लोग गुपचुप पानी बतासी में भर कर पीते हैं ।

इस प्रकार के आहार राजसिक व्यक्ति को विशेष प्रिय लगते हैं परन्तु ऐसे पदार्थ परिणाम में दुःख, शोक और रोगों को देने वाले होते हैं ।

यातयामं गतरसं पूति पर्युषितं च यत् ।
उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम् ।। गीता : १७/१०

'यातयाम्'– जिनको पूरा पकने के पूर्व अधपके या अधिक पके हुए अथवा जो सड़ गये हैं ऐसे पदार्थों को, फ्रिज में रखे खाद्य सामग्री रसायनिक द्रव्य से सुरक्षित रखे प्लास्टिक थैलियों में, हवारहित कर बन्द किये डब्बों में रखे पदार्थ, सब्जी, फल, मुरब्बा, आचार, सिरका आदि यातयाम् कहलाते हैं ।

'गतरसम्'– धूप आदि से जिनका स्वभाविक रस सूख गया है अथवा मशीन द्वारा सार खींच लिया जाता है जैसे दूध, सुखे मेवे, फल आदि ।

'पूति'– सड़न से पैदा की गई मैदा, ब्रेड, ढोकला, इड्ली, डोसा, शराब, प्याज, लहसुन आदि ।

'पर्युषितम्'– जल और नमक मिलाकर बनाये हुए साग, रोटी आदि पदार्थ रात बीतने पर बासी कहलाते हैं । परन्तु शुद्ध घी, दूध, चीनी से बने पदार्थ अथवा अग्नि पर पकाये हुए पेड़ा, जलेवी, लड्डु, गुलाब जामुन, बर्फी आदि पदार्थ जब तक उनमें विकृति नहीं आती तब तक वे खाने योग्य हैं, वे बासी नहीं माने जाते ।

'उच्छिष्टम्'– भोजनके बाद पात्र में बचा हुआ अथवा एक दूसरे के मुख में जीभ डालकर चाट कर लिया गया, झूठे हाथ से दिया गया, जिसे बनाने वाला सूंघले, चखले वह सब झूठे माने जाते हैं, अतः गाय, भिखारी, कुत्ता, चूहा, चिड़िया, कौवा आदि सबको प्रथम थोड़ा देकर ही ग्रहण करना चाहिये, यह सोचकर कि मेरे सामने भगवान् पधारे हैं ।

'अमेदयम्'– रज–वीर्य से पैदा हुए मांस, मछली, अंडा आदि महान् अपवित्र पदार्थ जो छूने योग्य भी नहीं ।

और शास्त्र जिसे निषेध करते हैं, वह मांस, मछली, अंडा, शराव प्याज, लहसुन, छुत्ती आदि ऐसे सभी तामसी भोजन तमोगुणी व्यक्ति को सबसे ज्यादा प्रिय लगते हैं ।

भोजन सात्त्विक होने पर भी क्रोधित होकर खाया जाय तो तामसिक हो जाता है । राग पूर्वक खाया जाय तो राजसिक हो जाता है ।

यदि भिक्षा में राजसिक या बासी भोजन मिले तो उसे भगवान् को अर्पण कर थोड़ी मात्रा में खाने से हानि कारक नहीं होगा ।

शुद्ध कमाई के पैसों से अनाज, फल आदि पदार्थ खरीदे जायँ । रसोई में सफाई कर, बिना चप्पल जूते पहने, स्नान कर, स्वच्छ कपड़े पहन हाथ धोकर प्रसन्नता पूर्वक भगवान् को भोग लगाने की भावना से बनाया गया भोजन सात्त्विक होता है ।

छल, कपट, झूठ के द्वारा रुपया कमाकर शरीर की पुष्टि, बल, बढ़ाने के उद्देश्य से, स्वाद के लिये जो भोजन खाया जाता है वह राजस कहलाता है ।

बनाने वाले, परोसने वाले एवं जिसकी दृष्टि भोजन पर पड़ती हो उसे बिना खिलाये स्वयं खा लेना वह तो तामस अन्न हो जाता है ।

सबको खिलाकर खाने वाले श्रेष्ठपुरुष तो पापों से मुक्त हो जाते हैं किन्तु जो अपने लिये कमाकर, पका कर खाते हैं वे पापी लोग पाप को ही प्राप्त होते हैं अर्थात् अधोगति में जाते हैं ।

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः ।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात् ।। गीता : ३/१३

अन्न का प्रभाव मन पर पड़ता है । **अन्नमयं हि मनः ।** ६/५/४ छा.उप

मन को शुद्ध बनाने के लिये, शान्त बनाने के लिये, प्रसन्न रखने के लिये भोजन सात्त्विक होना चाहिये ।

जहाँ वायुमण्डल शुद्ध हो, आसपास से दुर्गन्ध न आरही हो, खुला स्थान, बगीचा, जंगल वृक्ष के नीचे हाथ पैर धोकर आसन पर बैठ कर भोजन करना ज्यादा अच्छा होगा । खिलाने वाला क्रोध कर, सकामता से, रोग ग्रस्थ अवस्था से, रोकर खिलाने वाला न हो । प्रत्युत् प्रीति पूर्वक, प्रसन्नता पूर्वक खिला रहा हो, साथ में वह भी बैठकर खा रहा हो या पहले खा चुका हो उसे कहीं जल्दी से जाने की इच्छा न हो अन्यथा उस समय उसके मन में पूर्ण श्रद्धा प्रेम नहीं होगा ।

युक्ताहार विहारस्य युक्त चेष्टस्य कर्मसु ।
युक्त स्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा ।। गीता : ६/१७

दुःखों का नाश व परमात्मा की प्राप्ति का साधन ज्ञान योग तो यथायोग्य आहार–बिहार करनेवाले को, कर्मों में यथायोग्य चेष्टा करनेवाले का और यथा योग्य सोने तथा जागनेवाले को ही सिद्ध होता है ।

नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः ।
न चाति स्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन ।। गीता : ६/१६

हे अर्जुन ! यह योग न तो बहुत खाने वाले, गरीष्ठ खाने वाले का अशुद्धाहार करनेवालें को, न भूखे मरने वाले को, न बहुत शयन करने

वाले को, न बहुत जागने वाले को ही सिद्ध होता है । अतः समता में ठहरना ही योग है । ''**समत्वं योग उच्यते ।**''

'युक्ताहारविहारस्य' भोजन सत्य और न्याय पूर्वक कमाये हुए धनका हो, सात्त्विक हो, अपवित्र न हो । भोजन स्वाद बुद्धि से न किया जाय, बलिष्ट बनने की दृष्टि से न किया जाय, प्रत्युत् साधना बुद्धि से, क्षुधा निवृत्ति के लिये किया जाय । भोजन स्वास्थ्य, धर्म और आयुर्वेद की दृष्टि से किया जाय । (१७/८ गीता) उतना ही किया जाय जितना सुगमता से पच सके, भूख बचाकर खाकर उठे, अर्थात् खुराक से थोड़ा कम खाएँ । आधा पेट भोजन से भरे, चौथाई जलके लिये तथा चौथाई उसके पचने हिलने मंथन क्रिया व पवन के लिये खाली रखें, ठसाठस न भरे । देखा जाता है मिक्सर में भी ठूंस–ठूंस ऊपर तक भर देते हैं तो वह भी पीस नहीं पाती है । क्योंकि वहाँ उसे घूमने ऊपर नीचे करने के लिये रिक्त स्थान ही नहीं मिल पाता है । अथवा मुहँ में पूरापानी भरकर हम उसे हिला नहीं सकेंगे । कुल्ला करते समय आधा मुख खालि रखेगें तो ही उसे चला सकेंगें ।

भोजन करते–करते जब प्रथम डकार आ जावे जिसे तृप्ति डकार कहते हैं, तभी रोक दे ।

भोजन भूख लगने पर ही करें । दो भोजन के बीच छः घन्टे का समय अवश्य रखें । पशु की तरह हर समय कुछ न कुछ खाते न रहें ।

रात्रि बिस्तर पर जाने से दो घंटे पूर्व ही भोजन करें ।

प्रत्येक कोर को ३२ बार चबाये ताकि बिना पानी के गले से नीचे सरलता से बिना ठेले जा सके ।

पानी भोजन के प्रथम एक घंटे पूर्व पीवें या भोजन के बाद एक दो घंटे बाद पीवे ।

दाहिने स्वर के समय भोजन व बांये स्वर के चलते समय जल ग्रहण करना स्वास्थ्य के लिये उचित योग है ।

आसन, प्राणायाम, व्यायाम के आधे घंटे बाद ही खावे । तत्काल भोजन न करे ।

स्नान के बाद भोजन करने से स्वास्थ्य एवं प्रसन्नता को देता है ।

'युक्तचेष्टस्य'– अपने वर्ण, आश्रम के अनुकूल देश, काल, परिस्थिति के अनुसार शरीर निर्वाह के लिये कर्म किये जायँ और अपनी शक्ति के अनुसार परिवार समाज देश के हितार्थ सेवा की जाय ।

'युक्त स्वप्नावबोधस्य'– जाग्रत होते समय आलस्य थकावट न लगे इतनी निद्रा अवश्य लेना चाहिये । जल्दी सोकर जल्दी उठना सम्भव हो तो यह स्वास्थ्य के लिये अच्छा होगा । जीविका के कारण सबका निद्रा काल एक जैसा या जागरण एक समय नहीं हो सकता । अतः जिसके लिये जैसा उचित हो, वह वैसा सोवे एवं जागे ।

'योगो भवति दुःखहा'– इस प्रकार यथोचित आहार, विहार कर्म करने वालों को ही यह समस्त दुःखों से मुक्ति दिलाने वाला ज्ञान योग प्राप्त होता है ।

जितना समय बचे उतना समय अपने कल्याण के साधन वेदान्त श्रवण, मनन, निदिध्यासन करने के सत्संग में लगावे ।

जीविका करते समय ऐसा व्यापार, वस्तु का निर्माण न करे जिससे अन्य प्राणियों की हत्या अथवा स्वास्थ्य पर बुरा प्रभाव पड़ता हो । जैसे मछली उत्पादन, मुर्गी फार्म, अण्डा उत्पादन, शराब, सिगरेट, गुटका, तलवार, छूरी, बन्दुक गोली का निर्माण कर, व्यापार करना । नकली औषध बनाना, घी, तेल, दूध में अखाद्य सामग्री मिलाकर अधिक धनार्जन करना, घी में पशु चर्बी मिलाना इत्यादि निषिद्ध तरीके से जीविकार्जन न करें ।

तीन लोक की स्थिति

अर्जुन पूछते हैं हे भगवन् ! आप मुझे बार–बार युद्ध करने के लिये प्रेरित कर रहे है तो आपके उपदेश से मैं युद्ध करते हुए जीत गया तो क्या मुझे यहाँ नित्य सुख की प्राप्ति हो सकेगी ? युद्ध करते हुए मैं ममरगया तो मरने पर क्या स्वर्ग में वह नित्य सुख मिलेगा या युद्ध न करूँ केवल भगवान् का दास, सखा बन भक्ति करूँ तो ब्रह्मलोक पहुँचने पर नित्य सुख मिलेगा । भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन के प्रथम प्रश्न के उत्तर में कहते हैं कि हे अर्जुन ! तू सावधान मन से सुन ! प्रथम तू इस मृत्यु लोक की स्थिति को जान ले ।

''अनित्यमसुखं लोकमिमं' प्राप्य भजस्व माम् । गीता : ९/३३

हे अर्जुन ! जैसे हिमालय में बर्फ ही बर्फ, कोशालय में धन ही धन, शिवालय में शिव ही शिव, पुस्तकालय में पुस्तक ही पुस्तक, औषधालय में औषध ही औषध, मदिरालय में मदिरा ही मदिरा, रुग्णालय में रोगी ही रोगी, विद्यालय में विद्या ही विद्या, भोजनालय में भोजन ही भोजन, शौचालय में शौच ही शौच, मुत्रालय में केवल मुत्र ही मुत्र होता है, इसी प्रकार यह संसार एक मात्र दुःखालय ही है यहाँ सर्वत्र केवल दुःख ही मिलता है ।

अब तेरे द्वारा पुछे स्वर्ग सम्बन्धी प्रश्न का उत्तर सावधान मन से श्रवण कर ।

ते तं भुक्त्वा स्वर्ग लोकं विशालंक्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति ।
एवं त्रयी धर्ममनुप्रपन्नागतागतं कामकामा लभन्ते ।।

गीता : ९/२१

वे सकामी लोक अपने पुण्य कर्म के फल स्वरूप विशाल स्वर्ग सुख भोग कर पुण्य क्षीण होने पर फिर इसी मृत्यु लोक में लौट आते हैं । वे आवागमन से छूट नहीं पाते हैं । वहां भी छोटे–बड़े पुण्यवानों के बीच ईर्षा, क्रोध, लोभादि यहाँ से अधिक मात्रा में चलता है । जैसे यहाँ बड़े पैसे वाले छोटे लोगों को अपने काम के लिये नौकर बना लेते हैं । वहाँ भी बड़े पुण्य वाले कम पुण्यवालों को नोकर बना काम कराते हैं ।

अब तेरे तीसरे प्रश्न का उत्तर सावधान मन से सुन...

आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन । गीता : ८/१६

हे अर्जुन ! मैं सच कहता हूँ ब्रह्मादिक लोक तक पहुँचने से भी जीव अखण्ड शान्ति परमानन्द को प्राप्त नहीं कर सकता है, उसे सृष्टि काल में पुनः मृत्युलोक में अपने परम कल्याणार्थ ज्ञान प्राप्त करने आना ही होगा ।

तीनों लोको की अनित्यता जानकर अर्जुन पूछते हैं कि हे प्रभो ! तो फिर मैं अखण्ड शान्ति नित्य मुक्ति को कैसे प्राप्त कर सकूँगा वह उपाय बताने की कृपा करें ।

भगवान् कहते हैं, उस नित्य मोक्ष परमानन्द को पाने हेतु तू अपनी आत्मा की ही शरण को ग्रहण कर तभी तुझे आवागमन से छुटकारा मिल सकेगा । क्योंकि एक मात्र आत्मा ही अखण्डानन्द एकरस है ।

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन ।
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान् ।। गीता : २/४५

हे अर्जुन ! वेद उपर्युक्त प्रकार से तीनों गुणों के कार्यरूप समस्त भोगों एवं उनके साधनों का प्रतिपादन करनेवाले हैं, इसलिये तू उन भोगों एवं उनके साधनों में आसक्तिहीन, हर्ष–शोकादि द्वन्द्वों से रहित, नित्यवस्तु परमात्मा में स्थित, योगक्षेम को न पहचाननेवाला और स्वाधीन अन्तःकरण वाला होकर, आत्मवान् हो ।

मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते । गीता : ८/१६

जितनी भी भोग भूमियाँ है उन में ब्रह्मलोक श्रेष्ठ बतलाया है, वहाँ तक का सुख सीमित अथाति नाशवान् है । परन्तु भगवत्प्राप्ति का सुख अनन्त है। अनन्त ब्रह्मा और अनन्त ब्रह्माण्ड समाप्त हो जाये तो भी यह परमात्म प्राप्ति का सुख कभी नष्ट नहीं होता यह नित्य बना रहता है ।

ब्रह्मलोक में चाहे कोई सकामी भोग सुख के हेतु से जाय या कोई योगी जाय वहाँ सदा कोई नहीं रह पाता उसे वहाँ से लौटना ही पड़ता है । चाहे तो वह ब्रह्मा के साथ ब्रह्मज्ञान प्राप्त कर मुक्त हो सकता है, पर सदा वहाँ रह नहीं सकते । इसलिये ब्रह्मलोक तक बन्धन–ही–बन्धन है ।

परन्तु हे अर्जुन ! जैसे अपने घर में बैठे व्यक्ति को घर प्राप्त करने के लिये किसी साधन की जरूरत नहीं रहती । उसी प्रकार मैं स्वयं आत्मा हूँ । ऐसा बोध जाग्रत हो जाने पर परमात्मा की प्राप्ति करने की जरूरत नहीं रहती है, क्योंकि आत्मा स्वयं परमात्मा ही है । अतः जिसे इस प्रकार समग्र रूप से मेरी प्राप्ति हो जाती है, फिर उसे पुर्नजन्म नहीं होता । अर्थात् अखण्ड आत्म भाव को प्राप्त होने पर पुनः इस मृत्यु रूप संसार में आना नहीं पड़ता ।

बैंक से, विदेश से, होटल से, धर्मशाला से, ट्रेन, बस पैसा व वीसा समय समाप्त होने पर लौटा दिये जाते हैं किन्तु अपने घर से कोई निकाल नहीं सकता । कर्म भक्ति का वीसा लेकर सभी लोकों से जाकर निकलना पड़ता है किन्तु आत्म भाव को समग्र रूप से प्राप्त करने वाले को निकल कर कहीं जाना नहीं पड़ता है वह अपने घर में बैठा हुआ है ।

तात्पर्य है कि आत्म भगवान् को सोऽहम् रूप से प्राप्त किये बिना किसी भी ऊँचे से ऊँचे लोक एवं पद को भी प्राप्त क्यों न कर लिया जाय तो भी उसका परम कल्याण नहीं हो सकेगा ।

'ममैवाशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः' गीता : १५/७

यह जीव साक्षात् परमात्मा का अंश है और जहाँ जाने के बाद फिर लौटना नहीं पड़ता वह इसके अंशी परमात्मा का घर है । बेटे को बाप के घर में जाने पर कौन निकाल सकेगा ? कोई नहीं । अथ्वा बच्चे को मां की गोद मे बैठने से कोई रोक सकेगा ? कोइ नहीं ।

यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम्' गीता : १५/६

जहां जाकर जीव को नहीं लौटना पड़ता है उस परमात्म में ही जीव भाव को समर्पित कर देना चाहिये । जैसे नदी सागर में मिल एक ही हो जाती है ।

परमात्मा व्यक्ति नहीं शक्ति है

जैसे पुष्पों की सुगन्ध, फलों का स्वाद, बिजली करंट, मेगनेट की आकर्षण–विकर्षण शक्ति, पवन आदि शक्ति है एवं अनुभव रूप है । तथा कम्पास (दिग्सूचक) में उत्तर दिशा की ओर खिचाव का होना, यह तो अनुभव ही किया जा सकता, देखा नहीं जा सकता। इसी प्रकार परमात्मा का भी दर्शन नहीं, अनुभव ही किया जा सकता है । नाम, रूप पदार्थ ही माया प्रकृति का कार्य होने से देखे जा सकते हैं किन्तु नाम, रूप के अधिष्ठान परमात्मा आँखों से नहीं देखे जा सकते ।

श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो मन यद्वाचो ह वाचँ स उ प्रमाणस्य
प्राणश्चक्षुषश्चक्षुरतिमुच्य धीराः प्रत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति ।।

–केनोपनिषद : २

जो श्रोत्र का श्रोत्र, मन का मन और वाणी का वाणी है, वही प्राण का प्राण तथा चक्षु का चक्षु है । अर्थात् श्रोत्रादि इन्द्रियाँ में श्रवणादि का सामर्थ्य जिससे है, उसे मैं स्वरूप से जानकर धीर पुरुष इस लोक से जाकर अमर हो जाते हैं ।

यद्वाचाऽनभ्युदितं येन वागभ्युद्यते ।
तदैव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ।।–केनोपनिषद : ४

जो चैतन्य मात्र सत्ता स्वरूप ब्रह्म है वह वाणी से प्रकाशित नहीं होता किन्तु जिससे वाणी प्रकाशित होती है, उसी को तुम ब्रह्म जानो ।

जिस (देश–काल परिच्छिन्न वस्तु) की लोग उपासना करते हैं, वह ब्रह्म का वास्तविक स्वरूप नहीं ।

यन्मनसा न मनुते येनाऽऽहुर्मनो मातम् ।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ।।–केनोपनिषद : ५

जिसे कोई भी मन से मनन नहीं करता है किन्तु जिसकी शक्ति का अंश पाकर मन में मनन क्रिया होती है, उसी को तुम ब्रह्म जानो । जिस (देश–काल परिच्छिन्न वस्तु) की लोग उपासना करते हैं वह ब्रह्म का वास्तविक स्वरूप नहीं ।

यच्चक्षुव न पश्यति येन चक्षूँषि पश्यति ।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ।।–केनोपनिषद : ६

जिसे कोई भी नेत्र से नहीं देखता किन्तु जिसकी शक्ति का अंश पाकर नेत्र देखन में समर्थ होती है एवं जो नेत्रों को भी देखता है उसी को तुम ब्रह्म जानो । जिस (देश–काल परिच्छिन्न वस्तु) की लोग उपासना करते हैं वह ब्रह्म का वास्तविक स्वरूप नहीं ।

यच्छ्रोत्रेण न शृणोति येन श्रोत्रमिदं श्रुतम् ।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ।।–केनोपनिषद : ७

जिसे कोई भी श्रोत्र से नहीं सुनता है, किन्तु जिसकी शक्ति का अंश पाकर श्रोत्र सुनने में समर्थ होता है एवं जिससे श्रोत्रेन्द्रिय सुनी जाती है उसी को तुम ब्रह्म जानो । जिस (देश–काल परिच्छिन्न वस्तु) की लोग उपासना करते हैं, वह ब्रह्म का वास्तविक स्वरूप नहीं ।

यत्प्राणेन न प्राणिति येन प्राणः प्रणीयते ।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ।।–केनोपनिषद : ८

जिसे कोई भी प्राण से नहीं प्रणन करता, किन्तु जिसकी शक्ति का अंश पाकर यह प्राण प्रणन करने में समर्थ होता है उसी को तुम ब्रह्म जानो । जिस (देश–काल परिच्छिन्न वस्तु) की लोग उपासना करते हैं वह ब्रह्म का वास्तविक स्वरूप नहीं ।

अर्जुन भगवान् से प्रार्थना करते कि हैं कि

मन्यसे यदि तच्छक्यं मया द्रष्टुमिति प्रभो !
योगेश्वर ततो मे त्वं दर्शयात्मानमव्ययम् ।। गीता : ११/४

हे प्रभो ! यदि आप मुझे योग्य समझते हैं तो वही अपना अविनाशी शक्ति स्वरूप दिखा दीजिये जिसके अंश मात्र से यह दृश्य जगत उत्पन्न होता है पालन होता है तथा जिसमें पुनः लीन हो जाता है ।

क्योंकि वेद में कहा गया है कि जीव जब तक भगवान के निर्गुण निराकार स्वरूप का साक्षात्कार नहीं करेगा, तबतक उसका परम कल्याण सगुण साकार रूप के दर्शन, पूजा से कभी नहीं हो सकेगा ।

भगवान् कहते हैं हे अर्जुन !

न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा ।
दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम् ।। गीता : ११/८

तू अपने चर्म चक्षु से मेरे उस अविनाशी, अजन्मा, नित्य स्वरूप का दर्शन नहीं कर सकता । इसके लिये मैं तुझे दिव्य अलौकिक ज्ञान चक्षु प्रदान करता हूँ जिससे तू मेरे अविनाशी स्वरूप को सर्वत्र सर्व रूपों में देख सकेगा ।

ध्यान दे ! जो लोग अपने को गीता व कृष्ण भक्त मानते हैं और भगवान् के दर्शनार्थ मन्दिर तीर्थ जाते हैं, वे न तो कृष्ण भक्त है न गीता को मानने वाले हैं । जब भगवान् अपने मुख से गीता में कह रहे हैं कि मेरा अविनाशी रूप वह इन प्राकृत नेत्रों द्वारा नहीं देखा जा सकता । फिर विचारें कि मन्दिरों, तीर्थों में आप किस भगवान् के दर्शन कर खुश हो जाते हैं ? क्या वे लोग कृष्ण व गीता के अनुयायी माने जा सकेंगे जो परमात्मा के कल्पित नाशवान् रूप को प्रतिदिन देखते रहते हैं ?

जरा विचारें ! अर्जुन के सम्मुख जीवित कृष्ण उपस्थित होते हुए भी अर्जुन उनसे अविनाशी रूप के दर्शन करना क्यों चाहता है ? इससे

यह स्पष्ट हो जाता है कि जब अर्जुन के सम्मुख खड़े जीवित श्रीकृष्ण भी नित्य नहीं है तो फिर चित्र, मूर्ति परमात्मा का असली रूप हो सकेगा ?

फिर और विचारें कि ये वर्तमान में घर–घर, मन्दिर–मन्दिर व तीर्थों में जो मूर्तियाँ देख रहे हैं क्या यही रूप अर्जुन, हनुमान, लक्ष्मण, दशरथ के सम्मुख था ? यदि यही व ऐसा ही कृष्ण, रामादि भगवान् का रूप था, तो इनकी 'निगेटिव' फिल्म किसके पास है ? जिसके द्वारा यह सब फोटो मूर्तियाँ बना घर, मन्दिर, तीर्थ में सजी, रखी, देखी जाती है । यदि निगेटिव नहीं है तो यह सब मूर्तियाँ एवं चित्र केवल चित्रकार व मूर्तिकार के मन कल्पित आकृतियाँ ही हैं । तब आप सब भक्त, भगवान् राम, कृष्ण, गणेश, दुर्गा, विष्णु, शंकर की पूजा उपासना नहीं कर रहे हैं बल्कि भगवान् के नाम पर चित्रकार मूर्तिकारों के मन कल्पित मूर्तियों की ही उपासना, पूजा कर रहे हैं ।

अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः ।
परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम् ।। गीता : ७/२४

हे अर्जुन ! बुद्धि हीन मनुष्य मेरे परम अविनाशी और सर्वश्रेष्ठ भाव को न जानते हुए अव्यक्त, अप्रमेय अर्थात् इन्द्रियों से परे इन्द्रियों द्वारा देखने में नहीं आताहै, उस सच्चिदानन्द परमात्मा को मनुष्य की तरह शरीर धारण करने वाला मानते हैं ।

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमाया समावृतः ।
मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम् ।। गीता : ७/२५

मैं अजन्मा और अविनाशी हूँ अर्थात् जन्म–मरण से मैं रहित हूँ । ऐसा होने पर भी यह मूढ़ मनुष्य समुदाय मुझे जन्मने वाला मानकर जन्माष्टमी, राम नवमी, शिवरात्रि, जन्मोत्सव मनाते हैं और फिर मरने वाला भी मानते हैं । किन्तु मैं अपनी योग माया से अच्छी तरह ढका हुआ सबके सम्मुख प्रकट नहीं होता हूँ । क्योंकि वे मूढ़ मेरे को अजन्मा – अविनाशी रूप में देखना पसन्द नहीं करते, प्रत्युत् वे मुझे साधारण

मनुष्य मानकर मेरी अवहेलना करते हैं । उन मूढ़ समुदाय के सम्मुख में अपनी योग माया से छिपा हुआ रहता हूँ ।

जैसे बुर्खा पहने महिला सर्वांग से ढकी अपने रूप को छिपा रखती है किन्तु वह सबको देखती रहती है, परन्तु उसे कोई भी देख नहीं सकता । इसी तरह परमात्मा अपनी योगमाया के पर्दे में छिपे चराचर के प्राणियों, मनुष्यों को देखते रहते है पर उन्हें कोई नहीं देख पाता है ।

नेत्रों से नहीं दिखते राम ।
सब नेत्रों से देखत राम ।।

ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते ।
ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य विष्ठितम् ।। गीता : १३/१७

'ज्योतिषामपि तज्ज्योति' – यहाँ ज्योति नाम ज्ञान प्रकाश का है न कि दीपक, चन्द्र, सूर्य की तरह जड़ ज्योति । अर्थात् जिनसे प्रकाश मिलता है, ज्ञान होता है वे सभी ज्योतियाँ है । सूर्य, चन्द्र, अग्नि, दीपक आदि जड़ ज्योति के प्रकाश में भौतिक पदार्थ दीखते हैं । जिसके प्रकाश में यह सूर्य, चन्द्र आदि दृश्य जगत् दिखाई पड़ता है वह चेतन ज्याति है ।

शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध के प्रकाशक ज्योति श्रोत्र, त्वचा, चक्षु, जिह्वा, नासिका है । इन सब इन्द्रियों का प्रकाशक मन है । मन के बिना कोई इन्द्रिय किसी विषय का ज्ञान नहीं कर सकती । मन की ज्योति बुद्धि है । मन के साथ बुद्धि न हो तो विषयों का उचित अनुचित का बोध नहीं होता । बुद्धि जो सत–असत्, नित्य–अनित्य का ज्ञान करती है । किन्तु उनके साथ कर्ता जीवात्मा स्वयं न हो तो वह ज्ञान बौद्धिक ही रह जाता है, जीवन में, आचरण में नहीं आता । अब जीवात्मा मेरा अंश मेरे बिना कुछ नहीं कर सकेगा । अस्तु मैं समस्त जड़ ज्योतियों का ज्योति स्वयंप्रकाश हूँ ।

स्वयं जीव परमात्मा का अंश है और परमात्मा अंशी है । अंश जीव में ज्ञान प्रकाश अंशी परमात्मा से ही आता है । अतः स्वयं जीव की

ज्योति परमात्मा ही है । परमात्मा से प्रकाश स्वयं जीव में आता है । जीव का प्रकाश बुद्धि में, बुद्धि का प्रकाश मन में, मनका प्रकाश इन्द्रियों में और इन्द्रियों का प्रकाश विषयों में आता है । सबका प्रकाशक एक परमात्मा ही है । वह मैं ही सर्व प्रकाशक आत्मा हूँ ।

विषय करन सुर जीव समेता । सकल एकते एक सचेता ।
सब कर परम प्रकाशक जोई । राम अनादि अवधपति सोई ।।

तात राम नहीं नर भूपाला, भुवनेश्वर कालहु करि काला । जैसे सिनेमा मशीन चलाने वाला आपरेटर सबको देखता है, क्योंकि वो सबके पीछे होता है । शेष सब उसके आगे होते हैं। आगे वाला अपने पीछे वाले को नहीं देख पाता । परमात्मा के आगे स्वयं जीव, बुद्धि, मन, इन्द्रिय तथा विषय है, वह सबको देखता है किन्तु उस परमात्मा को उसके पीछे से देखने वाला कोई नहीं है ।

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्र तारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः ।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ।।

–मुण्डको.उप.२/२/१०

वहाँ (उस आत्म स्वरूप ब्रह्म में) सबको प्रकाशित करने वाला यह, सूर्य प्रकाशित नहीं होता है । चन्द्रमा और तारे भी वहाँ प्रकाशित नहीं होते हैं । वहाँ यह बिजली भी नहीं चमकती फिर भला यह अग्नि उसे कैसे प्रकाशित कर सकेगी ? उसके प्रकाशित होने पर ही यह सभी प्रकाशित होते हैं । विशेष क्या कहना ? ये सब के सब उसी प्रकाश से भासित हो रहे हैं । परमात्मा को प्रकाशित करने वाला परमात्मा के पीछे कुछ नहीं है ।

परमात्मा ज्ञान स्वरूप है । उसी से सब में ज्ञान प्रकाशित होता है । वह परमात्मा सबके हृदय में निरन्तर साक्षी होकर विद्यमान है । परमात्मा अखण्ड होने से सब जगह, सब काल, सब रूप में विद्यमान है किन्तु प्राप्ति हृदय देश में ही होती है ।

'अहमात्मा गुडाकेश' गीता : १०/२०

ईश्वरः सर्वभूतानि हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति । गीता : १८/६१

'हृदि सर्वस्य विष्ठितम् ।' गीता : १३/१७

सर्वस्य चाहं हृदिसन्निविष्टों । गीता : १५/१५

अप्रमेय आत्मा

याज्ञवल्क्यजी अपनी पत्नी मैत्रेयी से कहते हैं कि **'विज्ञाता रमरे केन विजानीयात्'** अर्थात् जो सबको जानने वाला है, उसको किसके द्वारा जाने ? **'येनेदं सर्वं विजानाति तं केन विजानीयात'**(बृहद. उप ४/५/१५) जिसके द्वारा यह सब जाना जाता है उसको किससे जाने ?

न दृष्टे र्द्रष्टारं पश्येर्न श्रुतेः श्रोतारं श्रुणुयान्न मतेर्मन्तार मन्वीथा न विज्ञातेर्विज्ञातारं विजानीयाः एष त आत्मा सर्वान्तरोऽतोऽन्यदार्तम् ।

३/४/२

तुम अन्तःकरण की वृत्ति रूप दृष्टि के द्रष्टा को घट, पटादि के समान नहीं देख सकते । वैसे ही श्रुति के श्रोता को नहीं सुन सकते हो । मति के मन्ता का मनन नहीं कर सकते हो । बुद्धि वृत्तिरूप विज्ञाति के विज्ञाता को नहीं जान सकते । तुम्हारा यह आत्मा ही सर्वान्तर है । इससे भिन्न सब दृश्य नश्वर है ।

अदृष्टो द्रष्टाऽश्रुतः श्रोताऽमतो मन्ताऽविज्ञातो विज्ञाता नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा नान्योऽतोऽस्ति श्रोता नान्योऽतोस्ति मन्ता नान्योऽतोऽस्ति विज्ञातैष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतोऽतोऽन्य दार्तम् ।

बृहद. उप. ३/७/२३

यह आत्मा सर्व द्रष्टा होने से सबको देखता तो है किन्तु किसी को दिखाई नहीं देता । कानों में बैठे सबको सुनता है किन्तु कोई उसे कान से सुन नहीं सकता । वह मन में बैठ मनको मनन करने की सामर्थ्य तो देता

है किन्तु मन के द्वारा उसे कोई मनन नहीं कर सकता । जो बुद्धि द्वारा जानने में नहीं आता किन्तु जो बुद्धि को विशेष रूप से जानता है । यह तेरा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है, इससे भिन्न सब नश्वर है ।

तद्वा एतदक्षरं गार्ग्यदृष्टं द्रष्टृश्रुतं श्रोत्रमतं मन्त्र विज्ञातं विज्ञातृ नान्यदतोऽति श्रोतृ नान्यदतोऽस्ति मन्तृ नान्यदतोऽस्ति विज्ञात्रेतस्मिन्नु खल्वरे गार्ग्याकाश ओतश्च प्रोतश्चेति ।। बृहद.उप. ३/८/११

हे गार्गी ! यह अक्षर किसी की दृष्टि का विषय नहीं होता किन्तु स्वयं दृष्टि स्वरूप होने के कारण द्रष्टा है । श्रोत्र का विषय नहीं किन्तु श्रोता है । मनन का विषय नहीं किन्तु मति रूप होने से मन्ता है। बुद्धि के द्वारा अविज्ञात है किन्तु स्वयं विज्ञाता स्वरूप होने से दूसरों का विज्ञाता है । इससे भिन्न कोई द्रष्टा नहीं, और इससे भिन्न कोई श्रोता नहीं, इससे भिन्न कोई मनन कर्ता नहीं इससे भिन्न कोई विज्ञाता नहीं है । अतः हे गार्गी निःसन्देह इस अक्षर अप्रमेय आत्मा से ही आकाश ओत प्रोत है । समस्त जगत् इन्द्रियों द्वारा ग्राह्य होने से प्रमेय है किन्तु आत्मा किसी इन्द्रिय प्राण मनादि द्वारा नहीं जाना जाता है इसलिये आत्मा को अप्रमेय कहा जाता है ।

चाहे कोई चक्रभेदन करले, कुण्डलनी जाग्रत करले, दसम द्वार पर पहुँचजावे, ज्योति दर्शन करले, नाद सुनाई पड़ जावे, संकल्प सिद्धि प्राप्त हो जावे, दूसरे के मन की बात जानले, एक समय अनेक स्थानों पर प्रकट हो जावे, चाहे भगवत् दर्शन भी हो जावे परन्तु एक बात सत्य है कि बिना ब्रह्मज्ञान के मुक्ति पाना असम्भव है । यहाँ एक ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं है और वह ब्रह्म मैं हूँ । इस प्रकार का बोध बिना सद्गुरु के किसी को नहीं हो सकता । चाहे कोई ब्रह्मा, विष्णु, शंकर के समान सामर्थ्यवान् भी क्यों न हो जावे किन्तु बिना सद्गुरु के यह जीव भगवान् रूप होकर भी मुक्ति प्राप्त नहीं कर सकता ।

गुरु बिन भवनिधि तरई न कोउ,
जो विरंची शंकर सम होउ । (रामायण)

परमात्मा की सर्वव्यापकता

मैं सृष्टि में नाना नाम, रूप से भास रहा हूँ । कार्य उत्पत्ति व नाश रूप होता है, कारण ही सत्य होता है ।

मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति धनञ्जय ।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ।। गीता : ७/७

हे अर्जुन ! मुझसे भिन्न दूसरा कोई नहीं है । मैं ही सब दृश्यों का परम कारण हूँ मेरे से पृथक् कोई इस सृष्टि का कारण नहीं है । जैसे अलंकार बनते बिगड़ते हैं किन्तु स्वर्ण ज्यों का त्यों रहता है । इसी तरह मैं आत्मा तो नित्य एकरस हूँ । यह सम्पूर्ण जगत् मुझसे उसी प्रकार अभिन्न है जैसे कपड़ों से कपड़ों की गठरी अभिन्न है । चीनी से चीनी के बने हाथी, घोड़ा, गाय, मनुष्यादि अभिन्न है अथवा सूत से बनी माला में सूत के बने मणके सूत से अभिन्न है । इसी प्रकार यह संसार मुझ से गुंथा हुआ है । अर्थात् मैं ही संसार में ओत-प्रोत कपड़े के ताना बाना की तरह अनुस्यूत (व्याप्त) हूँ ।

जैसे सूत से बनी माला में बनाये गये मणके पृथक्-पृथक् दिखाई तो पड़ते हैं पर उनमें एक ही सूत विद्यमान् है । इसी प्रकार प्राणी, पदार्थ पृथक्-पृथक् दीखते तो हैं पर उनमें मैं ही एक जीव रूप से स्थित हूँ ।

क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत ।
क्षेत्र क्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम ।। गीता : १३/२

सम्पूर्ण शरीरों में मैं ही जीवात्मा क्षेत्रज्ञ नाम से विद्यमान हूँ । शरीर व संसार 'यह रूप से, **इदम् रूप** से' प्रकृति के हैं और अहम् जीव व ब्रह्म एक ही है ।

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशय स्थितः ।
अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च ।। गीता : १०/२०

सम्पूर्ण प्राणियों के आदि, मध्य और अन्त भी मैं ही हूँ और सम्पूर्ण प्राणियों के हृदय में स्थित चेतन ज्ञाता आत्मा भी मैं ही हूँ ।

'पाण्डवानां धनञ्जयऽस्मि'' गीता : १०/३७

अरे ! जिसे अर्जुन नाम से गीता में सम्बोधित किया जा रहा है, और जिसे मैं समझा रहा हूँ वह समझाने वाला और समझने वाला भी मैं ही हूँ ।

अब जिसे जड़ अपरा प्रकृति कहते हैं, वह पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश और मन, बुद्धि, चित्त अहंकार यह आठ प्रकार की प्रकृति भी मैं हूँ । जिससे सब प्रणियों के पार्थिव शरीर निर्मित हुए हैं ।

तपाम्यहमं वर्षं निगृह्णाम्युत्मृजाभि च ।
अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन ।। गीता : ९/१९

मैं पृथ्वी में धारण करने वाला आधार रूप एवं पवित्र गन्ध हूँ, मैं जल में रस रूप हूँ, मैं ही सूर्य में तपन एवं प्रकाश रूप हूँ और वर्षा करने वाला भी में हूँ । हे अर्जुन ! मैं ही अमृत और मृत्यु हूँ और सत–असत् भी मैं ही हूँ ।

यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम् ।
यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौतत्तेजोविद्धि मामकम् ।। गीता : १५/१२

जो तेज चन्द्रमा में है और अग्नि में है उसको मेरा ही प्रकाश जान । सूर्य में स्थित तेज जो सम्पूर्ण जगत् को प्रकाशित करता है, वह मैं हूँ । मैं पवित्र करने वालों में वायु और शस्त्र धारियों में श्रीराम, दैत्यों में प्रह्लाद मैं हूँ ।

सम्पूर्ण भूतों का सनातन बीज मैं ही हूँ, सबका आदि, मध्य व अन्त भी मुझको जान ।

मैं बुद्धिमानों की बुद्धि और तेजस्वियों का तेज हूँ और सम्पूर्ण भूतों में उनका जीवन हूँ और प्राणियों में काम शक्ति भी मैं हूँ, बलवानों में बल मैं हूँ ।

इन्द्रियों में मन मैं हूँ, छल करने वालों में जुआ और जीतने वाला भी मैं हूँ । सबका नाश कर्ता मृत्यु अर्थात् काल का भी महाकाल मैं हूँ । सब का धारण पोषण करने वाला भी मैं हूँ । ज्ञानवानों का तत्त्व ज्ञान मैं हूँ ।

चर–अचर कोई भी भूत पृथ्वी पर ऐसा नहीं है जो मेरी सत्ता के बिना हो अर्थात् मैं ही सर्व रूपों में व्यापक हूँ ।

मैं सबका उत्पत्ति कर्ता एवं नाश करता हूँ और सम्पूर्ण भूतों में उनका जीवन हूँ ।

सन्तानों की उत्पत्ति का हेतु कामदेव भी मैं हूँ । जलचरों का अधिपति वरुण देवता मैं हूँ ।

शब्दों में एक अक्षर ओङ्कार मैं हूँ । अक्षरों में अकार मैं हूँ, जो सभी स्वर–व्यन्जनों का आधार है, पहाड़ों में हिमालय, नदियों में गंगा, हाथियों में ऐरावत, वृक्षों में पीपल, घोड़ों में उच्चैःश्रवा नामक घोड़ा मैं हूँ । स्त्रियों में कीर्ति मैं हूँ । नागों में शेष नाग मैं हूँ । मछलियों में मगर, पशुओं में मृग राज सिंह, पक्षियों में गरुड़ मैं हूँ ।

सकल विद्याओं में मैं अध्यात्म विद्या अर्थात् श्रेष्ठ आत्मज्ञान मैं हूँ जिसके द्वारा जीव अपने स्वरूप को सहज प्राप्त हो जाता है । इसको समझने करने पाने में कोई कठिनाई नहीं है । क्योंकि यह हमारा ही स्वरूप है, इसलिये इसके लिये करना कुछ शेष रहता ही नहीं ।

तात्पर्य है कि साधक को जहाँ–जहाँ आकर्षण, प्रेम, सुख, दीखता है, वहाँ–वहाँ परमात्मा को ही जानना चाहिये । मनुष्य की यही भूल हो

जाती है कि वह उसमें परमात्मा को न देख अपनी विशेषता मानलेता है । जैसे भगवान् की शक्ति पाकर इन्द्र ने असुरों पर विजय प्राप्त की किन्तु परमात्मा को भूलकर वह अपनी शक्ति का घमण्ड करने लगा था ।

अस्तु कार्य में कारण को देखने के द्वारा कार्य का लोप हो जाता है एवं बुद्धि में कारण की सत्यता ही एक मात्र दिखाई देती है । समस्त चराचर सृष्टि का कारण स्वयं ब्रह्म मैं हूँ यह जगत् मेरा कार्य है । जैसे स्वर्ण कारण ही सत्य होता है, अलंकार कार्य तो नाम मात्र उपयोगिता की दृष्टि से कहे जाते हैं ।

''मूढ़ लोग परमात्मा को नहीं देख सकते''

उत्क्रामन्तं स्थितं वपि भुञ्जानं वा गुणान्वितम् ।
विमूढ़ा नानुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञान चक्षुषः ।। गीता : १५/१०

'**उत्क्रामन्त**'– वास्तव में शुद्ध चेतन–तत्त्व का आवागमन नहीं होता । प्राणों का ही आवागमन होता है । परन्तु सूक्ष्म और कारण शरीर से सम्बन्ध रहने के कारण जीव का आवागमन कहा जाता है । जीवात्मा संसार के सम्बन्ध से महान् दुःख पाता है और जीव परमात्मा के सम्बन्ध से महान् आनन्द को प्राप्त होता है। क्योंकि जीव सच्चिदानन्द परमात्मा **'रसो वै सः'** का अंश है । अंश में अपने अंशी परमात्मा का गुण रहना स्वाभाविक है।

संसार एक क्षण भी स्थिर नहीं रहता, यह क्षणभंगुर नित्य परिवर्तन शील है। यह बात शास्त्र में पढ़ते, संत महात्माओं से सुनते एवं घर में समाज में देखते हुए कि यह मरा वह मरा फिर भी मूढ़ मनुष्य संसार के पदार्थों एवं व्यक्तियों के प्रति आसक्ति त्याग नहीं करते हैं। इसलिये ऐसे विवेक हीन मनुष्यों के ज्ञान नेत्र बंद ही रहते हैं । वे घर, समाज में मौत होते प्रायः रोज देखते भी है, पर देखने वाले लोगों को विवेक, वैराग्य नहीं होता कि एक दिन मेरा भी शरीर छूटेगा, मुझे भी सब छोड़ यहाँ से निकलना होगा ।

इस स्थूल शरीर को छोड़ जीवात्मा सूक्ष्म व कारण सहित दूसरे शरीर में चला जाता है । स्वभाव से जीवात्मा स्थूल, सूक्ष्म तथा कारण

शरीर एवं उसके भोग से अलिप्त, असंग होते हुए भी गुणों से सम्बन्ध मानने के कारण ही जीवात्मा में उत्क्रमण, स्थिति और भोग यह तीनों क्रियाएँ प्रतीत होती है ।

वास्तव में जीवात्मा का गुणों से सम्बन्ध है ही नहीं, पर वह भूल से इन शरीरों से अपना सम्बन्ध मानने के कारण उसे ऊँच–नीच योनियों में जाना पड़ता है ।

यदि जीव देह संघात् से सम्बन्ध न माने तो निर्गुण ही है । शरीर को छोड़कर दूसरे शरीर में स्थित रहना और विषयों को भोगना तीनों क्रियाओं में जीवात्मा एक ही है । यह बात प्रत्यक्ष होते हुए भी अविवेकी मनुष्य इस जीव आत्मा को नित्य नहीं जानते हैं ।

शरीर व पदार्थो का संयोग वियोग है । अनेक अवस्थाओं, परिवर्तनों, और शरीरों में यह जीवात्मा एक ही रहता है । यदि स्वयं एक न रहता तो बचपन से बुढ़ापे तक व जाग्रत से सुषुप्ति अवस्था के परिवर्तनों का अनुभव कैसे करता ?

परन्तु जीव की अखण्डता, व्यापकता तथा नित्यता प्रत्यक्ष होते हुए भी विमूढ़ मनुष्य इस तरह नहीं जानता, प्रत्युत् ज्ञान नेत्र वाले ज्ञानी मनुष्य ही जानते हैं ।

पश्य का अर्थ नेत्र से देखना व बुद्धि द्वारा जानना । परमात्मा निराकार होने से बुद्धि द्वारा बुद्धि के साक्षी रूप जाने जाते हैं । किन्तु नेत्र द्वारा दिखाई नहीं देती है ।

यतन्तो योगिनश्चैनं पश्यन्त्यात्मन्यवस्थितम् ।
यतन्तोऽप्यकृतात्मानो नैनं पश्यन्त्य चेतसः ।। १५/११

विवेक, वैराग्य युक्त मुमुक्षु वेदान्त तत्त्व का श्रवण, मनन, निदिध्यासन साधन को अपना कर परमात्मा का अपरोक्ष अनुभव कर सदा सहज स्थिति में रहता है । परमात्मा से जीव की, देश, काल तथा स्वरूपगत दूरी नहीं है । वह सर्वत्र, सर्वदा विद्यमान है । ऐसा ज्ञान योगी अपने

अन्दर अनुभव करते रहते हैं । परमात्मा स्वतः सिद्ध वस्तु है । सब देश, काल एवं वस्तु रूप है ।**'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'** ।

ज्ञानी जानते हैं कि परमात्मा अखण्ड होने से, सर्व व्यापी होने से यहाँ भी है, नित्य होने से अभी भी है, अणु-अणु में होने से मुझ से अलग भी नहीं है ।

परमात्मा सर्व व्यापी होने से यहाँ भी है तब उनको प्राप्त करने के लिये दूसरी जगह जाने की, खोजने की जरूरत नहीं है । अभी होने से कभी भविष्य में मिल जाने की प्रतिक्षा करने की तथा किसी प्रकार के जप, माला, उच्च कीर्तन, पुकारने, साधन करने की जरूरत नहीं है तथा स्वयं रूप होने से किसी अन्य रूप में मानने की या उपासना करने की जरूरत नहीं है । खोजना, पुकारना, जप, कीर्तन उसके लिये जरूरी होता है जो हमसे भिन्न एवं दूरी पर स्थित हो किन्तु परमात्मा तो मैं स्वयं आत्मा ही हूँ । अतः जप, माला, उच्च घोष की कोई आवश्यकता नहीं होती है ।

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति ।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ।। ६/३०

जो पुरुष सम्पूर्ण भूतों में सबके आत्मा रूप मुझ वासुदेव की मैं रूप से व्यापक देखता है और सम्पूर्ण भूतों को मुझ वासुदेव आत्मा के अन्तर्गत देखता है, उसके लिये मैं अदृश्य नहीं होता और वह मेरे लिये अदृश्य नहीं होता ।

जो अपने को परमात्मा का और परमात्मा को अपना जानते हैं, वे ज्ञान नेत्र वाले योगी हैं ।

परन्तु जो शरीर को अपना और अपने को शरीर मानते हैं, वे विमूढ़ और अकृतात्मा है । वे शास्त्र पढ़ते हुए, सत्संग करते हुए, वेदान्त श्रवण करते हुए भी अपनी तरफ नहीं देख पाते हैं और सदा बहिर्मुख नाम रूप में ही आसक्त रहते हैं ।

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः ।
अहंकार विमूढ़ात्मा कर्ताहमिति मन्यते ।। गीता : ३/२७

वास्तव में सम्पूर्ण कर्म सब प्रकार से प्रकृति के गुणों द्वारा किये जाते हैं । तो भी जिसका अन्तःकरण अहंकार से मोहित हो रहा है, ऐसा अज्ञानी अपने को मैं कर्ता हूँ, ऐसा मानता है ।

विमूढ़ मनुष्य न विषयों के विभाग को जानते हैं न स्वयं की असंगता को जानते हैं अर्थात् भोग अलग है और मैं अलग हूँ इस प्रकार वे अज्ञानी नहीं जानते हैं ।

तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः ।
गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते ।। गीता : ३/२८

परन्तु हे महावाहो ! गुण विभाग और कर्म विभाग के तत्त्व को जानने वाला ज्ञानयोगी, सम्पूर्ण गुण ही गुणों मे बरत रहे हैं, ऐसे समझकर उनमें आसक्त नहीं होता ।

अकृतात्मा अविवेकी मनुष्य बहुत जप, तप, पूजा, पाठ, तीर्थ, मन्दिर, दान, योग, यज्ञ, ध्यान, आदि सब कुछ करते हुए पाये जाते हैं । वह अन्तःकरण से तादात्म्य कर मैं मान लेता है । यह 'अहंता' और शरीर को अपना मान लेना यह 'ममता' होने के कारण इन्हें आत्म तत्त्व का अनुभव नहीं होता है, उनका सब प्रयत्न विवेक विचार के अभाव में व्यर्थ परिश्रम मात्र रह जाता है ।

अतः साधक को दृढ़ता पूर्वक मान लेना चाहिये कि १. परमात्मा यहाँ हैं । २. परमात्मा अभी हैं । ३. परमात्मा मैं हूँ । ४. अथवा भक्त की दृष्टि से परमात्मा अपने हैं, परमात्मा अपने में है ।

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमाया समावृतः ।
मूढ़ोऽयं नाभि जानाति लोको मामजमव्ययम् ।। गीता : ७/२५

मैं अजन्मा और अविनाशी आत्मा हूँ, जो मेरे को इस प्रकार जन्म–मरण से रहित जानते हैं वे तो असम्मूढ अर्थात् ज्ञानी है परन्तु जो मेरे को साधारण पुरुषों की तरह जन्मने–मरने वाला मानते हैं वे मूढ़ हैं ।

लोक कल्याण के लिये मैं अपनी योग माया का सहारा लेकर प्रकट होता हूँ और अपना कार्य कर पुनः अपने परमधाम में पहुँच जाता हूँ ।

मूढ़ मनुष्य मेरे अज–अविनाशी आत्मा के साथ अपनी एकता न कर जन्म–मरण वाले शरीर के साथ एकता कर लेते हैं । इसलिये मुझे भी अपनी तरह जन्मने–मरने वाला मान लेते हैं । उनके सम्मुख मैं अपनी योग माया से बने नाम, रूप राम, कृष्ण, विष्णु, शंकर, गणेश आदि रूपों में छुपा रहता हूँ । उनकी दृष्टि में सामान्य साधारण मनुष्य की तरह ही रहता हूँ । इस कारण वे मुझे जान नहीं पाते ।

जैसे घूंघट रखने वाली महिला, बुर्खा पहनने वाली महिला, सिनेमा दिखाने वाला आपरेटर, सेटे लाइट सबको देखता रहता है किन्तु उन्हें कोई नहीं देख पाता है । इसी तरह राम, कृष्ण, शंकर, विष्णु, गणेश, दुर्गा आदि नाम, रूप माया के बने शरीर को सब देखते हैं पर इस नाम, रूप को धारण करने वाले अधिष्ठान, धारक परमात्मा को कोई नहीं देख पाता है । केवल ज्ञानी ही कार्य को असत्य जानते हैं और कारण को सत्य जानने की ज्ञान दृष्टि रखते हैं । इसीलिये '**पश्यन्ति ज्ञान चक्षुषः**' अधिकारी होने से यह रहस्य समझ पाते हैं ।

संसार के प्रत्येक पदार्थ में नाम, रूप, अस्ति, भाति, प्रिय यह पांच अंश हैं । उसमें अस्ति, भाति, प्रिय तो सच्चिदानन्द के तीन अंश है और नाम–रूप यह दो अंश योग माया से निर्मित आकार सबको दृष्टि गोचर होते रहते हैं । विवेकी साधक नाम रूप को असत् जानते हैं और नाम रूप के आधार अस्ति, भाति, प्रिय तत्त्व को ही सत्य जानते हैं । विमूढ़ व्यक्ति इस तत्त्व को नहीं जान पाते हैं । '**विमूढ़ा नानु पश्यति**' परन्तु विवेकी, सद्गुरु कृपा से प्राप्त ज्ञान चक्षु द्वारा जान सकते हैं '**पश्यन्ति ज्ञान चक्षुषः**' ।

मन्द बुद्धि वाले का उद्धार

जो समर्थ बुद्धि वाले पुरुष हैं वे तो सांख्य योग, ध्यान योग, कर्म योग से अपना कल्याण करलेते हैं किन्तु इससे भिन्न जो मन्द बुद्धि वाले पुरुष है वे स्वयं पूर्वोक्त ध्यान, ज्ञान तथा कर्म नहीं कर पाते हैं । वे केवल 'मैं ब्रह्म हूँ ' 'मैं ब्रह्म आत्मा हूँ' इस प्रकार किसी श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ सतगुरु से 'शिवोऽहम्', 'सोऽहम्', 'अहंब्रह्मास्मि', 'सर्वं खलविदं ब्रह्म' 'यह ब्रह्म मैं हूँ'– इस प्रकार से सुनकर उपासना करते हैं, तो वे भी सुनने के परायण हुए अर्थात् सुने हुए ज्ञान की दृढ निष्ठा से शब्दों में ही विश्वास करने वाले भी मृत्यु रूप संसार सागर को निःसन्देह तर जाते हैं ।

यदि बुद्धि की मन्दता दोष के कारण अपने आत्म स्वरूप की अनुभूति न होती हो तो 'अहं ब्रह्मास्मि' 'मैं ब्रह्म हूँ' ऐसा गिनती के पहाड़ों की तरह खूब चिन्तन करें । जब भक्त लोगों को अविद्यमान देवी–देवता ध्यान में प्राप्त हो जाते हैं तब नित्य प्राप्त प्रत्यक्ष अपरोक्ष आत्मा की प्राप्ति तो अवश्य ही हो जावेगी ।

ज्ञानी को स्वयं अनुभव है कि मैं ब्रह्म हूँ, अहं ब्रह्मास्मि, किन्तु श्रुतिपरायण को मैं स्वयं ब्रह्म हूँ ऐसा अनुभव नहीं है । फिर भी वह 'अहं ब्रह्मास्मि' चिन्तन करता है, यह अहंग्रह उपासना कहलायेगी जिसके फल स्वरूप वह ब्रह्मज्ञान प्राप्ति का कालान्तर में अधिकारी हो कर मोक्ष को प्राप्त जाता है ।

इस संसार में नाम, रूप, अस्ति, भाति, प्रिय यह पाचों अंश सर्वत्र पाये जाते हैं । नाम, रूप माया के अंश एक दूसरे से पृथक् है किन्तु

अस्ति, भाति, प्रिय यह तीनों अंश संसार के प्रत्येक पदार्थों में समान पाये जाते हैं ।

ज्ञानी जन जो सर्वत्र एक आत्मा को मैं रूप से जानते हैं वे ब्राह्मण, गौ, हाथी, कुत्ते, चाण्डाल में भी बाह्य सामाजिक विषमता होते हुए भी उनमें ब्रह्मभाव ही रखते हैं ।

जिन का मन समत्व भाव में स्थित है, उनके द्वारा इस जीवित अवस्था में ही सम्पूर्ण संसार जीत लिया गया है, क्योंकि अस्ति, भाति, प्रिय ब्रह्म सच्चिदानन्दं परमात्मा तो दोषी–निर्दोषी, ऊँच–नीच, पापी–धर्मात्मा, मनुष्य–पशु तथा चर–अचर में समान रूप से ही विद्यमान रहते हैं । इस प्रकार सर्वत्र अपने आत्म स्वरूप को देखने वाले ज्ञानी उसी परब्रह्म में ही स्थित हैं ।

जो अपने सर्वव्यापी आत्म स्वरूप को नहीं जानता है, ऐसा अज्ञानी शरीर के ही रूप में अपने को देखता है । वह नाशवान् शरीर के साथ अपना अर्थात् आत्मा का भी नाश मानता है । वही आत्मघाती, आत्म हत्यारा है । क्योंकि महान् आत्मा को अनात्मा, अविनाशी को विनाशी, अजन्मा को जन्मने वाला, निष्पाप को पापी, सर्वव्यापी को शरीर के रूप में देखता है ।

याद रखे ! जो आपसे दूर हो रहा है, हो जाता है अथवा आप जिससे दूर हो जाते हैं, जिसे छोड़ अलग हो जाते हैं, वह आप नहीं है, वह आपका वास्तविक स्वरूप नहीं है । जैसे आप घर मकान, क्वाटर, फ्लेट, कार, रेल, हवाई जहाज से निकलकर बाहर आ जाते हैं तब वह आप नहीं है तथा वह आपका परिचय नहीं है । जैसे जाग्रत, स्वप्न, छोड़ सुषुप्ति एवं सुषुप्ति को छोड़ ध्यान–समाधि में चले जाते हैं फिर ध्यान को भी छोड़ जाग्रत में आ जाते हैं, तब वह सब अवस्था आपकी नहीं है । इसी तरह शिशु, बालक, युवा, प्रौढ़, वृद्ध रोगादि देह विकार आपके नहीं हैं, क्योंकि यह सब बदलते रहते हैं । जैसे कपड़ा को बदलते हैं तो आप वस्त्र नहीं, इसी तरह आप देह को बदलते हैं तो आप देह नहीं है, बल्कि सब परिवर्तनों के प्रकाशक साक्षी आत्मा हैं ।

कौन भक्त किसे प्राप्त करते हैं ?

प्राप्य पुण्यकृतां लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः ।
शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते ।। ६/४१

योगभ्रष्ट पुरुष पुण्यवानों के लोकों को अर्थात् स्वर्गादि उत्तम लोकों को प्राप्त होकर, उनमें बहुत वर्षों तक निवास करके फिर शुद्ध आचरण वाले श्रीमान् पुरुषों के घर में जन्म लेता है ।

अथवा योगीनामेव कुले भवति धीमताम् ।
एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदिदृशम् ।। ६/४२

अथवा वैराग्यवान् पुरुष उन लोकों में न जाकर ज्ञानवान् योगियों के ही कूल में जन्म लेता है । परन्तु इस प्रकार का जो यह जन्म है, सो संसार में निःसन्देह अत्यन्त दुर्लभ है ।

यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितु मिच्छति ।
तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम् ।। ७/२१

जो–जो मनुष्य जिस–जिस देवता का श्रद्धापूर्वक यजन–पूजन करना चाहता है, उस–उस मनुष्य की श्रद्धा उस–उस देवता के प्रति मैं अचल, दृढ़ कर देता हूँ ।

यद्यपि उन–उन देवताओं की उपासना करने से उनका परम कल्याण नहीं होता है । फिर भी मैं उन–उन देवताओं में उसकी श्रद्धा को दृढ़ कर देता हूँ और उन–उन देवताओं से वे अज्ञानी जिस–जिस अनित्य भोगों

को प्राप्त करने के लिये प्रार्थना करते हैं वे उनसे अपने कर्मानुसार प्राप्त करते हैं । उनकी कामना की पूर्ति यद्यपि देवताओं के माध्यम से मेरे द्वारा ही पूरी की हुई होती है । मैं उन सकामी लोगों के सम्मुख प्रकट नहीं होता हूँ । वास्तव में देवता द्वारा सब काम मेरी ही शक्ति से होते हैं और वे मेरे ही विधान से उन भक्तों की कामना पूर्ति करते हैं । जिस किसी को जो कुछ जहाँ से मिलता है, वह मेरा ही विधान किया हुआ मिलता है ।

अन्तवत्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्पमेधसाम् ।
देवान्देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि ।। ७/२३

देवताओं की उपासना करने वाले अल्प बुद्धि युक्त मनुष्यों को अन्तवाला अर्थात् सीमित व नाशवान् फल मिलता है । क्योंकि उन देवताओं को उनकी सामर्थ्य अनुसार मैंने उन्हें सीमित शक्ति प्रदान कर रखी है ।

देवताओं को इतना अधिकार दे रखा है कि वे अपने भक्त को अपने लोक में लेजा सकते हैं । भोग समाप्ति पर पुनः उन्हें वहाँ से लौटा उनके कर्मानुसार नीच-ऊँच योनि में भेज दिया जाता है । हाँ, अगर वे अपने-अपने देवता में भगवत् बुद्धि करलें और निष्काम भाव हो तो ही उनका उद्धार का द्वार खुल सकता है ।

येऽप्यन्यदेवता भक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः ।
तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधि पूर्वकम् ।। ९/२३

जो भी भक्त श्रद्धा पूर्वक अन्य देवताओं का पूजन करते हैं, वे भी मेरा ही पूजन करते हैं, पर वह उनका पूजन अविवेक एवं अविधि पूर्वक है । क्योंकि वे देवताओं को मुझसे अलग मानकर अनित्य पदार्थों की कामना करते हैं, जो उनके बन्धन एवं दुःख का ही कारण होता है ।

अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्तें मामबुद्धयः ।
परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम् ।। ७/२४

जो मनुष्य बुद्धि हीन है तथा जिनकी मेरे में श्रद्धा नहीं है, वे अल्प बुद्धि वाले समझ की कमी के कारण मुझ परमात्मा को साधारण मनुष्य

की तरह अव्यक्त से व्यक्त होने वाला अर्थात् जन्मने–मरने वाला मानते हैं । मेरा जो अविनाशी अव्यय अच्यूत भाव है, जिससे बढ़कर मेरे अलावा कोई दूसरा हो ही नहीं सकता और जो हर देश, काल, वस्तु में परिपूर्ण रहता है । फिर भी वह सब कर्म, अवस्था, परिवर्तन से रहित अलिप्त रहता है । ऐसा अविनाशी निर्विकार भाव को वे मन्द बुद्धि वाले नहीं जानते हैं । इसलिये वे मेरे को साधारण मनुष्य की तरह जान मेरी उपासना नहीं करते, प्रत्युत् देवताओं की उपासना करते हैं और उनसे नाशवान् पदार्थों को पाने में लग जाते हैं ।

देवता मनुष्यों की अपेक्षा से अविनाशी कहे जाते हैं किन्तु आत्मा निरपेक्ष अविनाशी है उसका देवताओं की तरह नाश नहीं होता है ।

आब्रह्म भुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन ।
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते ।।गीता : ८/१६

इस मृत्युलोक से ब्रह्मादिक सभी लोक पुनरावर्ती हैं । उनमें रहने वाले सभी प्राणियों को उन–उन लोकों के प्रापक पुण्य समाप्त हो जाने पर लौट कर पुनः इसी मुक्ति द्वार रूप मानव शरीर में आना पड़ता है ।

हे कुन्तीपुत्र ! मुझको प्राप्त होकर जीव का पूनर्जन्म नहीं होता वह अपने परमधाम में ही सदा के लिये ठहर जाता है ।

जब तक यह जीवात्मा नित्य आत्म स्वरूप को प्राप्त नहीं करता है, तब तक यह कितने ही ऊँचे लोक, पद एवं भोग को प्राप्त कर भी परम शान्ति, परम आनन्द को प्राप्त नहीं हो सकेगा एवं वहाँ जाकर भी जीव को पीछे लौटना ही पड़ता है ।

परन्तु हे कौन्तेय ! जीव का परम धाम परमात्मा है, ब्रह्मादिक लोक जीव का परम धाम अर्थात् घर नहीं है । अन्य सभी लोक जीव के गन्तव्य पथ में पहुँचने के यात्री निवास, धर्मशाला, सराय मात्र है । जीव का घर अर्थात् परम धाम तो परमात्मा है । इसलिये जीव ब्रह्मलोक तक जाकर पुनः लौट आता है ।

परमात्मा को प्राप्त होने का मतलब अपने अजन्मा–अविनाशी स्वरूप का बोध हो जाय एवं उसमें अभिन्न भाव जाग्रत हो जावे, तब इस जीव को जन्म नहीं लेना पड़ता है । जीव मेरा अंश है एवं परम धाम ही इसका घर है । इसलिये इसको वहाँ से लौटना नहीं पड़ता ।

यान्ति देवव्रता देवान्पितृन्यान्ति पितृव्रताः ।
भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपिमाम् ।।९/२५

वास्तव में सब कुछ भगवान् का ही रूप है । परन्तु जो भगवान् के सिवाय दूसरी कोई भी स्वतन्त्र सत्ता मानता है, उसका उद्धार नहीं होता । वह भेद भक्ति करने वाला वियोगी भक्त ऊँचे से ऊँचे लोकों में चला जाय तो भी उसे लौट कर संसार में आना ही पड़ता है ।

अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च ।
न तु मामभिजानन्ति तत्त्वेनातश्च्यवन्ति ते ।। गीता : ९/२४

क्योंकि सम्पूर्ण यज्ञों का भोक्ता और स्वामी भी मैं ही हूँ; परन्तु वे मुझ परमेश्वर को तत्त्वसे नहीं जानते, इससे वे गिरते हैं अर्थात् पुनर्जन्म को प्राप्त होते हैं ।

परमात्मा ही सम्पूर्ण यज्ञों का भोक्ता और संसार के स्वामी हैं परन्तु जो मनुष्य परमात्मा को भोक्ता और स्वामी न मानकर स्वयं अपने को कर्ता और भोक्ता मानलेते हैं, उनका पतन हो जाता है ।

देवताओं से भोग व ऐश्वर्य को चाहने वाले सकामी पुरुष उन–उन देवताओं की विधि विधान से साङ्गो–पाङ्ग पूजन करते हैं, अनुष्ठान करते हैं और उन देवताओं के अधीन हो जाते हैं ।

जो सकाम भाव से पितरों का पूजन करते हैं, उनके व्रतों का, नियमों का साङ्गो–पाङ्ग पालन करते हैं और पितरों को अपना इष्ट मानते हैं, वे पितर लोक को प्राप्त करते हैं ।

तामस स्वभाव वाले सकाम मनुष्य भूत–प्रेतों का पूजन करते हैं और उनके विधि विधान का साङ्गो–पाङ्ग पालन करते हैं । मंत्र जप के

लिये गधे की पूछ के बालों का तागा बनाकर उसमें ऊँट के दाँतों की मणिया पिरोना, रात्रि में श्मशान में जाकर मुर्दे का मांस खाना, मुर्दे पर बैठकर भूत प्रेतों के मंत्रों का जाप करना मांस–मदिरा का सेवन करना तथा महान् अपवित्र चीजों से भूत प्रेतों को पशु बलि देना, मनुष्य व शिशु को काट चढ़ाकर पूजन कर प्रसन्न कर अपने सांसारिक काम उनसे करा लेता है ।

मोघाशा मोघकर्माणो मोघज्ञाना विचेतसः ।
राक्षसीमासुरीं चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः ।। गीता : ९/१२

वे व्यर्थ आशा, व्यर्थ कर्म और व्यर्थ ज्ञानवाले विक्षिप्त चित्त अज्ञानीजन राक्षसी, आसुरी और मोहिनी प्रकृति को ही धारण किये रहते हैं ।

उपरोक्त तामस पूजा करने वालों की अन्त में घोर अधोगति होती है अर्थात् फिर उनको भी भूत प्रेत योनि प्राप्त होती है । क्योंकि भूत–प्रेत, पिशाच, डाकिन, चुडैल आदि नीच योनि में अत्यन्त अपवित्र वस्तु से उनकी पूजा करते हैं जिससे उनका पतन होता है । अतः साधक को भूत, प्रेत, पिशाचादि की पूजन का सर्वथा त्याग कर देना चाहिये ।

अवजानन्ति मां मूढ़ा मानुषीं तनुमाश्रितम् ।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम् ।। गीता : ९/११

मेरे परम भाव को न जानने वाले मूढ़ लोग मेरे द्वारा मनुष्य का शरीर धारण करने से मुझ सम्पूर्ण भूतों के महान् ईश्वर को तुच्छ समझते हैं अर्थात् अपनी योगमाया से संसार के उद्धार के लिये मनुष्य रूप में विचरते हुए मुझ परमेश्वर को साधारण मनुष्य मानते हैं ।

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः ।
मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम् ।। ७/२५

अपनी योगमाया से छिपा हुआ मैं सब के प्रत्यक्ष नहीं होता हूँ, इसलिये यह अज्ञानी जन समुदाय मुझ जन्म रहित अविनाशी ब्रह्म को नहीं जानता अर्थात् मुझ को जन्मने–मरने वाला समझता है ।

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते ।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ।। गीता : ९/२२

जो अनन्य भक्त मेरा चिन्तन करते हैं, मेरी प्राप्ति के लिये निरन्तर प्रयत्न करते हैं, उन भक्तों के अप्राप्त की प्राप्ति एवं प्राप्त की रक्षा मैं वहन करता हूँ । भगवान् के साथ जीव का सम्बन्ध का नाम 'योग' एवं उस जीव के कल्याण का नाम 'क्षेम' है ।

परमात्मा प्राप्ति का स्थान

परमात्मा अखण्ड सत्ता होने से वह सब देशों में, सबकालों में, सब रूपों में विद्यमान है । परमात्मा का किसी देश से परिच्छेद नहीं, किसी काल तथा वस्तु से परिच्छेद नहीं है । ऐसा कोई देश नहीं, काल नहीं, वस्तु या रूप नहीं जहाँ, जब, जो परमात्मा नहीं है । अतः परमात्मा की देश, काल एवं वस्तु से सर्वदा अपरिच्छिन्नता है ।

ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत् । – ईशा.उप.१

अर्थात् जगत् में जो कुछ जड़–चेतन पदार्थ है, वह सब परमात्मा से ही आच्छादित है । परमात्मा ही सब भूत प्राणियों का आदि, मध्य तथा अन्त है । १०/२० गीता

अतः साधक को प्रत्येक शरीर मन्दिर रूप देखना चाहिये तथा उन सबमें रहने वाली चेतन सत्ता को एक परमात्मा ही निष्ठा पूर्वक जानना चाहिये । क्योंकि सृष्टि के आदि में जो सत ब्रह्म है उसी ने इक्षण किया कि '**बहुस्यां प्रजायेय**' मैं बहुत हो जाऊँ (६/२/३ छा.उप.) इसप्रकार वह सत ब्रह्म से तेज ब्रह्म हुआ, तेज ब्रह्म से जल ब्रह्म हुआ तथा जल ब्रह्म से अन्न ब्रह्म हुआ । फिर त्रिवृत् करण द्वारा अन्न का सूक्ष्म रूप मन बना, जल का सूक्ष्म रूप प्राण बना तथा तेज का सूक्ष्म रूप वाणी बना तथा फिर वह परमात्मा स्वयं जीव रूप से देह में प्रवेश कर गया ''**जीवेनात्मनानुप्रविश्य**'' ६/३/३/ छा.उप.

इसी गीता के दशम अध्याय में भगवान् अपनी सर्व व्यापकता को बड़ी–बड़ी विभूतियों द्वारा वर्णन कर बता चुके हैं कि मैं पृथ्वी, जल, तेज, वायु तथा आकाश रूप हूँ तथा इन्हीं पंचभूत से बना यह दृश्य संसार है तो परमात्मा ही सर्व रूप मैं है । ''**सर्वं खल्विदं ब्रह्म**'' सियाराम मय सब जग जानी ।

जैसे पाण्डवों में अर्जुन, इन्द्रियों में मन, जलाशय में समुद्र, नदियों में गंगा, वृक्षों में पीपल, सभी भाषाओं में अकार, सन्तान उत्पत्ति हेतु कामदेव, शीतलता में चन्द्रमा, ताप में सूर्य, रसों में जल रूप, कालों का महाकाल, ज्ञानवानों का तत्त्वज्ञान, पहाड़ों में हिमालय, सौन्दर्य में स्त्री मैं हूँ इस प्रकार सर्व व्यापकता की घोषणा की है ।

ईश्वरः सर्व भूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ।
भ्रामयन्सर्व भूतानि यन्त्रारूढानि मायया ।। गीता : १८/६१

ईश्वर समस्त प्राणियों के हृदय में समान रूप से सर्वदा विद्यमान रहते हैं । साधक की भूल प्रायः यही होती है कि वह भजन, कीर्तन, ध्यान, समाधि आदि साधन करते हुए यह मानता रहता है कि परमात्मा मुझ जैसे अधम, नीच, पापी को कैसे मिल सकेंगे ? उन नित्य प्राप्त परमात्मा की अपने किये साधन द्वारा प्राप्ति मानता है । अज्ञानी जीव समझते है कि परमात्मा मुझ से दूर है । जब मैं ठीक पात्र बन जाऊँगा, अधिकारी बन जाऊँगा, पूर्ण शुद्ध हो जाऊँगा तब शायद मिल सकेंगे । वे अभी यहाँ गृहस्थ जीवन में, कर्म में फंसे रहने पर नहीं मिल सकेंगे, अब मुझे सब कर्म, व्यवहार, घर, दूकान, नोकरी छोड़ एकान्त जंगल में संन्यास लेकर रहना होगा । इस प्रकार की कूभावना, अश्रद्धा, अविश्वास दृढ़ कर प्राप्त परमात्मा से दूरी का भाव दृढ़ कर लेता है ।

साधक को परमात्मा की व्यापकता, नित्यता, सर्वरूपता पर विश्वास करते हुए यह भावना करना चाहिये कि परमात्मा सब देश में हैं तो जहाँ मैं हूँ वहाँ भी अवश्य है । नित्य है तो मेरे श्वाँस–श्वाँस में अभी ही है तथा अणु–अणु है तो मेरा रूप भी उसी का है । जब परमात्मा सब रूपों में है,

तो मेरे में भी हैं । मेरे रोम–रोम में भी है । मेरे प्राण, इन्द्रिय, मन, बुद्धि के अन्दर रहकर उनको कार्य करने की शक्ति दे रहे हैं । देह में जो सब समय जीव 'मैं' 'मैं' कर रहता है, परमात्मा उस 'मैं', 'मैं' में भी विद्यमान् है । उस जीव के नकली मैं का जो आधार है, वह अपना स्वरूप भगवान् से अभिन्न है ।

'क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्व क्षेत्रेषु भारतः' गीता : १३/२

हे अर्जुन ! तू सब शरीरों में जीवात्मा भी मुझे जान ।

जैसे पानी पृथ्वी में सदा रहता है परन्तु कुआँ खोदने वाले को या सरोवर, नदी पर जाने वाले को ही पानी मिलता है । इसी प्रकार परमात्मा सर्वत्र परिपूर्ण होते हुए भी हृदय में ही अनुभव में आते हैं । मनुष्यों का हृदय परमात्मा को प्राप्त करने का सर्वश्रेष्ठ स्थान है । परमात्मा पास से भी पास है अर्थात् स्वयं ही है ।

जीव शरीर के साथ मैं–पन तथा मेरे पन का सम्बन्ध रखने से राग–द्वेष युक्त हो जाता है, जिसके कारण जीव को चौरासी लाख योनियों में भ्रमण करना पड़ता है । जब यह जीव सद्‌गुरु की कृपा से माने हुए देह संघात् से सम्बन्ध तोड़ देता है, तब यह जीव शुद्ध हो जाता है, फिर उसकी माया उसे चौरासी लाख योनियों में उस भ्रमित नहीं कर पाती ।

जैसे विद्यत् शक्ति से सब यन्त्र अपना अपना काम करते हैं, बिजली केवल उदासीन शक्ति मात्र है । इसी तरह परमात्मा की शक्ति से सब जीव अपने कर्म एवं स्वभावानुसार मनुष्य, देव, राक्षस, भूत, प्रेत, पशु, पक्षी, लता, वृक्षादि योनि में भ्रमित होते रहते हैं।

'अहमात्मा गुड़ाकेश सर्वभूताशयस्थितः' । गीता : १०/२०

मैं परमात्मा अखण्ड होने से सब देश, काल, वस्तु में विद्यमान हूँ किन्तु प्राप्ति का सर्व सुलभ, सर्व सुगम, सर्व श्रेष्ठ स्थान अपने देह में चेतन साक्षी आत्म रूप में ही अनुभव किया जा सकता है । जैसे दूर दर्शन एवं आकाशवाणी सर्वत्र आकाश मण्डल में है किन्तु टी.वी बिना रूप

दर्शन तथा रेडिओ बिना आकाशवाणी या मोबाइल फोन बिना सम्बन्धित व्यक्ति से बात नहीं हो पाती है । दूध प्रत्येक अन्न, फल, जल, पत्र, घास, मल में है किन्तु प्राप्ति तो केवल दुग्ध देनेवाले प्राणी से ही होती है । शहद प्रत्येक पुष्प में रहता है किन्तु प्राप्ति तो मधुमक्खी द्वारा ही होती है ।

'हृदि सर्वस्य विष्ठितम्' गीता : १३/१७

मैं सबके हृदय में ही जाना जा सकता हूँ ।

'क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्व क्षेत्रेषु भारत' गीता : १३/२

मैं सब शरीरों में शरीरी आत्मा रूप से विद्यमान् हूँ । समस्त क्षेत्र रूप शरीरों में क्षेत्रज्ञ परमात्मा मैं ही हूँ ।

इस शरीर क्षेत्र की एकता संसार के साथ है और इस क्षेत्रज्ञ जीव की एकता परमात्मा के साथ है । क्योंकि शरीर पंचभूतों का कार्य होने से उनका अंश है एवं जीव परमात्मा का अंश होने से परमात्मा का है ।

'सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो' गीता : १५/१५

मैं ही सम्पूर्ण प्राणियों के हृदय में विद्यमान् हूँ ।

'सर्वधी साक्षी भूतम्' गुरुगीता

मैं सब शरीरों में बुद्धि का प्रकाशक साक्षी रूप में विद्यमान् रहता हूँ ।

'अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः' गीता : १५/१४

मैं ही सब प्राणियों के शरीर में स्थित रहने वाला वैश्वानर प्राण हूँ जो चाटने, चबाने, चूसने तथा पिने वाले चारों प्रकार के अन्न को पचाता हूँ ।

'इन्द्रियाणां मनश्चास्मि' गीता : १०/२२

विषयों की तरफ जाने वाला एवं सत्य की खोज करने वाला इन्द्रियों में श्रेष्ठ मन भी मैं ही हूँ ।

'भूतानामस्मि चेतना' १०/२२

'जीवनं सर्व भूतेषु' ७/९

मैं ही भूत प्राणियों की चेतना अर्थात् जीवन शक्ति भी हूँ ।

'ममैवांशो जीवलोके जीव भूतः सनातनः' १५/७

आत्मा की परमात्मा रूप से सर्वदा एकता है किन्तु यह आत्मा हो कर भी जीव संज्ञा को प्राप्त हो गया । आत्मा का जीव पना बनावटी है, अवास्तविक है, वास्तविक तो परमात्मा ही इसका सच्चा स्वरूप है । **मम** एवं पद से घोषित करते हैं कि जीव तू मेरा ही सनातन अंश है । अंश होने के नाते अंशी से भिन्न नहीं है । प्रकृति के साथ तेरा कभी सम्बन्ध न था, न है और न हो सकता है ।

'मैं भगवान् का हूँ'– ऐसा भाव रखना अपने–आपको भगवान् में लगाना है । साधकों से भूल यह हो जाती है कि वे अपने आपको भगवान् में न लगाकर मन, बुद्धि को भगवान् में लगाने की कोशिश करते हैं । मैं भगवान् का हूँ इस वास्तविकता को भूलकर मैं ब्राह्मण हूँ, मैं वैश्य हूँ, मैं ब्रह्मचारी हूँ, मैं त्यागी हूँ, मैं साधू हूँ, मैं संन्यासी हूँ आदि मानते रहे तो मन–बुद्धि परमात्मा में कभी भी दृढ़ नहीं हो सकेंगे ।

पुरुषोत्तम कौन है ?

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च ।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते ।। गीता : १५/१६

जगत् में क्षर और अक्षर (अविनाशी) दो प्रकार के ही पुरुष हैं । सम्पूर्ण प्राणियों के शरीर क्षर और जीवात्मा अक्षर कहा जाता है ।

एक तो प्रत्यक्ष दिखने वाला दृश्य नश्वर संसार व शरीर है और एक उसमें रहने वाला अदृश्य, अव्यक्त, अगोचर, निराकार अविनाशी जिसे अक्षर जिवात्मा कहते है ।

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः ।
यो लोकत्रयमाविश्य विभर्त्यव्यय ईश्वरः ।। गीता : १५/१७

उन क्षर नाशवान् शरीरों से तथा अक्षर जीवात्मा से उत्तम पुरुष तो अन्य ही है । विनाश शील जड़ वर्ग तो अविद्या नाम से कहे जाते हैं और अविनाशी जीवात्मा को विद्या नाम से कहा जाता है । जो इन क्षर व अक्षर, अविद्या और विद्या दोनों से पर जो शासन करता है वह इन दोनों से भिन्न सर्वथा विलक्षण है ।

जीव परमात्मा का अंश सच्चिदानन्द होते हुए भी उसका खिंचाव अपने अंशी परमात्मा की ओर न होकर नश्वर भोग पदार्थ की ओर होता है । जीवात्मा इस दोष के कारण एवं परमात्मा को निर्दोष बताने के लिये उसे क्षर शरीर एवं अक्षर जीवात्मा से भिन्न बतलाया गया हैं । क्षर और

अक्षर यह दोनों तो लौकिक है, पर पुरुषोत्तम इन दोनों से विलक्षण और अलौकिक है । अतः परमात्मा विचार का विषय नहीं है प्रत्युत् श्रद्धा–विश्वास का विषय है । परमात्मा अप्रमेय होने से अग्राह्य, अचिन्त्य, अव्यवहार्य होने से वे केवल सन्त–महात्मा, वेद शास्त्र प्रमाण तथा स्वानुभव प्रमाण से ही स्वीकार्य है ।

यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः ।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ।।

गीता : १५/१८

जीवात्मा परमात्मा का अंश होने के कारण उस की परमात्मा से तात्त्विक एकता है, तथापि यहाँ भगवान् अपने को ८४ लाख में भटकने वाले जीवात्मा से भी उत्तम बताने के लिये 'पुरुषोत्तम विशेषण लगाकर कहते हैं' । जीव प्रकृति के वश में होकर संसार में आता–जाता है, जब कि परमात्मा प्रकृति को अपने अधीन करके लोक में आते हैं । जीवात्मा को निर्लिप्त होने के लिये चित्त वृत्ति निरोध, प्राणायाम आदि साधन करना पड़ता है जब कि परमात्मा सदा निर्लिप्त ही रहते हैं ।

इसलिये पुराण, स्मृति आदि शास्त्रों में भगवान् 'पुरुषोत्तम' नाम से प्रसिद्ध है ।

व्याकरण दृष्टि से तीन पुरुष होते हैं

१. उत्तम पुरुष २. मध्यम पुरुष ३. अधम / अन्य पुरुष

उत्तम पुरुष के सर्वनाम – मैं व हम कहलाते हैं ।

मध्य पुरुष के सर्वनाम – तू, तुम, आप कहलाते हैं ।

अन्य पुरुष के सर्वनाम – वह, वे, वो, रूप में जाने जाते हैं ।

तात्पर्य है कि दूरस्थ अन्यपुरुष के लिये वह, वे, वो, रूप सम्बोधन किया जाता है । तू, तुम, आप सम्बोधन केवल मध्यम पुरुष के लिये किया जाता है । तथा मैं या हम् सम्बोधन स्वयं के लिये ही किया जाता है । इसलिये मैं ही पुरुषोत्तम है । मैं से भिन्न जो भी होगा वह या तो

मध्यम पुरुष होगा या अन्य पुरुष हो सकेगा किन्तु मैं से भिन्न कभी कोई पुरुषोत्तम नहीं हो सकेगा ।

इस शरीर में जो अहं जीव का भी साक्षी है वही स्वयं प्रकाश परमात्मा 'पुरुषोत्तम' रूप जानना चाहिये । यही सभी जीवों का वास्तविक स्वरूप है ।

दो व्यक्ति जब बात करते हैं तो उसमें बोलने वाला उत्तम पुरुष कहलाता है, सुनने वाला मध्यम पुरुष कहलाता है एवं यह दोनों जिस तीसरे की चर्चा करते हैं, वह मनुष्य हो या भगवान् अन्य पुरुष कहलाता है । अस्तु मैं आत्मा ही उत्तम पुरुष होने से पुरुषोत्तम हूँ ।

रात दिन कब होते हैं ?

या निशा सर्व भूतानां तस्यां जागर्ति संयमी ।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ॥ गीता : २/६९

'या निशा सर्वभूतानाम्'– जिनकी इन्द्रियाँ और मन वश में नहीं है, जो भोग में आसक्त हैं, वे सब मनुष्य परमात्मा की तरफ से सोये हुए हैं । हम दुःख क्यों पा रहे हैं, हमारा जन्म क्यों हुआ है, हम जो कुछ कर रहे हैं, इसका परिणाम क्या होगा । इस तरफ बिलकुल न देखना ही उन लोगों का जीवन रात्रि के समान है ।

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत ।
क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गं पथस्तत्कवयो वदन्ति ।
कठो. उप.१/३/१४

अरे अनादि अविद्या में सोने वाले भव्य जीवों देह भाव से उठो एवं अपने नित्य आत्म भाव में जागो । किसी सद्गुरु के पास जाकर अच्छी तरह से अपने को पहचान लो कि मैं कौन हूँ व परमात्मा से मेरा क्या सम्बन्ध है ?

इस निजात्मा स्वरूप प्रकृत ब्रह्मको इस समय भी सद्गुरु कृपा से अहं ब्रह्मास्मि 'मैं ही ब्रह्म हूँ' इस प्रकार से जो अपने को जानलेता है; वह विद्वान् पुरुष जागा हुआ है ।

जैसे पशु आहार, निद्रा, भय, मैथुन यह चारों क्रियाओं में ही जीवन व्यतीत करते आ रहे हैं । उन्हीं की तरह यह मानव देव दुर्लभ जीवन प्राप्त

कर रात–दिन खाने–पीने, सोने में, भोग संग्रह में धन कमाने में या नाम कमाने में लगा रहता है । ऐसे मनुष्यों की गणना भी पशु–पक्षी, उल्लू आदि योनि में ही है । कारण परमात्मा से विमुख रहने वाले पशु–पक्षी और मनुष्य में कोई अन्तर नहीं है । दोनों ही परमात्मा की तरफ से सोये हुए हैं ।

अस प्रभु छाड़ि भजहि जे आना । ते नर पशु बिन पूंछ विशाना ।।

– रामायण

पशुओं में विवेक शक्ति की कमी है और मनुष्य में भगवान् की कृपा से विवेक शक्ति जाग्रत है । यह उस शक्ति का सदुपयोग कर अपना कल्याण कर सकता है, परमात्मा की प्राप्ति कर सकता है, प्राणी मात्र की सेवा कर सकता है । परन्तु मनुष्य उस विवेक शक्ति का दुरुपयोग कर पशुओं से भी अधिक समाज के लिये दुःख दायी हो जाता है ।

जो न तरे भव सागर, नर समाज अस पाय ।
सो कृत निन्दक मंद मति, आतम हन गति जाय ।।

– रामायण

'तस्यां जागर्ति संयमी'– संसारी मनुष्यों की जो रात है अर्थात् परमात्मा की तरफ से विमुखता है, संयमी लोगों के लिये वह दिन है । जिसने इन्द्रियाँ और मन को अपने वश में किया है, जो जीवन निर्वाह से अधिक भोग व संग्रह में नहीं पड़े हैं, जिनका उद्देश्य परमात्मा को प्राप्त करना, जन्म–मरण प्रवाह से मुक्ति प्राप्त करना, प्राणी मात्र को सुख पहुँचाना है, ऐसे संयमी पुरुष के किये उनका जीवन दिन के समान है ।

उठ जाग मुसाफिर भोर भई, अब रैन कहाँ जो सोवत है ।

'यस्मां जाग्रति भूतानि' – जो भोग और संग्रह में बहुत होशियार रहते है । न्याय, अन्याय, पुण्य–पाप का बिना विचार किये दूसरे के जीवन, धन, सुख, लूटने में बटोरने में लगे रहते हैं । यह संसारी लोगों का जागना है । वे आदर–सम्मान मान बड़ाई आदि प्राप्त करने में ही लगे रहते हैं । उन्हें परमात्मा की प्राप्ति करने की सलाह भी अच्छी नहीं

लगती । ऐसे विषय भोगी मूढ़ लोगों के लिये परमात्म प्राप्ति रात्रि के समान है । अर्थात् वे उसे पाने की चेष्टा नहीं करते हैं, वे परमात्मा की तरफ सोये हुए हैं ।

'सा निशा पश्यतो मुनेः'– जिस भोग सामग्रियों के संग्रह करने में, उन्नति करने में मनुष्य लौकिक उपाधियाँ, पद, प्रतिष्ठा, खेलकूद, नाच गानादि कला में कुशलता पाने में अपने को बड़ा बुद्धिमान्, चतुर मानते हैं । उसी अनित्य धन, परिवार सम्मान को पाकर ज्ञानी बड़े प्रसन्न नजर आते हैं । परमात्म तत्त्व को जानने वाले ज्ञानी लोगों के लिये वह रात्रि काल के समान है । ज्ञानी जन इन अनित्य नश्वर पदार्थ को जीवन निर्वाह के अतिरिक्त पाने की चेष्टा नहीं करते ।

संसारी लोग सदा जीवित रहने के लिये विद्या, खेती, व्यापार, नोकरी, चोरी, भिक्षादि वृत्ति तथा आसन–प्राणायाम नाच, गान, खेलादि की सिद्धि में दिन–रात लगे रहते हैं । मन्त्र, तन्त्र, देवी–देवता, भूत–प्रेतादि की उपासना करते हैं । परन्तु जीवन्मुक्त मननशील तत्त्वज्ञ महापुरुष तथा सच्चे मुमुक्षु की दृष्टि में उनका यह सब कारोबार रात के समान है । उनके मन में भौतिक उन्नति के लिये किञ्चित् मात्र भी महत्व नहीं है किन्तु संसारी व्यक्ति तो अनित्य भोग पदार्थ के संग्रह एवं भोग में ही रचे–पचे रहते हैं और वे समझते हैं कि हमारे समान कोई बुद्धिमान , होशियार नहीं है ।

जैसे छोटे बच्चे सीप, शंख, कंकड़, रंगीन कागज, खाली माचिस, खाली सिगरेट के पाकेट, कांच चूड़ी के टुकड़े के संग्रह करने में ही अपने को बड़ा धनी मानते हैं और उन्हीं वस्तुओं के लिये आपस में छीना–छपटी, मार–पीट भी परस्पर करते रहते हैं । परन्तु समझदार मनुष्य जानता है कि इन कंकड, पत्थर, कांच के टुकड़े को पाने में, संग्रह में क्या लाभ या फेंकने में क्या हानि ?

इसी तरह भोग व संग्रह में लगे हुए मनुष्य भोगों के लिये धन, जमीन, चुनाव जीतने, खेल में जीतने के लिये, परीक्षा में पास होने के

लिये झूट–कपट, लड़ाई, झगड़ा, मार–पीट हत्या तक करने में लगे रहते हैं, उनको प्राप्त करके बड़े भाग्यवान् समझते हैं । परन्तु ज्ञानवान् अथवा मुमुक्षु के लिये इस अनित्य संसार के संग्रहार्थ किंञ्चित भी आग्रह नहीं रहता है ।

परमात्मा को जानने वाला मननशील संयमी पुरुष जानता है कि यदि बहुत परिश्रम द्वारा भोग मिल गये, आदर–सत्कार, पद–प्रतिष्ठा, सुख–आराम क्षणिक मिल गया शृंगार, सजावट कर लोगों की दृष्टि में सुन्दर खुबसुरत दिखाई पड़ गये, विश्व सुन्दरी का पुरस्कार मिल भी गया, संसार के सबसे श्रेष्ठ कलाकार होकर 'गीनी बुक में नाम भी आगया तो क्या लाभ ? परन्तु अज्ञानी लोग इन सभी बातों में दिन रात लगे रहते हैं, उनके लिये उन अनित्य पद प्रतिष्ठा, धन–सम्पत्ति का प्राप्त करना उन्हें दिन जैसा लगता है और ज्ञानी लोगों को उनका जीवन रात्रि के समान लगता है ।

स्वयं प्रकाश कौन ?

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः ।
मनसस्तु पराबुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः ।। गीता : ३/४२

एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना ।। गीता : ३/४३

'इन्द्रियाणि पराण्याहुः'– विषय पदार्थों से इन्द्रियाँ पर एवं श्रेष्ठ है । इन्द्रियों के द्वारा विषयों का ज्ञान होता है, पर विषय द्वारा इन्द्रियों का ज्ञान नहीं होता, बिना इन्द्रिय के विषयों की कोई सत्ता नहीं है। पर इन्द्रियाँ, बिना विषयों के भी रहती है । विषय परतन्त्र है, इन्द्रियाँ स्वतन्त्र मालुम पड़ती है । इन्द्रियाँ विषयों की अपेक्षा सबल, श्रेष्ठ, सूक्ष्म, प्रकाशक और व्यापक कही जा सकती है ।

'इन्द्रियेभ्य परं मनः'– इन्द्रियों का प्रकाशक मन है । मन इन्द्रियों के पटुता, मन्दता व अन्धता स्वभाव को जानता है कि वे ठीक काम करती है, कम काम कर पाती है अथवा बिलकुल काम नहीं कर पाती है । पर इन्द्रियाँ विषय को जैसे प्रकाशित करती है उसी तरह इन्द्रियाँ मन को प्रकाशित नहीं कर सकती । इन्द्रियाँ भी अपने–अपने शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध का ज्ञान करती है, वे अन्य अन्य इन्द्रियों के विषय का ज्ञान नहीं कर सकती । त्वचा स्पर्श का अनुभव करती है किन्तु शब्द, रूप, रस और गन्ध का ज्ञान नहीं कर सकती । नेत्र रूप का ज्ञान करते हैं किन्तु शब्द, स्पर्श, रस और गन्ध का ज्ञान नहीं कर सकते । जिह्वा रस को ग्रहण करती है किन्तु शब्द, स्पर्श, रूप तथा गन्ध को ग्रहण

नहीं करती है । घ्राण गंध को ग्रहण करती है किन्तु शब्द, स्पर्श, रूप व रस को ग्रहण नहीं कर पाती है । परन्तु मन पांचों इन्द्रियों को और उनके विषयों को भी जानता है । इसलिये मन इन्द्रियों एवं विषयों से श्रेष्ठ, सबल, व्यापक प्रकाशक और सूक्ष्म कहा जा सकता है ।

'मनसस्तु परा बुद्धिः'– विषय, इन्द्रिय का प्रकाशक मन है और मन को बुद्धि जानती है कि मन चंचल है या शान्त, सुखी है या दुःखी, कामी है या क्रोधी, सुचिन्तन कर रहा है या कुचिन्तन इत्यादि बाते बुद्धि जानती है । बुद्धि मन, इन्द्रिय तथा विषय को भी जानती है । बुद्धि को विषय, इन्द्रिय तथा मन तीनों नहीं जानते हैं । इसलिये मन से परे, बुद्धि श्रेष्ठ, सबल, सूक्ष्म व्यापक, प्रकाशक है ।

'यः बुद्धेः परतस्तु सः'– बुद्धि का स्वामी 'अहम्' जीव है । जीव बुद्धि की मूढ़ता विद्वत्ता, श्रेष्ठता, निकृष्टता, मन्दता, तीव्रता को जानता है किन्तु बुद्धि जीव को नहीं जानती है । लोग कहते भी हैं मेरी मंद बुद्धि है । तो बुद्धि करण है और अहम् जीव कर्ता है । कर्ता के आधिन करण परतन्त्र होता है किन्तु कर्ता स्वतन्त्र होता है ।

विषय इन्द्रियों के एकदेश में हैं, इन्द्रियाँ मन के एक देश में है, मन, बुद्धि के एकदेश में है, बुद्धि वास्तव में जीव के एक देश में है और यह अहम् चेतन आत्म स्वरूप के एक अंश में है । इसलिये अहम् जीव से श्रेष्ठ, महान्, व्यापक, सूक्ष्म एवं स्वंय प्रकाश मैं आत्मा है । इसके द्वारा ही अहम् जीव, बुद्धि, मन, इन्द्रियाँ और विषय जाने जाते है । पर विषय, इन्द्रिय, मन, बुद्धि और यह अहम जीव सब मिलकर भी मुझ स्वयं प्रकाश आत्मा को कोई प्रकाशित नहीं कर सकते ।

तद्वा एतदक्षरं गार्ग्यदृष्टं द्रष्ट्रश्रुतंश्रोत्रमतं मन्त्रविज्ञातं विज्ञातृ नान्यदतोऽस्ति द्रष्टृ नान्यदतोऽस्ति श्रोतृ नान्यदतोऽस्ति मन्तृ नान्यदतोऽस्ति विज्ञात्रेतस्मिन्नु खल्वक्षरे गार्ग्याकाश ओतश्च प्रोतश्चेति ।

– बृहदा.उप.३/८/११

हे गार्गी ! यह अक्षर किसी की दृष्टि का विषय नहीं होता किन्तु स्वयं दृष्टि स्वरूप होने के कारण द्रष्टा है । वैसे ही श्रोत्र का विषय नहीं है किन्तु स्वयं श्रुति रूप होने से श्रोता है । मनन का विषय नहीं किन्तु मति रूप होने से मन्ता है, बुद्धि का अविषय होने से दूसरों का विज्ञाता है । इससे भिन्न कोई द्रष्टा नहीं, इससे भिन्न कोई श्रोता नहीं, इससे भिन्न कोई मनन कर्ता नहीं और न इससे भिन्त कोई विज्ञाता ही है । अतः हे गार्गी ! निसन्देह इस अक्षर से आकाश ओतप्रोत है ।

कतम आत्मेति यो यं विज्ञानमयः प्राणेषु हृद्यन्तर्ज्योतिः पुरुषः स समानः सन्नुभौ लोकवनुसंचरति ध्यायतीव लेलायतीव स ही स्वप्नो भूत्वेमं लोकमतिक्रामति मृत्यो रूपाणि – बृहदा.उप.४/३/७

जनक ने पूछा आत्मा कौन है ? याज्ञावल्क्य ने कहा जो अन्तःकरण में बुद्धि वृत्तियों के भीतर स्थित विज्ञानमय ज्योति स्वरूप पुरुष है, वही आत्मा है । वही बुद्धि वृत्तियों के समान होता हुआ इस लोक परलोक दोनों में संचरण करता है ।

.... न दृष्टेर्द्रष्टारं पश्येर्न श्रुतेः श्रोतारं शृणुयान्न मतेर्मन्तारं मन्वीथा न विज्ञातेर्विज्ञातरं विजानीथाः । एष त आत्मा सर्वान्तरोऽतोऽन्यदार्तम्... बृहदा.उप.३/४/२

तुम अन्तःकरण की वृत्तिरूप दृष्टि के द्रष्टा को घटादि के समान नहीं देख सकते हो । वैसे ही श्रुति के श्रोता को नहीं सुन सकते हो । मति के मन्ता का मनन नहीं कर सकते हो, बुद्धिवृत्तिरूप विज्ञाति के विज्ञाता को नहीं जान सकते । तेरा यह आत्मा ही सर्वान्तर है । इससे भिन्न (कारण देह) नश्वर है ।

जिससे सूर्य, चन्द्र, तारे, विद्युत् आदि सब प्रकाशित किये जाते हैं उसे कौन प्रकाशित कर सकेगा ? कोई नहीं । उन आनन्दमय सर्वान्तरयामी परमात्मा की अचिन्त्य शक्ति की प्रेरणा से ही इस जगत् के

समस्त प्राणियों की समस्त चेष्टाएँ हो रही है । उनके शासन में रहने वाले सूर्य, चन्द्र, विद्युत् गृह, उपगृह, आदि अपना–अपना काम न करे तो एक क्षण भी कोई प्राणी जीवित नहीं रह सकता है ।

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः ।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ।।

–मुण्डको.उप.२/२/१०

इस हृदयस्थित आत्म स्वरूप ब्रह्म में यह जगत को प्रकाशित करने वाला सूर्य प्रकाशित नहीं होता है । चन्द्रमा और तारों भी वहाँ प्रकाशित नहीं होते हैं । वहाँ यह बिजली भी नहीं चमकती फिर भला यह अग्नि उसे कैसे प्रकाशित कर सकेगी ? उसके प्रकाशित होने पर ही यह सभी प्रकाशित होते हैं । विशेष क्या कहना ? ये सब के सब उसी प्रकाश से भासित हो रहे हैं ।

जो सौ चन्द्र उगहि सूरज कोटि हजार ।
एते चान्द न कर सके, गुरु बिन घोर अन्धार ।।

'ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते' । गीता : १३/१७

ज्योति नाम ज्ञान प्रकाश का है अर्थात् जिनसे प्रकाश मिलता है, ज्ञान होता है, वे सभी ज्योति हैं । भौतिक पदार्थ एवं संसारी लोगो का व्यावहारिक जीवन निर्वाह सूर्य, चन्द्र, तारे, विद्युत, दीपक, बिजली, अग्नि, शब्दादिक द्वारा जाने जाते हैं । अतः भौतिक पदार्थों की ज्योति प्रकाशक शब्द, सूर्य–चन्द्र, दीपक, अग्नि, विद्युत् आदि हैं ।

शब्द की ज्योति कान, स्पर्श की ज्योति त्वचा, रूप की ज्योति चक्षु, रस की ज्योति जिह्वा तथा गन्ध की ज्योति घ्राण इन्द्रिय है । इन पांचों इन्द्रियों को उनके अपने विषय का ज्ञान तभी होता है, जब उनके साथ उनका प्रवर्तक मन हो । इन्द्रियों की ज्योति मन है । मन से विषयों का ज्ञान होने पर भी जब तक बुद्धि निर्णय नहीं लेती है, तब तक उस विषय का स्पष्ट ज्ञान नहीं होता है । मन व इन्द्रियों के साथ बुद्धि रहने से ही विषयों का स्पष्ट ज्ञान होता है ।

अतः मन की ज्योति बुद्धि से कर्तव्य–अकर्तव्य, सत–असत्, नित्य–अनित्य का ज्ञान होने पर भी अगर स्वयं कर्ता जीव उसको धारण नहीं करता, तो वह बौद्धिक ज्ञान ही रह जाता है । वह ज्ञान जीवन में कार्यरूप में परिणत नहीं होता । तात्पर्य बुद्धि का प्रकाशक जीव है जो चौरासी में भटकता है । उसका प्रकाशक स्वयं प्रकाश परमात्मा अचल है । उसका कोई प्रकाशक नहीं है । वह सर्व साक्षी, सर्व द्रष्टा परमात्मा ही अहम, बुद्धि, मन, इन्द्रिय तथा विषय जगत् का प्रकाशक है ।

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते ।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति अनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति ।।

–मुण्डको.उप.३/१/१

एक ही शरीर रूप वृक्ष पर रहने वाला जीव अपने अनीशत्व (शक्तिहीनता) के कारण अपने को असमर्थ मानता हुआ मोह वश शोक करता है । पर जब सद्गुरु कृपा से स्वरूप ज्ञान प्राप्त करलेता है उस समय वह शोक से मुक्त हो जाता है ।

मैं स्वयं प्रकाश कैसे ?

यदि हमें किसी वस्तु को देखना है, तो उसको देखने के लिये प्रकाश की जरूरत होगी । फिर उस पदार्थ को देखने के लिये प्रकाश के साथ नेत्र का होना भी जरूरी है, फिर नेत्र के साथ मन भी चाहिये, बिना मन के नेत्र पदार्थ को नहीं जान सकेगा । मन भी अन्यत्र चिन्तन में लगा होगा तो नेत्र के सम्मुख पदार्थ पड़ा रहने पर भी नहीं जान सकेंगे । मन के साथ बुद्धि का भी होना आवश्यक है, क्योंकि यदि बुद्धि में उस पदार्थ के दर्शन से प्रथम ही ज्ञान के संस्कार होंगे तो ही उस पदार्थ को वह पहचान सकेंगी । अन्यथा कांच है कि हीरा, स्वर्ण असली या नकली नहीं जान सकेगी । अब पदार्थ ज्ञान में (१) प्रकाश (२) नेत्र (३) मन (४) बुद्धि को प्रकाशित करने के लिये तुम चैतन्य साक्षी आत्मा के बिना कोई भी काम नहीं हो सकेगा । अस्तु तुम सर्व प्रकाश, स्वयं प्रकाश हो ।

अभी हमें पदार्थ ज्ञान नहीं करना है केवल यह जानना है कि हमारे नेत्र की दशा कैसी है, वह ठीक देखती है या कम देखती है । इसके लिये नेत्र के साथ मन होना चाहिये । मन के पास बुद्धि हो और बुद्धि के पास चैतन्य हो तब नेत्र का ज्ञान होगा ।

अब हमें मन को जानना है, तो उसके लिये बुद्धि व चैतन्य का होना जरूरी है ।

यदि बुद्धि को जानना हो तो केवल चैतन्यात्मा की जरूरत है ।

यदि चैतन्य को ही जानना हो तो किसी साधन की आवश्यकता नहीं है । क्योंकि तुम आत्मा सर्व प्रकाशक एवं स्वयं प्रकाश हो । तुम्हें खुद को जानने के लिये किसी साधन की जरूरत नहीं, किसी ध्यान की जरूरत नहीं है । क्योंकि सब साधन, ध्यान, समाधि तुम्हारे द्वारा ही सिद्ध होते हैं। तुम ज्ञान स्वरूप आत्मा में मन, बुद्धि तथा वाणी का प्रवेश नहीं । तुम चैतन्य अपने ज्ञान से ही सब को जानते हो ।

जैसे X-ray मशीन द्वारा खींचा गया फोटु शरीर के भीतर, मांस के भीतर छिपे रहने वाली हड्डी के ढांचे को, टूटी हुई हड्डीका या बहुत छोटा सा क्रेक को भी दर्शादेता है । इस प्रकार ज्ञान नेत्रवाला ज्ञानी शरीर, प्राण, इन्द्रिय, मन, बुद्धि तथा उनकी वृत्तियों के पीछे जो आत्म तत्त्व है वहाँ अपने को देख लेता है । ऐसी सूक्ष्म दृष्टिवाला ही ब्रह्मज्ञानी होता है ।

मैं व यह के बीच में जो सत्ता नित्य विद्यमान है, वही सच्चा मैं है । जो मैं बदलता रहता है, वह सच्चा मैं नहीं है। अखण्ड एवं नित्य मैं सर्वत्र है, जहाँ शरीर भी नहीं है । जहाँ शरीर है, वहाँ मैं हूँ यह बात तो मूर्ख भी जानता है । आप वहाँ भी है जहाँ शरीर नहीं है । वहाँ आप अस्ति, भाति, प्रिय रूप में अव्यक्त हैं एवं शरीर में आप सच्चिदानन्द रूप से प्रकट हैं । आप सदा अव्यक्त ही रहते हैं, केवल शरीर उपाधि से व्यक्त मालुम पड़ते हैं । दिखाई देने वाले में आप उसे देखो जो नहीं दिखाई पड़ता है । किन्तु सत्तारूप अधिष्ठान वही सबका एक आधार है, वही तुम हो । सब में अपने को देखो व अपने में सबको देखना यही अखण्ड ब्रह्म दर्शन है।

भगवान् के प्रति अश्रद्धा का फल पतन

कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः पृच्छामि त्वां धर्मसम्मूढचेताः ।
यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम् ।।

– गीता : २/७

कायरता रूप दोष से उपहत हुए स्वभाव वाला तथा धर्म के विषय में मोहित चित्त हुआ मैं आपसे पूछता हूँ कि जो साधन निश्चित कल्याण कारक हो, वह मेरे लिये कहिये; क्योंकि मैं आपका शिष्य हूँ, इसलिये आपके शरण हुए मुझको शिक्षा दीजिये ।

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम् ।
विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वकवेऽब्रवीत् ।। गीता : ४/१

भगवान् ने अर्जुन को उसके कल्याणार्थ कहा कि देख यह ज्ञानोपदेश जो तुझे अभी देने जा रहा हूँ, यह सृष्टि के प्रारम्भ में प्रथम मैंने सूर्य को कहा था । फिर सूर्य के बाद मनु, इक्ष्वाकु आदि अनेकों को देता चला आ रहा हूँ । यह सत्यता है, इसे असत् मन जानना । बहुत समय बीत जाने पर यह योग अप्रकट हो गया था व मैं भी बहुत काल से अप्रकट था, अब उसी योग को लेकर मैं तेरे लिये प्रकट हुआ हूँ । क्योंकि तू मेरा भक्त और प्रिय सखा है । उस पुरातन योग को आज मैंने तुझको कहा है, क्योंकि यह बड़ा ही उत्तम एवं गोपनीय है ।

अपरं भवतो जन्म परं जन्म विवस्वतः ।
कथमेतद्विजानीयां त्वमादौ प्रोक्तवानिति ।। गीता : ४/४

भगवान् के उपरोक्त वचन सुनकर अर्जुन की बुद्धि को यह बात स्वीकार नहीं हुई । अर्जुन कहता है प्रभो ! आपका जन्म तो अभी वसुदेव जी के घर देवकी के गर्भ से हुआ है और सूर्य इतना पुराना है कि जब आप भी नहीं थे । अतः आपने ही यह योग सूर्य को कहा था यह बात मैं कैसे समझूँ ?

बहूनि में व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन।
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परन्तप ।। गीता : ४/५

तब भगवान् ने कहा अर्जुन ! तेरे व मेरे अनेकों जन्म हो चुके हैं । क्योंकि जीव अनादि ईश्वर अंश होने सदा से है, केवल देह ही बार–बार बदलते आ रहे हैं । उन सब बदलाहट को तू नहीं जानता, क्योंकि तू अनात्म दृष्टि वाला है और मैं आत्म दृष्टि में सदा स्थिर रहता हूँ । इसलिये यह रहस्य को मैं जानता हूँ ।

मनुष्य में प्रायः एक कमजोरी देखी जाती है कि जब–जब भी इस लोक में कोई अवतारी महापुरुष आते हैं, तब यह उन पर विश्वास नहीं करता है । उनको साधारण मनुष्य जान अश्रद्धा, निंदा, अविश्वास करता है, किन्तु जब वे इस सृष्टि से बिदा हो जाते हैं, तब पश्चाताप करता है । फिर उनके नाम का जप, माला, मन्दिर, मूर्ति, जन्मोत्सव आदि करता है । इसी प्रकृति से अर्जुन को भी भगवान् के वचन पर विश्वास नहीं होता है ।

तभी तो कहता है कि मैं यह बात कैसे मानूँ कि आप इतने पुराने है कि सूर्य को आपने यह उपदेश दिया था ।

पार्वती का सन्देह

एक बार त्रेतायुग में शिवजी तथा पार्वती अगस्त्य ऋषि के आश्रम में पहुँचे । ऋषिने शंकर भगवान् का पूजन किया । मुनिवर अगस्त्य ने उन्हें राम कथा विस्तार से सुनाई ।

जब रावण द्वारा सीताजी का हरण कर लिया गया तब श्रीराम व लक्ष्मण दोनों सीता की खोज में व्याकुल हुए भटक रहे थे एवं श्रीराम करुण क्रन्दन करते हुए पक्षियाँ, पशुओं, लताओं, पेड़ों से पूछते जा रहे थे कि क्या तुमने मेरी पत्नी सीता को इस मार्ग से जाते देखा ।

उसी समय शंकर व पार्वती ऋषि के आश्रम से बिदा होकर जा रहे थे व उनके मन में राम कथा श्रवण करने से भगवान् श्रीराम के दर्शन की बहुत व्याकुलता हो रही थी । अन्तर्यामी भगवान् उस ओर से ही जा रहे थे ।

शंकरजी ने भगवान् श्रीराम को देख **जय सच्चिदानन्द** कह कर प्रणाम किया और प्रसन्न हुए । यह देख पार्वतीजी के मन में सन्देह हुआ कि मेरे स्वामी को तो जगत् वन्दन करता है, जो जगत् के ईश्वर हैं, देवता, मनुष्य, मुनि, तपस्वी, सिद्ध ज्ञानी, भक्त सभी इनके प्रति सिर नमन करते हैं और इन्होंने एक राज पुत्र को **सच्चिदानन्द परमधाम** कह कर प्रणाम किया । क्या एसा करना वह भी एक देह धारी मनुष्य के लिये हो सकता है ? फिर शिवजी का अनुभव भी गलत नहीं हो सकता । उनका इस प्रकार प्रणाम करना एक साधारण व्यक्ति के प्रति कभी नहीं हो सकता । यह अद्‌भुत दृश्य को देख पार्वती ने शंकरजी से पूछा कि ब्रह्म सर्व व्यापक, माया रहित, अजन्मा, अगोचर, इच्छा रहित और भेद रहित है और जिसे वेद भी नहीं जानते क्या वह देह धारण करके मनुष्य रूप होकर अज्ञानी की तरह स्त्री को खोजेंगे ?

पार्वती के संशय को जानकर शंकरजी ने कहा कि जिनकी कथा का हमारे लिये अगस्त्य ऋषि ने गान किया और उनकी भक्ति का मैंने मुनि के लिये गुणगान किया है, हे पार्वती यह वही मेरे इष्ट देव श्रीरघुवीर जी हैं । जिनकी सेवा, ध्यान ज्ञानी मुनि सदा किया करते हैं ।

पार्वतीजी ने इन मनुष्य देहधारी राजपुत्र की सच्चाई की परीक्षा लेने हेतु स्वयं ने सीताजी का रूप धारण करके उस मार्ग की ओर चल पड़ी जिस ओर से राम एवं लक्ष्मण आ रहे थे ।

निर्गुण रूप सरल अति सगुण न जानेउ कोई ।
सुगम अगम नाना चरित सुनी मुनी मन भ्रम होई ।।

श्रीरामजी ने माता पार्वती को सीता रूप देखते हुए भी हाथ जोड़कर प्रणाम किया व पूछा कि हे माताजी पिता शिवजी कहाँ है ? आप यहाँ वन में अकेली किसलिये फिर रही हैं ?

यहाँ इस घटना द्वारा यह बोध मिलता है कि शंकरजी तथा रामजी की कारण दृष्टि है, इसलिये किसी को परस्पर सन्देह नहीं हुआ एवं पार्वती की कार्य दृष्टि है । कारण में भेद नहीं होता है नाम, रूप कार्य माया का अंश होने से उसमें भेद प्रतीत होता है । इसीलिये पार्वती रामजी के रूप को देखकर भ्रमित हो गई थी ।

इसी प्रकार अर्जुन भी भगवान् को मनुष्य रूप में देख उनके वचन पर विश्वास नहीं हुआ तब भगवान् ने उसे किसी सद्गुरु के पास जाने की प्रेरणा देते हुए कहा–

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया ।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्व दर्शिनः ।। गीता : ४/३४

तू किसी श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ट सद्गुरु की शरण ग्रहण कर, उसको साक्षात् परमब्रह्म रूप जानकर प्रणाम कर, एवं पूर्ण समर्पण भाव से सेवा करते हुए अपने कल्याण के लिये उनसे निष्कपट भाव से प्रश्न करना, फिर उस अनुसार उपासना द्वारा तेरा कल्याण हो जावेगाा ?

कैसी मनुष्य की मूढ़ प्रकृति है कि जो जलते दीपक को बुझाकर फिर उससे अपने दीपक में रोशनी प्रकट करने के लिये प्रार्थना करता है। संत–महात्मा के जीवित रहते लाभ न उठाना एवं मरने के बाद उनके मूर्ति, फोटो की उपासना कर उससे ज्ञान व मुक्ति की आशा रखना मूर्खता नहीं तो और क्या कहा जायगा ?

तमेव शरणं गच्छ सर्व भावेन भारत ।
तत्प्रसादात्परां शान्ति स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम् ।।१८/६२

हे भारत ! तू सब प्रकार से उस परमेश्वर की ही शरण में जा । उस परमात्मा की कृपा से ही तू परम शान्ति को तथा सनातन परमधाम को प्राप्त होगा ।

इसलिये भगवान् ने उसे उपदेश दिया कि तू मेरे पर तो श्रद्धा कर सकेगा नहीं, क्योंकि तू मुझे एक साधारण मनुष्य तथा मित्र की तरह जन्मने वाला मानता है । अतः तू मन, वचन तथा कर्म द्वारा उस अन्तर्यामी ईश्वर की शरण ग्रहण कर जो तेरे मेरे सबके हृदय में विराजमान हैं, जो सबका संचालक है, तू उसकी शरण में चला जा, उसकी कृपा से तू परम शान्ति को प्राप्त कर सकेगा ।

उन आनन्दमय सर्वान्तरर्यामी परमात्मा की अचिन्त्य शक्ति की प्रेरणा से ही इस जगत् के समस्त प्राणियों की समस्त चेष्टाएँ हो रही है । उनके शासन में रहने वाले सूर्य, चन्द्र, विद्युत्, ग्रह, उपग्रह, आदि अपना–अपना काम न करे तो एक क्षण भी कोई प्राणी जीवित नहीं रह सकता है ।

'अथचेत्त्वमहंकारान्न श्रोष्यसि विनङ्क्ष्यसि' १८/५८

'पापमवाप्स्यसि' २/३३

हे अर्जुन ! सावधान मन से सुन ! यदि तू अहंकार वश मेरे बात नहीं सुनेगा तो तू पाप को प्राप्त होगा, तेरा पतन होगा ।

भक्तों ! सगुण साकार भगवान् के साक्षात् दर्शन करने वाला, सदा साथ रहने वाला अर्जुन की स्थिति को देख अब तो वहाँ से उठ अपने निर्गुण निराकार आत्म स्वरूप में जागो । इसके बिना कल्याण करने का कोई अन्य मार्ग नहीं है ।

देखा जाता है कि संसारी लोग अपने काम कराने के लिये डाक्टर, वकील, आफिसर, पौलिस, ड्रायवर, नोकर, प्लेन, ट्रेन, बस में पहले रुपया देते हैं । चाहे उनका काम हो या न हो परन्तु भक्त भगवान् से अपने काम प्रथम कराकर भेंट मजदूरी बाद में देते हैं । काम हो गया तो १००,

५०, २५ रुपया भेंट कर देते हैं, यदि काम नहीं हुआ तो भगवान् को मेहनत मजदूरी भी नहीं दी जाती है। एडवान्स भेंट, मजदूरी देकर तो कोई भी भक्त मन्दिर में नहीं आता है । मन्दिर जाकर बिना भेंट रुपया दिये अपने काम की अर्जी लगाकर चले आते हैं ।

'तस्य कार्यं न विद्यते'

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः ।
आत्मन्येव च सन्तुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते ।। ३/१७

जब तक मनुष्य अपना सम्बन्ध शरीर–संसार से मानता है तब तक वह अपनी रुचि, प्रीति, रति, इन्द्रियों के भोगों से एवं स्त्री, पति, पुत्र, धन, मकान से सन्तुष्टि मानता है । परन्तु इन क्षणिक नाशवान् पदार्थों से कभी तृप्ति सन्तुष्टि नहीं होती है । अग्नि में ईंधन डालने से जैसे अग्नि पूर्वापेक्षा अधिक प्रज्वलित होती है । इसी तरह अधिक भोग, धन, सम्पत्ति के लिये लोभ दिन–दिन बढ़ता है किन्तु परिणाम में उतना ही दिन–दिन दुःख ही बढ़ता है ।

जब मनुष्य अपने आत्म स्वरूप को किसी सद्गुरु की कृपा से जान लेता है और जगत् की नश्वरता एवं दुःख रूपता को अपने अनुभव से निश्चय कर वैराग्य हो जाता है तब ही उसे पूर्ण तृप्ति, सन्तुष्टि मिलती है । क्योंकि अपना आत्मा सच्चिदानन्द स्वरूप है । आनन्द घन है । प्रति रात्रि बिना विषय सभी गहरी नींद में आनन्द का अनुभव करते हैं । ज्ञानी वही निश्चय दिन में, व्यवहार में भी रखता है कि जो मैं सुखरूप सुषुप्ति के समय था वही अभी मैं जाग्रत में आनन्द स्वरूप हूँ । संसार के पदार्थ असत्, जड़ एवं दुःख रूप है, मैं आत्मा सच्चिदानन्द स्वरूप हूँ । किन्तु अनात्म देहाध्यास के कारण संसारी पदार्थों की कामना पैदा होती है, क्योंकि अभाव में ही कामना पैदा होती है । परन्तु स्वरूप में निष्कामता स्वतः सिद्ध है । वहाँ पूर्णानन्द है ।

अज्ञानी व्यक्ति किसी संसारी वस्तु या व्यक्ति की कामना सुख बुद्धि से करता तो है, परन्तु उस पदार्थ के मिल जाने से कभी सुख प्राप्ति नहीं होती है। यदि वस्तु प्राप्ति के द्वारा सुख प्राप्त हो गया होता तो उस पदार्थ व्यक्ति के रहते तक कभी दुःख नहीं होना चाहिये था । लेकिन सबका अनुभव है कि पति–पत्नी में प्रथम दिन से ही दिन–दिन सुख घटने लगता है और एक दिन ऐसा होता है कि ६३ से सम्बन्ध पलट ३६ एक दूसरे से विमुख विपरीत हो जाते हैं । एक तन, मन, प्राण से प्रीति करने वाले, ''साथी रे तेरे बिना भी क्या जीना'' का नारा लगाने वाले यहाँ तक कि एक दूसरे की हत्या तक कर देते हैं । उतना करने का साहस नहीं हुआ तो मार पीटकर घर से निकल चले जाते हैं या निकाल देते हैं ।

सुख प्राप्ति का रहस्य यह है कि वस्तु के मिलने से कामना शान्त हो जाती है एवं दूसरी कामना जब तक पैदा नहीं होती है, तब तक ही जो निष्कामता बनी रहती है, वही आनन्द प्रदायक समय रहता है । बस उतने समय तक ही आनन्दानुभूति होती है । कामना उत्पन्न होते ही दुःख का जन्म हो जाता है । किन्तु अज्ञानी व्यक्ति उस सुख को आत्म सुख अपना सुख न मान उसे वस्तु का सुख मान लेता है । निष्कामता का सुख नहीं जान पाता है ।

अज्ञानी लोग दिन रात यही सोचते रहते है कि हमारे पास जितना अधिक संसार का धन–सम्पत्ति, पद, प्रतिष्ठा होगी हम सबसे ज्यादा सुखी हो जावेंगे । परन्तु देखा जाता है कि सुषुप्ति में किंचित् भी सांसार का धन, परिवार, सम्बन्धित वस्तु न रहने पर तो ज्यादा से ज्यादा दुःखी होना चाहिये किन्तु सभी कहते हैं सुख से सोया । इससे सिद्ध होता है कि मैं वहाँ निर्वासनिक दशा में था । इसीलिये आनन्दित था एवं जाग्रत में वासना कामना से ही जीव दुःखी होता है ।

मनुष्य के लिये वेद शास्त्रों में जो भी कर्म का विधान किया गया है उसका उद्देश्य निष्कामता उत्पन्न करने के लिये ही है । ताकि वह स्वरूप का साक्षात् करने का अधिकारी बन सके ।

जब जीव कर्म, उपासना द्वारा मल–विक्षेप से रहित हो जाता है और इसके मन में ब्रह्म जिज्ञासा उदय होती है । तब यह जीव किसी सद्गुरु की शरण में जाकर अपने सच्चिदानन्द स्वरूप आत्मा को जान लेता है, तब यह जीव कृत–कृत्य, प्राप्त–प्राप्तव्य, ज्ञात–ज्ञातव्य हो जाने से वह विधि–निषेध शासन से ऊँचा उठ जाता है । अज्ञानी पर जिस प्रकार वेद आज्ञा का शासन रहता है, ज्ञानी सर्वथा उस शासन से मुक्त रहता है । फिर भी वह लोक कल्याण की दृष्टि से अपना जीवन साधारण ही रखता है । विधि निषेध के अनुसार ही वह चलता है, अन्यथा उसका अनुचित आचरण देख अज्ञानी सत पथ से भ्रष्ट हो जावेंगे ।

जनक, राम, कृष्णादि के लिये कुछ कर्तव्य कर्म नहीं था फिर भी समाज को शिक्षा देने के लिये कर्म करते रहते थे ।

नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन ।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः ।। गीता : ३/१८

उस महापुरुष का इस विश्व में न तो कर्म करने से कोई प्रयोजन रहता है और न कर्मों के न करने से ही कोई प्रयोजन रहता है । तथा सम्पूर्ण प्राणियों में भी इसका किञ्चिन्मात्र भी स्वार्थका सम्बन्ध नहीं रहता ।

कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः ।
लोकसङ्ग्रहमेवापि सम्पश्यन्कर्तुमर्हसि ।। गीता : ३/२०

जनकादि ज्ञानीजन भी आसक्ति रहित कर्मद्वारा ही परम सिद्धि को प्राप्त हुए थे । इसलिये लोक संग्रह को देखते हुए भी तू कर्म करने के ही योग्य है अर्थात् तुझे कर्म करना ही उचित है ।

क्योंकि अनासक्ति से रहित होकर मनुष्य कर्तव्य कर्म करते हुए भी अपने जीवन का कल्याण कर सकता है ।

यह बात तो ठीक है कि अन्तःकरण की शुद्धि हेतु निष्काम कर्म तथा चित्त की एकाग्रता हेतु उपासना जरूरी है, क्योंकि शुद्ध एवं स्थिर

अन्तःकरण में ही ज्ञानोदय होता है । चंचल एवं मलिन अन्त:करण में ज्ञान उदित नहीं होता है । अतः कर्म और उपासना का ज्ञान की उत्पत्ति में तो उपयोग है, किन्तु ज्ञान कि उत्पत्ति के बाद जिज्ञासु को श्रवणादिक के विरोधी ऐसे कर्म व उपासना का त्याग ही करना चाहिये । हाँ, जब तक अन्तःकरण में मल तथा विक्षेप दोष है तब तक तो कर्म, उपासना करना चाहिये । मल दोष नाम पाप का है और वह अशुभ वासना का हेतु है । जहाँ तक मल दोष होगा वहाँ तक मन में अशुभ वासना भी बनी रहेगी । जब पुरुष पूर्व या इस जन्म में निष्काम कर्म कर लेता है तो उसके मन से अशुभ वासना निकल जाती है । तब यह जान लेना चाहिये कि मल दोष निवृत्त हो गया है – अब कर्मों में अधिकार नहीं है । फिर उपासना द्वारा जब चित्त एकाग्र होकर आत्मा को जानने की इच्छा का उदय हो जावे तो उपासना से भी अब उसका कुछ प्रयोजन नहीं रहा । क्योंकि उपासना का फल, आत्मा को जानने की इच्छा, वह तो हस्तगत है ही । ऐसे जिज्ञासु को ज्ञान में ही श्रद्धा बढ़ानी चाहिये न कि ज्ञान के विरोधी कर्म – उपासना में ।

फिर अन्तःकरण की जो ब्रह्माकार वृत्ति वेदान्त के श्रवण के फलरूप उत्पन्न हुई है, उस वृत्ति का कर्म एवं उपासना से रक्षण भी नहीं हो सकता । क्योंकि जिस समय जिज्ञासु कर्म, उपासना का अनुष्ठान करना चाहेगा उस समय उसकी प्रथम ब्रह्माकार अद्वैत वृत्ति ''सर्व ब्रह्म है'' जो चल रही थी उसे छोड़ कर ही दूसरी द्वैत वृत्ति कर्म, उपासना वाली उदय होगी कि मैं कर्म भक्ति का कर्ता हूँ व मुझसे भिन्न अन्य कोई देवता फल दाता है । तब अखंड सोऽहम्, शिवोऽहम् ब्रह्म ज्ञान उस वक्त नहीं रह सकेगा । क्योंकि जब दूसरी वृत्ति उत्पन्न होती है तब प्रथम वृत्ति स्वत: लय हो जाती है, यह सबका अनुभव सिद्ध है ही । इस वास्ते कर्म व उपासना क्रम समुच्चय से याने परम्परा से तो ज्ञान में सहायक है किन्तु उत्पन्न हुई ब्रह्माकार वृत्ति के विरोधी है । इसलिये कर्म – उपासना से ज्ञान का रक्षण नहीं हो सकता ।

कर्म में वे ही लोग प्रवृत्त होते है जो अपने आत्मा को देह से भिन्न किन्तु कर्ता–भोक्ता रूप से जानते हैं कि मैं पुण्य–पाप का कर्ता हूँ और

पुण्य– पाप का फल मरने पर स्वर्ग–नरक में मुझे मिलेगा । ऐसा जिसको विपरीत ज्ञान होगा वही परलोक में भोग की कामना रख कर्म करेगा । ज्ञानी पुरुष को आत्मा के सम्बन्ध में ऐसा विपरीत ज्ञान नहीं होता है। बल्कि पुण्य–पाप और सुख–दुःख से रहित उनका साक्षी, असंग जन्म–मरण से रहित अविनाशी ब्रह्म रूप अपना स्वरूप है ऐसा वेदान्त वाक्य से उसे निश्यय होता है। यह कर्म, उपासना ज्ञान का हेतु नहीं बल्कि विरोधी है । इसलिये ज्ञानवान् कर्म नहीं करता, क्योंकि कर्ता, कर्म और फल आत्मा से भिन्न है ऐसी विपरीत बुद्धि ज्ञानी की नहीं होती है । उसको तो समस्त आत्मा रूप ही प्रतीत होता है । इस प्रकार ज्ञानी कर्म में प्रवृत नहीं होता फिर कर्म का फल अनित्य संसार है और ज्ञान का फल नित्य मोक्ष है । कर्ता और कर्म फल भेद ज्ञान का हेतु है और भेद ज्ञान भय का हेतु है और ज्ञानी को कर्म का अभाव श्रुति में अनेक जगह प्रतिपादित किया है।

फिर आत्मा में ब्राह्मणादिक जाति का, ब्रह्मचारी आदिक आश्रम का और जाग्रत, स्वप्नादिक अवस्था का अध्यास होने से ही अज्ञानी मनुष्य कर्तव्य मानकर कर्म में प्रवृत्त होता है । क्योंकि वेद में अमुक जाति, आश्रम एवं अवस्था के भेद से भिन्न – भिन्न कर्म करने का विधान किया है । ज्ञानी को देह में आत्मबुद्धि नहीं होने से वह कर्म में प्रवृत्त नहीं होता है । **न धर्मो न चार्थो न कामो न मोक्षः चिदानन्द रूप शिवोऽहं शिवोऽहं ।**

देह से भिन्न कर्ता रूप से आत्मा का भान ही कर्म का हेतु है किन्तु आत्मा का कर्ता रूप ज्ञान, भ्रान्ति रूप है और विद्वान् को भ्रान्ति अज्ञानी की तरह आत्मा में नहीं होती है । इस वास्ते ज्ञानी को कर्म करने में कर्तव्यता नहीं है ।

दूसरी बात जब देह में आत्मबुद्धि याने देह मैं हूँ ऐसी अपरोक्ष बुद्धि हो तब ही देह के धर्म, जाति, आश्रम, अवस्था की प्रतीति आत्मा में होती है, किन्तु ज्ञानी को देह में आत्म–बुद्धि नहीं बल्कि ब्रह्मरूप से आत्मा का अपरोक्ष ज्ञान है । इस वास्ते देह, जाति, आश्रम सम्बन्ध में अहंबुद्धि नहीं होने से उसकी कर्म में कर्तव्यता (अधिकार) नहीं है ।

तीसरी बात यह है कि उपासना करने में ''मैं उपासक हूँ, देव उपास्य है'' इस प्रकार की भेदबुद्धि से ही उपासना हो सकती है । लेकिन ज्ञानी को ऐसी उपास्य - उपासक-भाव की भेद -प्रतीति नहीं होती । ज्ञानी पुरुष का तो निश्चय ऐसा होता है कि देहादिक समुदाय तो मेरा तथा ब्रह्मलोक के देवता तक का कल्पित ही है और चेतन अंश तो देव, मनुष्य, कीट, पतंग समस्त में एक समान ही है। इस वास्ते ज्ञान के साथ उपासना का विरोध है ।

'तस्य कार्यं न विद्यते' का अभिप्राय यह न समझें कि उसके अपने दैनिक कार्य, जीविका के कार्य खेती, व्यापार, नौकरी, मजदूरी, गृहस्थ कार्य, परिवार पालन, सामाजिक व लोक कल्याण के कार्य ज्ञानी पुरुष के द्वारा नहीं होंगे । ज्ञानी सब कुछ का कर्ता होकर भी अकर्ता ही होता है ।

यहाँ कुछ लोग तर्क करते हैं कि जब शेष सभी काम करते हैं, तो पूजा-पाठ भी हमें अवश्य करना चाहिये । देखिये प्रारब्ध अनुसार जीविका हेतु तो जीवन पर्यन्त कर्म करना होगा अन्यथा जीवन निर्वाह, परिवार पालन कैसे होगा ? अतः जीवन निर्वाह के कर्म तो अनिवार्य रूप से करना है, परन्तु माला, पूजा, तीर्थ मन्दिर द्वारा मुक्ति निर्वाह के लिये किसी प्रकार का कर्तव्य नहीं **'तस्य कार्यं न विद्यते'** है । कोई दृढ़ ज्ञानी लोगों को शिक्षा देने के लिये यदि कर्म, उपासना करना चाहे तो उसके लिये विधि-निषेध नहीं है किन्तु मन्द ज्ञानी के लिये तो वेदान्त तत्त्व का ही एक मात्र श्रवण, मनन, निदिध्यासन करना ही कर्तव्य है । यदि वह मंत्र, माला, पूजा, पाठ तीर्थ, मन्दिर आदि करता रहेगा तो उसका अद्वैत ज्ञान, ब्रह्म ज्ञान, सोऽहम् ज्ञान, शिवोऽहम् ज्ञान दृढ़ नहीं होगा ।

अतः मोक्ष के जिज्ञासु के लिये सकाम कर्म, उपासना का त्याग ही कर्तव्य है ताकि वेदान्त ज्ञान उसे दृढ़ हो सके और वह देह भाव व कर्ता भाव से मुक्त हो सके । इसलिये आत्मनिष्ठ महापुरुषों के लिये एवं मुमुक्षुओं के लिये कर्म-उपासना हेतु कोई विधि-निषेध कर्तव्यता नहीं है । क्योंकि वे अपने कर्तव्य तथा अकर्तव्य को भली भाति समझते हैं ।

प्रायः साधकों को प्रमाणगत, प्रमेयगत तथा विपर्यय सन्देह रहता है । जिसे शास्त्र विषय के प्रति सन्देह है, उसे शास्त्र श्रवण करना चाहिये । जिसे प्रमेय अर्थात् जीव ब्रह्म की एकता में सन्देह है, उसे मनन साधन करना चाहिये । तथा जिसे अपने प्रति देह भाव एवं परमात्मा के प्रति अन्य भाव है उसे अपनी विपर्यय बुद्धि की निवृत्ति के लिये उसे निदिध्यासन करना कर्तव्य है ।

ज्ञानी को शास्त्र प्रमाण में सन्देह नहीं, तब वह श्रवण क्यों करे ?

दृढ़ ज्ञानी को जीव ब्रह्म की एकता में सन्देह नहीं है, तब वह मनन क्यों करे ?

जब अपने द्रष्टा साक्षी आत्म स्वरूप का दृढ़ बोध हो चुका है तब उसे निदिध्यासन करने की क्या जरूरत ? इसीलिये उस आत्म बोध में दृढ़ हुए ज्ञानी के लिये कहा है **'तस्य कार्यं न विद्यते'** ज्ञानी के लिये कुछ साधन करना कर्तव्य नहीं है ।

वेदान्त में क्रम समुच्य माना है किन्तु सम समुच्य नहीं माना गया है । कर्म, उपासना, ज्ञान एक साथ करना सम समुच्य है एवं मल, विक्षेप, आवरण दोष को दूर करने हेतु प्रथम कर्म द्वारा मल दोष दूर करें फिर भक्ति द्वारा विक्षेप दोष दूर करें व अन्त में आवरण दोष को दूर करने हेतु ज्ञान साधन करें । जो तीनों दोषों से मुक्त हो गया है, उस दृढ़ ज्ञानी के लिये किसी प्रकार के साधन करने की कर्तव्यता नहीं है ''**तस्य कार्यं न विद्यते**''

ब्रह्मज्ञान **'अहं ब्रह्मास्मि'** रूप अद्वैत भावना से होता है । कर्म, उपासना द्वैत भाव से सम्पन्न होते हैं कि मैं कर्म का कर्ता हूँ व मुझ से भिन्न कोई भगवान् मेरे कर्म का फल दाता है इस प्रकार एक अन्तःकरण में परस्पर विरोधी भाव नहीं रह सकते । जैसे एक ही बर्तन में, स्थान में अग्नि व पानी साथ नहीं रख सकते, क्योंकि परस्पर विरोधी धर्म वाले हैं ।

'मेरा भक्त हो तो ऐसा'

ज्ञानी जानता है कि परमात्मा एक अखण्ड सत्ता होने से सर्व देश में, सर्वकाल में तथा सर्वरूप होने से यहाँ परमात्मा से भिन्न अन्य किञ्चित् भी कुछ अन्य नहीं है । जैसे चीनी के बने सभी खिलौने के रूप में चीनी ही एकमात्र है । इसी प्रकार एक ब्रह्म से उत्पन्न सृष्टि ब्रह्म मात्र ही है ।

साधकों को ऐसा विश्वास रखना चाहिये कि परमात्मा सर्वव्यापक है तो यहाँ भी है, नित्य है तो सब समय है, अभी भी है । अणु–अणु सब रूप में है, तो मेरे रूप में भी वही है । अतः जब मैं उठता हूँ तो परमात्मा ही उठता है । जब मैं चलता हूँ तो परमात्मा ही चलता है । जब मैं देखता हूँ तो परमात्मा ही देखता है । जब मैं सुनता हूँ तो परमात्मा ही सुनता है । जब मैं बोलता हूँ तो परमात्मा ही बोलता है । जब मैं खाता हूँ तब परमात्मा ही खाता है । जब मैं सोता हूँ तो परमात्मा ही सोता है । जब मैं उठता हूँ तो परमात्मा ही उठता है । क्योंकि उसकी सत्ता के बिना तो पत्ता भी नहीं हिलता । यदि वह न उठे तो कोई उठ भी नहीं सकता उसके बिना सभी शरीर शव मात्र है और वही एक शिव रूप है । अतः सभी क्रियाएँ उसीसे होती है । ऐसी निष्ठा रखना ही भगवान् की अनन्य भक्ति है ।

अथवा मैं जिसको भी देखता हूँ परमात्मा को ही देखता हूँ, मैं जब भी जो भी कुछ देता हूँ तो परमात्मा को ही देता हूँ । मैं जब भी मधुर या कटु बोलता हूँ, परमात्मा से ही बोलता है । मैं जब भी खिलाता हूँ परमात्मा को ही खिलाता हूँ । मैं जब भी नमस्कार करता हूँ तो परमात्मा को ही नमस्कार करता हूँ । क्योंकि यहाँ परमात्मा के सिवा अन्य कोई नहीं है

'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' ऐसा अकाट्य सत्य कथन है । इस कारण मेरा शरीर भी परमात्मा का है और तब मेरी क्रियाएँ परमात्मा की ही क्रियाएँ हैं । उसका ही सब समय, चिन्तन हर क्रियाओं के रूप में हो रहा है ।

परमात्मा की भक्ति अनन्य तभी हो सकती है । जब परमात्मा को मैं रूप में स्वीकार कर लिया जाय । क्योंकि हर प्रकार के चिन्तन में चाहे अनुकूल हो या प्रतिकूल उसमें मैं का होना सर्व प्रथम है । मैं के बोध के बिना यह, वह किसी का ज्ञान नहीं हो सकेगा । भक्त परमात्मा की कल्पना किसी वैकुण्ठ, सत लोकादि में करता है एवं किसी मुरली, धनुष, त्रिशूलधारी के रूप विशेष में मान कर कल्पित चित्र या मूर्ति को ही परमात्मा मान भक्ति करता है ।

अथवा मन को एकाग्र कर जो भगवान् की भक्ति करता है, वह मूर्ति भी मन के एकाग्रता एवं चिन्तन पर आधारित है । यदि मन एकाग्र नहीं है तो ध्यान में वह मूर्ति प्रकट नहीं होगी । तब तो भगवान् का ध्यान, चिन्तन मन के आधीन होगया । वह नित्य अचिन्त्य परमात्मा कभी ध्यान का विषय नहीं हो सकता । क्योंकि मन स्वयं चंचल विकारी एवं जड़ है । सुषुप्ति में मन अज्ञान सहित आत्मा में लीन हो जाता है, अतः मन से उत्पन्न परमात्मा भी अनित्य होगा । नित्य तो वही है, जिसके आधीन मन, बुद्धि हैं एवं जो मन, बुद्धि को जानता है तथा जिसकी शक्ति का अंश पाकर यह मन, बुद्धि अपना कार्य करने में समर्थ होते हैं ।

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामे वैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः ।। गीता : ९/३४

'मद्भक्तः'– 'मेरा भक्त होजा' कहने का तात्पर्य है कि तू केवल मेरे साथ ही अपनापन कर, केवल मेरे साथ ही सम्बन्ध जोड़ जो कि अनादिकाल से अंशी–अंश का नित्य सम्बन्ध बना हुआ ही है । केवल भूल से ही जीव ने इस अनात्म देह, मन, बुद्धि, के साथ तादात्म्य कर मेरी तरफ से अर्थात् अपने द्रष्टा, साक्षी, आत्म स्वरूप से दृष्टि हटा, दृश्य

शरीर संसार की ओर दृष्टि करली है । अतः उसे उस ओर से मोड़ कर अब पुनः मेरी तरफ याने अपने द्रष्टा आत्मा की ओर लगा ।

हे आत्मन् ! भूल से तूने जो अपने को नाम, रूप, जाति, आश्रम आदि असत् पदार्थों में अहंता तथा ममता का सम्बन्ध मान रखा है, उसे वहाँ से विच्छेद कर और अपने सत्, चित्, आनन्द स्वरूप में ही सच्ची अहंता कर कि हे आत्मदेव ! तुम मेरे हो और मैं तुम्हारा हूँ । इस प्रकार अद्वैत भावना कर जिससे तेरा मुझ परमात्मा के साथ स्वाभाविक प्रेम हो जावेगा ।

'मन्मना भव'– तेरा मेरा अखण्ड सम्बन्ध है, किन्तु तू दृश्य में आसक्त हो अपने द्रष्टा, साक्षी आत्म स्वरूप को भूल गया है उसकी पुनः स्मृति कर आत्मा में ही मन वाला हो अर्थात् मैं आत्मा हूँ ऐसा भाव कर ।

'मद्याजी'– मेरा पूजन करने वाला हो । अर्थात् तू जो कुछ अभी तक अपने को देह मानकर खाना–पीना, उठना–चलना, जाना–आना, काम–धन्धा, सोना–जागना, लेना–देना आदि क्रियाएँ करता आ रहा था वह सब कुछ मेरे द्वारा हो रही है, ऐसा विचार करने से मेरी पूजा स्वतः बिना प्रयास के हो जायेगी, उन समस्त सब क्रियाओं को मेरे प्रति किया हुआ जान ।

'कहऊँ भक्ति पथ कवन प्रयासा । जोग न जप तप मख उपवासा'

'मां नमस्कुरु'– 'मेरे को नमस्कार कर' कहने का तात्पर्य है कि सब जीवों के रूप में मुझे ही विचार नेत्र से सब ओर देख और फिर जो भी अनुकूल, प्रतिकूल या सामान्य व्यवहार औरों के द्वारा प्राप्त हो उसमें मेरा ही विधान जानकर प्रसन्नता से स्वीकार कर, उसमें अश्रद्धा न कर, न बदले की भावना कर ।

'मामेवैष्यसि''– 'मेरे परायण हो' कहने का तात्पर्य तू फिर मेरे को ही प्राप्त होगा । जब तू मेरे समर्पित हो गया तो तेरा अन्तःकरण,मन, बुद्धि भी मेरे समर्पित हो गया । तो अब मेरा कहने को तेरे पास कुछ भी

शेष नहीं रहा । समस्त अहंता–ममता मेरे साथ जुड़ गई तो तू मुझको ही प्राप्त होगया । क्योंकि तेरी सभी क्रियाएँ और पदार्थ जो कुछ तूने अज्ञानता से अपने मान रखे थे, अब वे सब मेरे अर्पित हो जाने से मेरे हो गये । अब न तेरा कर्म रहा न फल, तू मुक्त हो गया । जन्म–मरण तो कर्ता होकर कर्म करने वाले का ही होता है ।

'युक्त्वैमात्मानम्' – अपने आप को मेरे में लगाकर कि मैं परमात्मा का हूँ इस प्रकार शुद्ध मन, निष्कपट भावसे जब मेरा हो गया तब तो तेरे शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि क्रियाएँ सबके–सब मेरे में ही लग जायँगे । इसी का नाम सच्ची शरणागति है । ऐसी अनन्य भक्ति होने से निश्चित मेरी ही प्राप्ति होगी ।

'मत्परायणः' – मैं परमात्मा का हूँ, इस प्रकार भगवान् का भक्त बनने से भगवान् के साथ अपना पन करने से और देह संघात् से अहंता–ममता का त्याग देने से साधक में बहुत जल्दी परिवर्तन हो जाता है । जो भगवान् का हो जाता है, फिर कोई भी कार्य एवं पदार्थ उसके नहीं रहते हैं । और फिर न शरीर, मन–बुद्धि उसके रहते हैं ।

तात्पर्य यह है कि लौकिक दृष्टि में जो अपने कहलाने वाले पदार्थ धन, सम्पत्ति, परिवार आदि में अहंता कर रखी थी उनमें से कोई भी चीज अपनी नहीं है जो कि उत्पन्न और नष्ट होने वाली है । स्वयं को परमात्मा का मान लेने से सभी चीज परमात्मा की ही हो जाती है ।

अज्ञानी को अद्वैत ज्ञान व भक्ति में भेद दिखता है किन्तु यह उपरोक्त वर्णन से स्पष्ट ज्ञात हो जाता है कि एक सिद्धान्त का दो तरह से उपदेश किया जा रहा है । भक्त चाहे अपने को भगवान् रूप जाने या ज्ञानी अपने को ब्रह्म रूप जाने एक ही बात है ।

क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम् ।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते ।।

गीता : १२/५

उन सच्चिदानन्दघन निराकार ब्रह्म में आसक्त चित्त वाले पुरुषों के साधन में परिश्रम विशेष है; क्योंकि देहाभिमानियों के द्वारा अव्यक्त विषयक गति दुःख पूर्वक प्राप्त की जाती है ।

लेकिन जो भक्त, भगवान् के किसी विशेष नाम, रूप में आसक्त हो चुके हैं उनके लिये मैं भगवान् हूँ, ऐसा मानना कठिन होता है किन्तु ज्ञानी नाम रूप को असत् जानने से वह किसी रूप में आसक्त नहीं होता इसलिये एकत्व भाव भक्त के लिये देहाभिमान के कारण करना कठिन है । वही एकत्व भाव ज्ञानी के लिये सहज है ।

मुक्ति के द्वार

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत् ।। १६/२१

जब संसार को सत्य एवं सुख बुद्धि रूप मानलिया जाता है, तब ही उसे पाने के लिये व्यक्ति कामना करता है । प्राप्त हो जाने पर लोभ उत्पन्न होता है, तथा इच्छित पदार्थ के पाने में जो रुकावट होती है, उसे हटाने के लिये बल का प्रयोग किया जाता है । विरोधी व्यक्ति पर क्रोध प्रकट किया जाता है । फिर भी न हटने पर मार काट तक किया जाता है । इसलिये उसका परमार्थ पथ से पतन हो जाता है । वही काम, क्रोध, लोभ मनुष्य को नरक तरफ ले जाने वाला है ।

ध्यायतो विषयान्पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते ।
सङ्गात्सञ्जायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते ।। २/६२

विषयों का चिन्तन करने वाले पुरुष की उन विषयों में आसक्ति हो जाती है, आसक्ति से उन विषयों की कामना उत्पन्न होती है और कामना में विघ्न पड़ने से क्रोध उत्पन्न होता है ।

क्रोधाद्भवति सम्मोहः सम्मोहात्स्मृतिविभ्रमः ।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ।। २/६३

क्रोध से अत्यन्त मूढ़ भाव उत्पन्न हो जाता है, मूढ़ भाव से स्मृति में भ्रम हो जाता है, स्मृति में भ्रम हो जाने से बुद्धि अर्थात् ज्ञान शक्ति का

नाश हो जाता है और बुद्धि का नाश होने से यह पुरुष अपनी स्थिति से गिर जाता है ।

यह काम, क्रोध, लोभ, मोह परमात्मा की दी गई दिव्य शक्ति है । इन्हीं शक्ति से सृष्टि की उत्पत्ति पालन एवं संहार क्रिया होती है । जैसे जीव कल्याण के लिये परमात्मा ने बिना मांगे उसे श्रोत्र, त्वचा, चक्षु, जिह्वा, घ्राण यह पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ वाक्, पाणि, पाद, लिङ्ग, गुदा यह पाँच कर्मेन्द्रियाँ और मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार प्रदान किये । यह सब करण जीवन निर्वाह हेतु कर्म करने के साधन है । इन करणों से उचित् काम करने के लिये काम, क्रोध, लोभ, मोह यह दिव्य शक्ति प्रदान की है । जैसे बिजली द्वारा सभी यन्त्र–मशीन चलती है, बिना बिजली के किसी प्रकार के यन्त्र नहीं चल पाते हैं । इसी प्रकार इन काम, क्रोध, लोभ, मोह, शक्ति के सदुपयोग द्वारा ही जीव का मोक्ष, उन्नति होती है तथा इन शक्तियों का दुरुपयोग करने से नरक की प्राप्ति होती है । शक्ति का नाश किसी प्रकार भी किसी के द्वारा नहीं होता है । शक्ति का हम रूपान्तर अवश्य कर सकते हैं । इन्हीं शक्तियों द्वारा हम बन्धन एवं मुक्ति भी प्राप्त कर सकते हैं ।

जैसे ताला चाबी द्वारा बन्द होता है एवं उसी चाबी से खोला जाता है । जिस रास्ते से घर से बाहर जाते हैं, उसी रास्ते से पुनः घर लौटते हैं । जिस सीढ़ी से नीचे उतरते हैं, उसी सीढ़ी से ऊपर चढ़ते हैं । इसी प्रकार जो काम, क्रोध, लोभ, मोह, रूप शक्ति दुरुपयोग करने से नरक के द्वार रूप है और वही शक्ति परमात्मा की और ले जाने में, मुक्ति प्राप्त करने में भी सहयोगी है । उनके बिना लोक अथवा परलोक, पाप तथा पुण्य, स्वर्ग तथा नरक, बन्ध तथा मोक्ष की कल्पना भी नहीं हो सकती ।

अतः कामना करो तो अपने कल्याण की, क्रोध करो तो आलस्य एवं दुर्गुणों पर, लोभ करो तो सत्संग मुक्ति का एवं मोह करे तो आत्मामें, सद्गुरु में तो काम, क्रोध, लोभादि सभी शुभ एवं कल्याणकारी हो जाते हैं ।

काम, क्रोध, लोभ, मोह को जीवन का शत्रु समझकर इनके त्याग करने की निरन्तर चेष्टा करने वाले साधकों से निवेदन है कि तुम इतिहास, पुराण का अवलोकन करके तो देखो कि शरीर रहते–रहते आजतक क्या कोई इन्हें त्याग सका ?

यह नियम है कि धर्मी, धर्म का नित्य सम्बन्ध रहता है । धर्म को उसके धर्मी से पृथक् नहीं कर सकेंगे । क्या अग्नि रहते उष्णता, चीनी रहते मधुरता, बर्फ रहते शीतलता दूर की जा सकेगी ? तब क्या शरीर कार्य के रहते उसके कारण आकाश, वायु, तेज, जल, पृथ्वी इन पंच भूतों का त्याग हो सकता है ? इसी तरह आकाश,वायु, तेज, जल, पृथ्वी से बने शरीर के रहते उनके पच्चीस तत्त्व काम, क्रोध, लोभ, मोहादि को उनसे हटाया नहीं जा सकेंगे ? किसी एक भूत के कम होने पर शरीर गिर जावेगा । इसलिये जब शरीर के रहने के लिये आकाश का होना जरूरी है तब उसके धर्म शोक, काम, क्रोध, मोह, भय भी उसके साथ अवश्य रहेंगे । क्योंकि धर्मी धर्म का नित्य सम्बन्ध है ।

अब विचार करें कि यदि राम के जीवन में यह चारों न होते तो वे रावण को मारकर लंका को ध्वंस करके, सीता को लेकर अयोध्या राज्य की बाग डोर सम्भाल पाते एवं लव–कुश के जन्म दे पाते ? कभी नहीं ।

अब अपने जन्म का विचार करे या राम, कृष्ण, ध्रुव, प्रह्लाद, गार्गी, मैत्रेय, जनक, दशरथ, भीष्म, अर्जुन, द्रौपदी, कुन्ती आदि के जन्म कैसे हुए ? क्या उनका हमारा जन्म, उनके हमारे पिता–माता के मन में बिना काम वासना के उत्पन्न हो सके या काम इच्छा के द्वारा हुए ? यदि काम बुरा या पाप रूप माना जाय तो यह अपराध कर्म के लिये उन सबके पिता–माता को अपराधी, पतित मानना होगा, जिन्होंने काम वासना कर सन्तान उत्पत्ति की । प्रत्युत् उन्होंने काम क्रिया द्वारा ऐसे महान् अवतारी महापुरुष एवं शक्तिशाली वीर योद्धाओं को जन्म दिया जिन्होंने अपने कल्याण के साथ पृथ्वी के करोड़ों जीवों के उद्धार का मार्ग भी खोल गये ।

हमारे मन में भी काम न होता तो जीवन निर्वाह हेतु किसी प्रकार का साधन नहीं कर पाते । हमारे घर में से, जेब से कोई सामान, सम्पति, धन, अलंकार छीन लेने वाले के प्रति, उठा ले जाने वाले चोर के प्रति हम क्रोध कर, मारकर अपने धन, इज्ज़त को बचा न पाते । कोई हमारी पत्नी को, हमारे से छीन, पकड़, खींच, घसीट कर ले जाता तो हम उस पर क्रोध, मार पीट न करते तो उसे रोक भी नहीं पाते और उसकी रक्षा भी नहीं कर पाते । लोभ न होता तो अपने जीवन निर्वाह का साधन नोकरी, व्यापार, खेती, मजदूरी न कर पाते । मोह न होता तो पति–पत्नी बीमार बूढ़े या छोटे बच्चे की सेवा नहीं कर पाते । अपने घर से बाहर जाकर पुनः घर लौट नहीं पाते ।

यह जीवनाधार अनिवार्य शक्ति है जिसका त्याग स्वयं ऋषि, मुनि, योगी, श्रीराम, कृष्णादि भी नहीं कर सके । उनके जीवन में भी काम, क्रोध, लोभ, मोहादि शक्तियों का प्रयोग स्पष्ट देखा जाता है, मगर उनकी क्रियाँ लीला कही जाती है । इसलिये ज्ञानी महापुरुष के कर्म बन्धन रूप नहीं होते हैं । अज्ञानी खेल को भी क्रिया मान लेते हैं । इसलिये कर्म में कर्तापन ही हमारे बन्धन का कारण है, कर्म बन्धन रूप नहीं ।

न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत् ।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः ।। गीता : ३/५

निःसन्देह कोई भी मनुष्य किसी भी काल में क्षणमात्र भी बिना कर्म किये नहीं रहता; क्योंकि सारा मनुष्य समुदाय प्रकृति जनित गुणों द्वारा परवश हुआ कर्म करने के लिये बाध्य किया जाता है ।

यदि कर्म करना ही बन्धन रूप होता तो कोई भी जीव कभी मुक्त नहीं हो पाता, क्योंकि कोई भी जीव एक क्षण को भी कर्म किये बिना नहीं रह सकता ।

अतः यह परमात्मा की दी गई दिव्य अनिवार्य शक्ति का हमें उचित उपयोग कर अपना एवं दूसरों का कल्याण करना चाहिये । केवल पशुओं

की तरह आहार, निद्रा, भय तथा मैथुन जैसे कर्मों में ही जीवन को नष्ट कर नरक का मार्ग न खोलें । प्रत्युत् सद्‌गुरु की शरण में जाकर अपने कल्याणार्थ इन, काम, क्रोध, लोभ, वृत्ति से अपना परम कल्याण प्राप्त करें ।

पुण्य-पाप कैसे करे ?

यदि आप पाप कर्म या पुण्य कर्म को सबके सामने प्रकट करदो तो वह पाप–पुण्य कर्म निष्फल हो जावेंगे । पुण्य करो, दान करो और उस पर अपने नाम की तख्ती लगादें या अखबार में छपवादें या पाप कर्म बता दें तो तत्काल ही उसका फल लोगों से प्रशंसा रूप में मिलकर समाप्त हो जाता है । क्योंकि प्रकट करने से उस कर्म के फल स्वरूप आपकी प्रशंसा, यशगान अथवा निन्दा औरों द्वारा मिलने लगेगी फिर वह कर्म संचित् में जमा होकर भविष्य में फल देने के लिये, सुख–दुःख देने के लिये खड़ा नहीं हो सकेगा ।

महाभारत में राजा ययाति की कथा प्रसिद्ध है । इसने अनेको यज्ञ, दान, तप, गोशाला, अन्नक्षेत्र, धर्मशालाएं, अस्पताल, गाय दान, स्वर्ण दान कुआँ, तालाब निर्माण कर पुण्य कर्म से स्वर्ग में इन्द्रपद पर बैठने का अधिकार प्राप्त कर लिया था। जब ययाति स्वर्ग पहुँचा तब इन्द्र ने बहुत जोरदार ढंग से उसकी प्रसंशा एवं स्वागत किया व इन्द्रपद पर उसे विराजित किया । इन्द्र नहीं चाहता था कि ययाति उसकी जगह इन्द्रपद पर बैठे। इन्द्रपद से ययाति को गिराने के लिये पूर्व इन्द्र ने ययाति के सम्मुख हाथ जोड़ देव सभा में उसके पुण्य कर्मों का यशोगान प्रारम्भ किया ।

हे राजन् । आपने अनेक स्वर्ण मोहरों का दान किया । स्वर्ण मंन्डित सीग वाली गाय का दान किया, अनेक धर्मशाला, भोजनालय, औषधालय, मन्दिर, कुएँ, तालाब का निर्माण किया, गरीबों को अन्न दान,

वस्त्र दान किया, कन्याओं की शादि करवाई, विद्यालय खोले इस प्रकार अनेक परोपकारी धार्मिक कार्य किये जिससे आपके राज्य में कोई भूखा, गरीब, रोगी व निरक्षर व्यक्ति नहीं रह सका । आप महान पुण्यशाली भगवान् नारायण रूप हो ।

इस तरह राजा के किये हुए एक–एक पुण्य कर्मं का वर्तमान इन्द्र के सम्मुख भूतपूर्व इन्द्र खड़े, खड़े, वर्णन करते गये और ययाति इन्द्र पद पर बैठे अहंकार में फूलते हुए गर्दन हिलाकर स्वीकार करता गया कि हाँ मैं इस प्रकार महान दानी हूँ। इस तरह राजा के तमाम पुण्य कर्मों का वर्णन पूरा हुआ और राजा ययाति से भूत पूर्व इन्द्र ने कहा कि महाराज ! अब आप इन्द्र पद से नीचे उतर आइये, क्योंकि आपके सभी पुण्य कर्म जाहिर होने से समाप्त होगये हैं क्योंकि आपने उन्हें प्रसन्नता से सबके सम्मुख गर्दन हिलाकर स्वीकार करते गये । जिसके फल स्वरूप धर्म सभा में बैठे देवी–देवताओं के द्वारा आपके नाम की जय जय कार ध्वनी गूंजती चली गई । अब आपका इन्द्र पद पर बैठने का अधिकार भी समाप्त हो गया । आपके गुणगान होने से वही आपके पुण्यों का फल था जो आपको मिल गया । इस प्रकार वे सभी पुण्य कर्म तात्कालिक फल देकर समाप्त हो गये । अब वे कर्म संचित् कर्मों में न जा सकेंगे और प्रारब्ध बन कर भविष्य काल में भोगने के लिये खड़े नहीं हो सकेंगे ।

इसी तरह पाप कर्म भी प्रकट करदे कि मैंने अनेकों के घर की चोरी की, अनेको कुंवारी कन्याओं के साथ, अनेकों स्त्रियों के साथ सम्भोग किया तो वे तत्काल तिरोहित हो जावेंगे । मैंने वैश्याओं के साथ कई राते बिताई, शराब पी, मांस, अंडा खाया सरमें जितने बाल हैं उतने पाप कर्म किये ऐसा जाहिरात बड़े–बड़े सन्तों ने प्रकट किया । महात्माजीने, जाईजा ठक्कर बाबा, भीखू अखण्डानन्द ने अनेक स्त्रियों के साथ मैथुन किया ऐसा अपने जीवन कथा में हिम्मत पूर्वक निखालस निर्मल भाव से वर्णन किया है और वे पाप कर्म का पश्चाताप करके उनके अशुभ कर्म से मुक्त हो गये है और उन्होंने अपने दिल का बोझ जाहिर कर हलका कर दिया ।

महर्षि व्यासने जाहिर किया कि मेरी मां किसी मछली मार की लड़की थी । नारद जी के जन्म की घटना नारदजी ने अपनी मां से पूछकर आचार्य को बताई यह श्रीमद् भागवत में सुनने में आती है कि मेरी मां संन्यासियों के आश्रम में सब प्रकार की सेवा करती थी, वहीं मैं गर्भस्थ हुआ और मुझे मेरे पिता का नाम मालुम नहीं । पाठशाला में प्रवेश के समय गुरुजी द्वारा जब माता, पिता का नाम पूछने पर सत्य काम जाबाल ने भी अपने गुरुजी को अपने पिता का नाम अज्ञात कहा, तब गुरुजी ने कहा कि कल अपनी मां से पिता का नाम पूछकर आना । घर जाकर मां से पिता का नाम पूछा तब जाबाल से उसकी मां ने कहा कि मैं आश्रम में काम कर रही थी वहाँ बहुत लोग आते जाते थे, मुझे पता नहीं कि तेरा पिता कौन ह ? मैं भी उनसे नाम पूछना भूल गयी । जाबाल ने पाठशाला में जाकर यही सत्य वृत्तान्त कह सुनाया कि मेरी मां वहाँ संन्यासियों के कपड़े, बर्तन, भोजन झाड़ू–बुहारी आदि काम करती थी उनके झूठन को खाती थी काम की भीड़ में उनसे नाम पूछना भूल गई । जाबाल द्वारा इस बात को सुन गुरुजी ने उसका नाम सत्य काम जाबाल लिख लिया । महान पुरुषों और सन्तों ने अपनी गलती स्वच्छ दिल से स्वयं हिम्मत पूर्वक जाहिर किया है और उन्होंने लोक निन्दा की कुछ भी परवाह नहीं की है ।

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः । गीता ३/३७

मनुष्य के अन्तःकरण में अनेक जन्म की कामनाएँ और वासनाएँ उसको पाप कर्म करने में प्रवृत्त करती है ।

एक समय एक छोटी सुन्दर सफेद बिल्ली उजले सफेद बाल वाली को अत्तर फुलेल से स्नान करा, बहुत बढिया सुन्दर तिलक श्रृंगार कर उच्च आसन पर गले में गुलाब फूलों की माला पहना कर बैठा दिया । वह कुछ समय मखमल गद्दे पर रेशमी वस्त्र पहने बड़ी साध्वी नारी की तरह बैठी रही किन्तु जब उसने सामने से एक छोटी चुहिया को दौड़ते देखा तो वह तुरन्त ही उच्च आसन से कूद कर अपने जन्म जात वासना के वशीभूत होकर उस चुहिया को पकड़ ही लिया ।

उसी तरह आदमी कितना ही ज्ञानी या पण्डित दिखाई पड़ता हो किन्तु उसके अन्तःकरण में पड़ी हुई कामना से, वह पाप कर्म के संयोग से प्राप्त पदार्थ या व्यक्ति के प्रति पाप कर्म करने के लिये दौड़ पड़ता है और उस वासना कामना की पूर्ति के समय विरोध करने वाले पर क्रोध भी करता है । उस समय उसके पास अगर सतत सत्संग से प्राप्त हुआ विवेक और वैराग्य का बल नहीं होगा तो उसका अधःपतन होने में देर ही नहीं लगेगी और उसके उस पाप कर्म के फल से पैदा हुआ दुःख, लोक निन्दा, अपमान, दंडादि अवश्य भोगना पड़ेगा । कई संतो का समाचार पत्रों में उल्लेख मिलता है कोर्ट केस, जेल, सजा या हत्यादि भी उन निन्दनीय कर्म करताओं की होते देखी जाती है ।

जब तक तेरे पुण्य का बीते नहीं प्रताप ।
तब तक तुझको माफ है गुना करो हजार ।।

अज्ञानी को जो कुछ होता है, ज्ञानी के जीवन में भी वह सब कुछ होता दिखाई पड़ता है । अज्ञानी के जीवन की तरह ज्ञानी के जीवन में भी खाना–पिना, सोना–जागना, रोग–भोग, सुख–दुःख मान, अपमान, घर, पुत्र परिवार आदि सब क्रियाएँ दिखाई पड़ती है किन्तु सबसे बड़ा अन्तर यही है कि अज्ञानी उन सब गुण व प्रकृति के क्रियाओं को अपनी क्रिया व उन्हें अपना स्वरूप समझता है । जबकि ज्ञानी जानता है कि सब कुछ क्रियाऐं तीनगुणों, पंचभूतों की हो रही है । मैं इन क्रियाओं का मात्र साक्षी अकर्त्ता अभोक्ता आत्मा हूँ । ऐसा निष्ठावान् ही सच्चा ब्रह्मज्ञानी है । जीव को जबतक अपने द्रष्टा साक्षी आत्मा का बोध नहीं होता है, तबतक उसे बन्धन से मुक्ति, कुण्डलिनी योग, जन्म–मृत्यु की चिन्ता बनी रहती है । विक्षेप, समाधि आदि कुछ पाने छोड़ने की चिन्ता से बिना आत्मज्ञान के मुक्त नहीं हो सकेगा । पचास हजार वर्ष तपस्या करके ब्रह्मादि लोकों तक जाकर भी सर्व दुःखों व चिन्ताओं से, भ्रान्ति से मुक्त नहीं हो सकेगा । जब पूर्णता का बोध हो जावेगा तब ही इस जीव को पाने व छोड़ने जैसा कुछ नहीं रहता है ।

'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम् ।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्म कर्म समाधिना ।। गीता : ४/२४

जिस पात्र में अग्नि आहुति दी जाती है वह भी ब्रह्म है । उस आहुति में जो द्रव्य, तिल, घ्रत, अग्नि आदि हव्य है वह सभी ब्रह्म है । इसी तरह कर्ता, करण, क्रिया सबको ब्रह्म रूप समझना चाहिये । ऐसे ब्रह्म दृष्टि वाले उस पुरुष की ब्रह्म में ही समाधि होती है अर्थात् उस पुरुष की सम्पूर्ण कर्मों में ब्रह्मबुद्धि होती है । दृश्य मात्र प्रतिक्षण अदृश्य में जा रहा है । अभाव की सत्ता भाव रूप ब्रह्म पर ही टिकी है । अतः भाव रूप से एक ब्रह्म ही शेष रहता है । **'सर्वं खल्विदं ब्रह्म', 'वासुदेवः सर्वम्' ।**

जड़ चेतन जग जीव यत ।
सकल राम मय जान । – रामायण

निज प्रभु मय देख हुँ जगत ।
का संग करु विरोध । – रामायण

जब सभी एकमात्र ब्रह्म रूप है तो फिर अपने में सोऽहम् भाव क्यों न करें ? अखण्ड ब्रह्मसत्ता से कुछ अन्य मानना ही बारम्बार मृत्यु को प्राप्त करना है, ऐसा यमराज ने नचिकेता को कहा था ।

आत्म साक्षात्कार

वेद वेदाङ्ग के ज्ञाता वरुण ऋषि के पुत्र भृगु थे । उनके मन में पूर्व जन्म के संस्कार के फल स्वरूप यह उत्कट अभिलाषा जाग्रत हुई कि इस देव दुर्लभ मानव योनि को जो परमात्मा की असीम कृपा एवं करुणा से मुझे प्राप्त हुई है फिर भी अपने जीवन को, पिता माता के श्रम को एवं ईश्वर की कृपा का उपयोग न करूँ तो यह मेरा जीवन पशु से भी निकृष्ट हो जायगा ।

अतः भृगु को ब्रह्म तत्त्व जानने के लिये किसी अन्य गुरु के पास जाने की आवश्यकता नहीं हुई । अपने पिता के चरणों में साष्टांग प्रणाम कर प्रार्थना की – हे भगवन् ! मैं ब्रह्म को जानना चाहता हूँ, अतः आप कृपा करके मुझे ब्रह्म तत्त्व समझाने की कृपा करें, जिससे मैं आपके व ऋषियों के ऋण से मुक्त हो सकूँ एवं अपने जीवन को धन्य बना सकूँ ।

पुत्र की ब्रह्म जिज्ञासा देख पिता वरुण ऋषि को मन में बहुत प्रसन्नता हुई कि यह ब्रह्म विद्या का अधिकारी है । इसे उपदेश करना चाहिये । क्योंकि आज्ञाकारी पुत्र अथवा शिष्य ही उस ब्रह्म विद्या के पात्र माने जाते हैं । जो आज्ञाकारी पुत्र या शिष्य न हो उन्हें कभी भी यह परम गोपनीय राज विद्या का उपदेश नहीं करना चाहिये ।

अतः पुत्र को अधिकारी जान कर कहा हे तात ! ब्रह्म उपलब्धि के लिये अन्न, प्राण, नेत्र, श्रोत्र, मन और वाणी द्वार हैं । इन सब में ब्रह्म सत्ता स्फुरित हो रही है, उसकी शक्ति का अंश पाकर यह समस्त इन्द्रियाँ,

सूर्य, पवन, चन्द्रमा तथा जड़ जगत् अपना–अपना कार्य करते रहते हैं । तथा जिसकी सत्ता से समस्त दिखने वाले प्राणी उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होकर जिनके सहयोग से बल पाकर यह सब प्राणी जीवित रह क्रिया करने में समर्थ होते हैं और महाप्रलय के समय जिसमें विलीन हो जाते हैं, उस चैतन्य आत्म सत्ता को जानने की तू इच्छा कर, वह ही ब्रह्म है ।

पिता का उपदेश श्रवण कर भृगु विवेक, वैराग्य, शम, दम, तितिक्षा श्रद्धा सहित ब्रह्माभ्यास में लग गया । वेद शास्त्रानुसार यह विचार ही ब्रह्म प्राप्ति का वास्तविक तप है । देह को कृश करना यह तो अशास्त्रीय आसुरी तप है ।

भृगु ने पिता के उपदेशानुसार यह निश्चय किया कि अन्न ही ब्रह्म है, क्योंकि पिताजी ने जो ब्रह्म के लक्षण बताये, वे सब अन्न में पाये जाते हैं । समस्त प्राणी अन्न के परिणाम रज–वीर्य से उत्पन्न होते हैं । अन्न से ही उनका जीवन सुरक्षित रहता है और मरने के बाद अन्न स्वरूप इस पृथ्वी में ही प्रविष्ट हो जाते हैं । इस प्रकार निश्चय करके भृगु पिता के पास जाकर चरणों में प्रणाम कर अपने निश्चय अनुसार अन्न को ब्रह्म बताया । पर पिताने कोई उत्तर नहीं दिया ।

पिता ने सोचा – इसने अभी ब्रह्म के व्यक्त स्थूल शरीर को ही समझा है, वास्तविक रूप तक इसकी बुद्धि नहीं पहुँच पायी है । अतः इसे अभी इसी प्रकार और विचार करने की आवश्यकता है । अतः इसकी बात का उत्तर न देना ही ठीक है । पिता से अपने अनुभव का समर्थन न पाकर भृगु ने फिर प्रार्थना की – ''हे भगवन् ! यदि मैंने ब्रह्म को यथार्थ नहीं जाना है, तो आप मुझे ब्रह्म का तत्त्व समझाइये । तब पिता वरुण ने कहा – हे वत्स ! तू इसी विचार रूप तप के द्वारा ब्रह्म के वास्तविक रूप को समझने की कोशिश कर । यह विचार तप ही ब्रह्म का बोध कराने में सर्वथा समर्थ है । इसके, अलावा ब्रह्म उपलब्धि का अन्य कोई स्वतन्त्र मार्ग नहीं है । **'नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय'** ।

वस्तु सिर्द्धिविचारेण न किञ्चित् कर्म कोटिभिः । विवेक चूड़ामणी

इस प्रकार पिता का उपदेश पाकर भृगु पुनः अधिक ब्रह्म विचार में लग गये व विचार करके जाना कि अन्न वास्तविक ब्रह्म का स्वरूप नहीं है, प्रत्युत् प्राण ही ब्रह्म है । प्राणी प्राणयुक्त शरीर द्वारा ही उत्पन्न होते हैं । मृत शरीर, निष्प्राण प्राणी द्वारा कोई प्राणी उत्पन्न नहीं होते हैं । यह सबके अनुभव की प्रत्यक्ष बात है कि एक जीवित प्राणी के द्वारा ही उसी के समान दूसरा प्राणी उत्पन्न होता है । तथा सभी प्राणी प्राण से ही जीवित रहते हैं । यदि श्वाँस का आना जाना बंद हो जाय, तब प्राण के बिना भूख–प्यास जाग्रत नहीं होगी और अन्न, जल के ग्रहण किये बिना शरीर जीवित नहीं रह सकेगा । शरीर में प्राण, अपान में वैश्वानर जठराग्नि रूप में रहकर चारों प्रकार के अन्न को पचाते हैं एवं समस्त शरीर के नसों–नाड़ियों में अंगों में रस को पहुँचाते हैं । यदि रस सर्वाङ्ग में न पहुँचाया जाय तो यह शरीर जीवित नहीं रह सकेगा एवं मरने के बाद सभी प्राण में ही प्रविष्ट हो जाते हैं । यह निश्चय करके भृगु अपने पिता से अपने अनुभव के अनुसार प्राण ही ब्रह्म है, ऐसा निवेदन किया । पिता ने फिर भी कोई उत्तर नहीं दिया । वरुण ऋषि ने सोचा कि यह विचार रूप तप के द्वारा स्थूल से निकल कर सूक्ष्मता की ओर प्रविष्ट हुआ है; परन्तु इसे अभी और अन्दर प्रवेश करना बाकी है । अतः उत्तर न देना ही ठीक है । पिताजी से अपनी बात का समर्थन न पाकर भृगु ने फिर प्रार्थना की – भगवन् ! यदि अब भी मैंने ब्रह्म के रूप को ठीक नहीं समझा है, तो आप ही कृपा करके मुझे ब्रह्म का तत्त्व समझाइये ।

तब वरुण ऋषि ने भृगु को वही बात कही कि सूक्ष्म विचार रूप तप के द्वारा ही ब्रह्म के जानने की चेष्टा कर । यह आत्म विचार रूप तप ही ब्रह्म का स्वरूप है अर्थात् ब्रह्म को जानने का प्रधान साधन है, अन्य नहीं ।

भृगु पुनः पूर्वापेक्षा आत्म–अनात्मा का अधिक विचार करने लगा व यह निश्चय किया कि मन ही ब्रह्म है । मन में ही ब्रह्म के सभी लक्षण पाये जाते हैं । मन से ही प्रेम पूर्वक स्त्री–पुरुष का सम्भोग सम्बन्ध होता है एवं जिस प्रकार की सन्तान उत्पन्न करना चाहते हैं, उत्पन्न करते हैं । प्राणी

वीर्य रूप होकर स्त्री के गर्भ में जाकर नव माह में शरीर परिपक्व होकर पुरुष ही पुत्र रूप में पैदा होता है । उत्पन्न होकर मन के द्वारा जीविका निर्वाह, उपयोगी धन, वस्त्र, सम्पत्ति, पत्नी, पति, पुत्रादि को उपलब्ध करते हैं और ब्रह्मचारी, गृहस्थ संन्यासादि आश्रम ग्रहण करता है व मकान आदि स्थान का निर्माण करता है । उसके वर्तमान जीवन का प्रारब्ध भोग पूर्ण होने पर मरने के बाद मन में ही प्रविष्ट हो जाते हैं – मरने के बाद इस शरीर में इन्द्रियाँ व प्राण नहीं रहते हैं और यह मन अपने संचित् कर्मों के अनुसार अन्य योनि में प्रविष्ट कर जाता है । इसलिये मन ही ब्रह्म है । ऐसा निश्चय करके पहले की भाँति पिता के पास साष्टांग प्रणाम कर मन ब्रह्म है ऐसा बताया । इस बार भी वरुण ऋषि ने भृगु को पहले की भाँति कोई उत्तर नहीं दिया । पिता ने सोचा भृगु पहले की अपेक्षा तो विचार की गहराई में उतरा है, पर अभी इसे और अधिक विचार करना होगा ; अतः इसे उत्तर न देना ही ठीक होगा ताकि यह और अधिक एकाग्रता पूर्वक इस सम्बन्ध में विचार कर सके ।

भृगु ने अपने अनुभव का समर्थन न पाकर पिता से पुनः प्रार्थना की–'हे भगवन् ! यदि मैंने ठीक से ब्रह्म स्वरूप नहीं पहचाना है तो कृपया आप ही मुझे ब्रह्म का तत्त्व समझाइये । तब वरुण ने कहा – तू इसी विचार रूप तप के द्वारा ब्रह्म के तत्त्व को जानने की इच्छा कर । अर्थात् मनन, चिन्तन करते हुए मेरे उपदेश पर पुनः विचार कर । यह तप रूप साधन ही ब्रह्म है । ब्रह्म को जानने का इससे बढ़कर दूसरा कोई उपाय नहीं है ।

पिता की आज्ञा पाकर भृगु ने पुनः पहले की भाँति अधिक स्वाध्याय करने में लग गया । भृगु ने विचार द्वारा यह शोध की कि पिताजी ने ब्रह्म के जो लक्षण बतलाये हैं वे सब विज्ञान स्वरूप चेतन जीवात्मा में पाये जाते हैं अतः चेतन जीवात्मा ही ब्रह्म है । ये समस्त प्राणी जीवात्मा से ही उत्पन्न होते हैं । जीवित प्राणी ही किसी को जन्म दे सकता है । उत्पन्न होकर इस जीवात्मा द्वारा ही जीते हैं, यह जीवात्मा न रहे तो यह मन,

प्राण, इन्द्रिय व शरीर कोई भी नहीं रह सकते और कोई भी अपना काम नहीं कर सकते । मृत शरीर में प्राण, मन एवं इन्द्रियों के व्यवहार कोई भी देखने में नहीं आते । अतः विज्ञान स्वरूप जीवात्मा ही ब्रह्म है यह निश्चय करके वह पिता के पास पहुँच अपने अनुभव को कहा किन्तु पिता ने इस बार भी कोई उत्तर नहीं दिया । वरुण ने सोचा इस बार यह ब्रह्म के बहुत ही निकट आगया है, इसका विचार चिन्तन स्थूल शरीर एवं सूक्ष्म शरीर प्राण, मन, बुद्धि तीनों के पार पहुँच गया है । इसे अब केवल एक छलांग और लगाना है, क्योंकि ब्रह्म तो क्षर शरीर तथा अक्षर जीव से विलक्षण पुरुषोत्तम है (१५/१८) । इसलिये वेद में ब्रह्म को पुरुषोत्तम कहते हैं । ब्रह्म नित्य, आनन्द स्वरूप एक अद्वितीय परमात्मा है इसे अभी थोड़ा और विचार करना आवश्यक है, अतः उत्तर न देना ही उचित होगा । पिताजी से उत्तर न मिलने पर भी भृगु निराश और हतोत्साह नहीं हुए । भृगु ने पिताजी से प्रार्थना की – 'हे भगवन् ! यदि मैंने ठीक से ब्रह्म स्वरूप को नहीं समझा है तो कृपा करके आप मुझे समझाइये । तब वरुण ने पुनः वही उत्तर दिया – तू इस विचार तप के द्वारा ही ब्रह्म को जानने की चेष्टा कर । विचार द्वारा ही जीव अपने मूल गन्तव्य स्थान पर पहुँच पाता है । वि = उलटा, चार = चलना अर्थात् दृश्य से लौटते–लौटते द्रष्टा पर पहुँच जाना, यही विचार तप कहलाता है ।

जान ! जान ! जानने वाले को तो जान । देख ! देख ! देखने वाले को देख कि वह इस माटी की देह में कौन चेतन ज्योति है जिसके कारण यह जड़ शरीर चेतन होकर जगमगा रहा है एवं सभी इन्द्रियाँ अपना–अपना काम करती रहती है ।

भृगु ने पुनः पहले की भाँति, मनन, चिन्तन करते हुए यह निश्चय किया कि आनन्द ही ब्रह्म है । **'रसो वै सः'** यह आनन्द स्वरूप परमात्मा ही अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय एवं आनन्दमय कोश से विलक्षण सर्व प्रकाशक, सबके अन्तरात्मा है । इसी कारण अन्न ब्रह्म, प्राण ब्रह्म, मन ब्रह्म, बुद्धि ब्रह्म, जीव ब्रह्म कहे जाते हैं । ये सब स्थूल, सूक्ष्म देह

संघात् ब्रह्म के ही रूप है । इसी कारण इनमें ब्रह्म बुद्धि होती है और ब्रह्म के आंशिक लक्षण पाये जाते हैं । परन्तु सर्वान्शि से ब्रह्म के लक्षण आनन्द में ही घटते हैं । क्योंकि ये समस्त प्राणी उन आनन्दघन परब्रह्म परमात्मा से ही सृष्टि के आदि में उत्पन्न होते हैं और इन्हीं का आंशिक शक्ति पाकर सब प्राणी जी रहे हैं । आनन्द के अभाव में जीव देह त्याग कर देता है, कोई भी दुःख के साथ जीने की इच्छा नहीं करता ।

इन आनन्द घन सर्वान्तर्यामी परमात्मा की शक्ति से ही इस जगत् के सभी प्राणी अपनी-अपनी चेष्टाएँ करते हैं एवं जीव के श्रोत्र, त्वचा, चक्षु, घ्राण, प्राण, मन, बुद्धि आदि सभी अपना-अपना कार्य करने में समर्थ होते हैं । उनके शासन में रहने वाले सूर्य, चन्द्र, पवन, जल, पृथ्वी आदि सभी भूत अपना-अपना काम करते हैं । यदि इन सूर्य, चन्द्र, पवन, जल को आत्म देव से शक्ति न मिले तो यह सब, कुछ भी नहीं कर सकेंगे और इनके कार्य के अभाव में कोई भी प्राणी जिन्दा भी नहीं रह सकेंगे ।

सबके जीवनाधार सचमुच ये आनन्द स्वरूप परमात्मा ही हैं । तथा प्रलय काल में समस्त प्राणियों से भरा हुआ यह ब्रह्माण्ड उन्हीं में प्रविष्ट हो जाता है । वे ही सबके आदि, मध्य तथा अन्त हैं । (१०/२०)

इस प्रकार अनुभव होते ही भृगु को परमात्मा के वास्तविक यथार्थ स्वरूप का ज्ञान हो गया । फिर उन्हें अपने पिता के पास अपना अनुभव प्रकाशित करने की जरूरत नहीं हुई ।

विवेक, वैराग्य, शम, दम, साधन सहित आज भी जो कोई मुमुक्षु भृगु की भांति वेदान्त तत्त्व का श्रवण-मनन-निदिध्यासन कर, किसी सद्गुरु की श्रद्धा पूर्वक सेवा कर के परमात्मा को जान सकता है ।

तैत्तिरीयोपनिषद भृगवली

परमात्मा पर अश्रद्धा

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमाया समावृतः ।
मूढोऽयं नाभि जानाति लोको मामजमव्ययम् ।। ७/२५ गीता

मैं अजन्मा अविनाशी हूँ अर्थात् मैं संसारी मनुष्यों की तरह जन्म–मरण दुःख से व्याप्त नहीं होता हूँ । ऐसा होने पर भी मैं प्रकट और अन्तर्धान होने की लीला करता हूँ । जो मेरे को जन्म मरण से रहित जानते हैं वे तो ज्ञानवान् हैं, परन्तु जो मेरे को जन्मने मरने वाला मानते हैं, वे मूढ़ है ।

मूढ व्यक्ति अपने वास्तविक स्वरूप को भूल इस शरीर को अपना मान लेता है कि यह शरीर मेरा है, शरीर मैं हूँ । इसीलिये वह जैसे अपने को देह रूप देखता है, इसी तरह मुझ परमात्मा को भी धनुषधारी, त्रिशुलधारी मुरलीधारी, गोवर्धनधारी मात्र साकार रूप ही देखता है । मुझे साधारण मनुष्य मानकर मेरी अवेहलना करता है । इसलिये उनके सम्मुख मैं अपनी योग माया में छिपा रहता हूँ, वो मेरे अजन्मा अविनाशी रूप को नहीं जान पाते हैं ।

जैसे बुर्खा पहने स्त्री या पुरुष अपने नेत्र के सम्मुख जाली के छिद्रों से सब को देखता रहता है किन्तु उसे कोई नहीं देख पाता है, इसी प्रकार परमात्मा अपनी योग माया के परदे के पीछे से सबको देखते रहते हैं, पर उनको कोई नहीं देख पाते हैं । संसार के पदार्थों में नाम, रूप प्रकट माया का अंश है एवं अस्ति, भाति, प्रिय उसका आधार अधिष्ठान छुपा अंशी

है । उस गुप्त अप्रकट सत्य को तो वही जान सकता है जिसे वे निराकार परमात्मा जनाना चाहते हैं ।

येऽप्यन्देवता भक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः ।
तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम् ।। गीता : ९/२३

मन्द बुद्धि के लोग नाना प्रकार की कामना को लेकर किसी देवता की उपासना करते हैं । वे मुझ अखिल ब्रह्माण्ड नायक परमेश्वर को नहीं जानते हैं कि परमात्मा ही सबका आदि, मध्य तथा अन्त स्वरूप है । वे अज्ञानी भक्त जिन देवताओं की उपासना करते हैं, वे उपासक, भक्त उनके देवी–देवताओं से जो फल पाते हैं, उन्हें मैं ही प्रदान करता हूँ ।

परन्तु वे भक्त मुझ परमात्मा को फलदाता न मान बल्कि उनके पुज्य देवता द्वारा ही उन्हें सब फल प्राप्त होता है, इस प्रकार वे मानते है ।

देवताओं की पूजा करने वाले भी मेरी ही पूजा करते हैं, क्योंकि मैं ही सब कुछ हूँ । मेरे अलावा कुछ स्वतन्त्र नहीं है । मेरे से पृथक् देवताओं की कोई पृथक् सत्ता नहीं है । अतः उन सकामी भक्तों के द्वारा जो देवताओं की पूजा होती है, वह मेरी ही पूजा है । परन्तु उनकी यह पूजा अविवेक जन्य है । सत्य कारण रूप मुझ अन्तर्यामी को वे न पूजकर मेरे कार्य रूप देवताओं की पूजा करते हैं एवं बारम्बार जन्म–मृत्यु को प्राप्त होते रहते हैं । किन्तु मुझ आत्म ब्रह्म की उपासना करने वाले मुझको ही प्राप्त होते हैं अर्थात् उन्हें जन्म–मृत्यु चक्र में नहीं जाना पड़ता है ।

आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन ।
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते ।। गीता : ८/१६

वास्तव में सब कुछ भगवान् ही है । अतः जिस किसी की भी उपासना की जाय, सेवा की जाय, हानि, हत्या, अपमान, चोरी, व्यभिचार धोखा किया जाय वह सब प्रकारान्तर से मेरी ही उपासना है । जैसे आकाश से वर्षा पानी नदी, नाला, झरना, बनकर बहते बहते तो अन्त में सागर में ही पहुँच जाता है । इसी तरह मनुष्य किसी भी कल्पित देवी–

देवता की पूजन करे, वह टेढे ढंग से मुझ कारण ब्रह्म का ही पूजन होता है ।

अहं ही सर्व यज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च ।
न तु मामभिजानन्ति तत्त्वेनातश्च्यवन्ति ते।। ९/२४

सम्पूर्ण यज्ञों का भोक्ता और स्वामी भी मैं ही हूँ। परन्तु मुझे ऐसा न जान जीव अपने को स्वतन्त्र रूप से भोगों का भोक्ता और संग्रह किये हुए धन, सम्पत्ति का मालिक मान लेता है, तब वह विषयों का दास हो जाता है और भगवान् से सर्वथा विमुख हो जाता है । वह यह बात भूल जाता है कि भगवान् ही समस्त ब्रह्माण्ड के मालिक एवं भोक्ता है । इसी अज्ञान कृत अहंकार के कारण उसका पतन हो जाता है । तात्पर्य यह है कि स्वयं कर्ता–भोक्ता होने से ही जीव का पतन होता है अर्थात् वह अपने परमधाम पदसे आत्मपद से गिर जाता है ।

अहंकार विमुढात्मा – केनोपनिषद खण्ड ४

यह ब्रह्म ही सब प्रकार से सब पर शासन करने वाला है । इन्हीं की प्रेरणा से सूर्य, चन्द्र, पवन, ऋतुएँ और सभी चराचर जीवन पाते हैं । यह परमात्मा ही सभी देवी–देवताओं का परमेश्वर है । यह परमात्मा के द्वारा ही देवता असुरों को परास्त कर पाये । देवताओं की एवं असुरों की पराजय का कारण एक परमात्मा है ।

इस आख्यायिका का प्रारम्भ ब्रह्म विद्या की स्तुति के लिये है । ब्रह्म ज्ञाता द्वारा ही अग्नि, वायु, जल आदि देवगण देवताओं में श्रेष्ठतत्त्व को प्राप्त हुए थे और उनमें भी स्वर्ग सम्राट इन्द्र देव सबसे बढ़कर हुआ । इस प्रकरण द्वारा यह दर्शाया गया है कि ब्रह्म दुर्विज्ञेय है, क्योंकि अग्नि, जल, पवन तथा इन्द्र द्वारा कठिनाई से जान सके । जीवों का कर्तृत्वाभिमान भोक्तृत्वाभिमान देवताओं की तरह मिथ्या ही है । यह बात बताने के लिये यह आख्यायिका है ।

यह प्रसिद्ध एवं सर्व विदित है कि परमात्मा के कारण देवताओं को विजय प्राप्त हुई । अर्थात् देवता और असुरों के संग्राम संसार के शत्रु तथा ईश्वर की मर्यादा को भङ्ग करने वाले असुरों को जीत कर जगत् की स्थिति के लिये भक्ति, तपस्या एवं यज्ञादि को नष्ट करने वाले वह असुरों पर जय एवं उसका फल देवताओं को दे दिया । जिस जय से अग्नि, वायु, जलादि देवताओं की महिमा सर्वत्र फैल गई और देवता भी यह समझने लगे कि यह जय हमारे पराक्रम शूर वीरतासे हुई है । इस प्रकार ब्रह्म की इच्छा रूप निमित्त से देवताओं की विजय होने से महत्ता बढ़ गई और खूब सत्कार प्राप्त किया । देवताओं के इस मिथ्या अभिमान को ब्रह्म ने जान लिया, क्योंकि परमात्मा समस्त जीवों के अन्तःकरणों का प्रेरक होने से, ब्रह्म सब का साक्षी है । अन्तर्यामी परमात्मा ने जाना कि देवताओं का 'इस मिथ्या अभिमान से असुरों की ही भाँति वै भी पराभव न हो जाय । इस प्रकार उन पर अनुकम्पा करते हुए यह सोचकर कि देवताओं के मिथ्या ज्ञान को दूर करने मैं उन्हें अनुग्रहीत करूँ, अन्तर्यामी परमात्मा ने योगमाया के प्रभाव से सबको आश्चर्य में डालने हेतु अति अद्भूत रूप से देवताओं की इन्द्रियों का विषय होकर प्रकट हुए । उस प्रकट हुए ब्रह्म को देवता लोग यह न जान सके कि यह यक्ष अर्थात् पूजनीय महान् प्राणी कौन है ?

अग्नि परीक्षा

देवताओं ने अग्नि से कहा – हे अग्नि ! हमारे नेत्र के सम्मुख स्थित इस यक्ष को तुम जाकर देखो एवं पता लगाकर आओ कि यह महान् यक्ष कौन है ? तुम सब में जो तेजस्वी है वह जाकर पता लगाओ । तब अग्नि ने कहा अच्छा तुम चिन्ता मत करो, मैं अभी इस यक्ष का पता लेकर आता हूँ ।

अग्नि इस यक्ष के पास गया । इस अग्नि को समीप देख यक्ष ने पूछा कि 'तू कौन है' ? उसने कहा मैं अग्नि हूँ – मैं अग्नि नाम से प्रसिद्ध जातवेदा हूँ । इस प्रकार अग्नि ने अपनी महिमा अहंकार को, दो प्रसिद्ध नामों से यक्ष को कहा ।

यक्ष ने अग्नि से पूछा – तुझमें क्या सामर्थ्य है ? अग्नि ने कहा क्या तुम मेरे पराक्रम को नहीं जानते ? इस पृथ्वी में यह जो कुछ चराचर जगत है इस सभी को एक क्षण में देखते – देखते भस्मकर सकता हूँ ।

तब यक्षने इस अग्नि के पराक्रम को जानने के लिये एक माचिस की तिली को रख दिया और कहा – 'इसे जला' यदि तू इसे न जला सका तो सब भस्म कर देने के अहंकार को छोड़ दे । अग्नि उस तृण के समीप गया परन्तु अपने सम्पूर्ण शक्ति द्वारा उसे जलाने में समर्थ नहीं हुआ ।

इस प्रकार उस तिनके को जलानें में असमर्थ वह अग्नि लज्जित होने के कारण उस यक्ष के पास से चुप चाप देव सभा में सर नीचा कर जा बैठा और इस यक्ष के सम्बन्ध में कुछ नहीं कह सका की यह महा पराक्रमी यक्ष कौन है ?

वायु की परीक्षा

तदन्तर उन देवताओं ने वायु से कहा – हे वायो ! तुम हम सब मे बलिष्ट हो, तुम जाकर पता करो कि यह यक्ष कौन है ? उसने कहा – बहुत अच्छा मैं अभी इस यक्ष का पता लगाकर आता हूँ ।

वायु यक्ष के पास गया, उस यक्ष ने वायु से पूछा कि तू कौन है ? उसने कहा मैं वायु हूँ । यक्ष ने पूछा तेरे में क्या सामर्थ्य है ? उसने कहा मैं जो भी यह चराचर जगत् है उसे एक क्षण में यह पहाड़, नगर, पृथ्वी उड़ा सकता हूँ, अपनी तरफ खींच कर कहीं भी गिरा सकता हूँ ।

तब उस यक्ष ने अग्नि की परीक्षा की तरह, इस वायु के बल भी की परीक्षा करने के लिये वहीं एक तिनका रक्खा और कहा – इसे अपनी तरफ खींचकर उड़ाकर दिखा । वायु उस तृण को न अपने समीप खींच सका न पूरा दम लगा कर उठा सका । तब यक्ष के पास से लज्जित हो देव सभा में सर नीचे कर बैठ गया और बोला – यह यक्ष कौन है ? – इस बात को मैं नहीं जान सका ।

तदन्तर देवताओं ने इन्द्र से कहा – हे मधबन ! यह यक्ष कौन है ? इसे आप ही जाकर जानिये, हम इसे नहीं जान सके । तब इन्द्रने कहा 'बहुत अच्छा' मैं ही जाकर जानता हूँ कि यह यक्ष कौन है ?

जब इन्द्र यक्ष के समीप पहुँचा तो इन्द्र को समीप आते देख उसका अभिमान तोड़ने हेतु कि 'मैं देवराज इन्द्र हूँ' वह यक्ष रूप परमात्मा अन्तर्धान हो गये ।

उमा का प्रादुर्भाव

वह इन्द्र उसी आकाश में जहाँ वह यक्ष अदृश्य हुआ था वहीं पर अत्यन्त शोभनीय वेशधारी उमारूपा विद्यादेवी प्रकट हुई । उससे इन्द्रने पूछा कि हे देवी ! बतलाइये, इस प्रकार दर्शन देकर छिप जाने वाला यक्ष कौन है ? आप सर्वज्ञ है और सर्वदा उस सर्वज्ञ ईश्वर के साथ विद्यमान् रहती हैं ।

उमा का उपदेश

उस विद्या देवी उमा ने स्पष्टता से कहा – 'यह यक्ष स्वयं ब्रह्म है' तुम ब्रह्म के द्वारा प्राप्त विजय में इस प्रकार महिमान्वित हुए हो एवं उसके द्वारा ही असुरों पर जय को, अपनी विजय मान घमण्ड कर रहे थे एवं परमात्मा को भूल चुके थे । इसलिये परमात्मा ने तुम्हारा मिथ्या घमण्ड नष्ट करने के लिये, यह यक्ष रूप धारण कर यहाँ प्रकट हुए थे । इस प्रकार देवी के कहे अनुसार इन्द्रने ब्रह्म को जाना । स्वयं से ब्रह्म के साथ वार्तालाप, अग्नि, वायु आदि देवता के समान, इन्द्र को यह सौभाग्य प्राप्त नहीं हुआ । अग्नि तथा वायु ने यक्ष से वार्ता तो की थी किन्तु यह यक्ष कौन है, यह उन्हें पता नहीं चला । परन्तु उमा द्वारा इन्द्र को सर्व प्रथम यह बोध–हुआ कि यह यक्ष ब्रह्म है । इन्द्र द्वारा ही अग्नि, वायु आदि देवता को बाद में पता चला कि जिस की हम परीक्षा करने गये थे, वे स्वयं ब्रह्म ही थे । इस प्रकार इन्द्र ने पहले–पहले जाना कि 'यह ब्रह्म है' ।

कृष्ण अकर्ता दुर्वासा अभोगी कैसे ?

एकबार दुर्वासाजी के दर्शनार्थ यमुना पार गोपियाँ जाने को प्रस्तुत हुई । यमुना तटपर पहुँच कर देखा कि यमुना में पानी की बाढ़ आयी हुई है । कृष्ण से उस पार जाने के लिये सहयोग करने को कहा कि हमें यमुना पार कराने की कृपा करें । तब कृष्ण ने कहा मुझे और तो कोई उपाय मालुम नहीं किन्तु एक उपाय है वह यह कि यमुना से कहें कि यदि हमारे कृष्ण बाल ब्रह्मचारी हों तो मार्ग दीजिये । गोपियों ने यमुनासे ऐसा ही कहा और मार्ग मिल गया । यमुना का पानी दोनों तरफ रूक् गया बीच में सड़क रह गइ और वे पार हो गई । वहाँ से दुर्वासाजी को मिष्टान्नादि भोजन कराकर लौटते समय यह कहकर मार्ग प्राप्त किया कि यदि दुर्वासा निराहारी हैं तो मार्ग मिल जाये और यमुना से मार्ग मिल गया ।

कृष्ण का ब्रह्मचारी होना एवं दुर्वासा का निराहारी होना देखने में असत्य लगता है; क्योंकि कृष्ण का गोपियों से प्रेम वार्ता, नृत्य, चुम्बन, चीर हरणादि लीला तथा दुर्वासा को भोजन कराना यह गोपियों का प्रत्यक्ष स्वानुभव था किन्तु यमुना नदी पार होने के लिये कृष्ण ने अपने को ब्रह्मचारी एवं दुर्वासा ने अपने को निराहारी प्रमाणित कर दिया, तब गोपियों को विश्वास हुआ कि ज्ञानी का कथन सत्य है करनी सत्य नहीं, वह जो करे वह मात्र लीला, परीक्षा एवं शिष्य पर कल्याण की भावना मात्र है । स्वार्थ परायणता से नहीं । ज्ञानी वासना शून्य होता है ।

अन्तवत्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्पमेध साम ।। गीता : ७/२३

वे मन्द बुद्धि वाले सकामी भक्त परमात्मा को न मानकर देवता से अनित्य पदार्थों की कामना करते हैं । इसीलिये उनको देवताओं द्वारा जो फल मिलता है, वह नाशवान् ही होता है । यदि वे कामना रहित होकर निष्काम भाव से किसी देवता की उपासना करें तो वह उपासना एक दिन किसी सद्गुरु कृपा से अविनाशी परमात्मा की उपासना में अवश्य बदल जावेगी और उन्हें फिर ज्ञान प्राप्तकर नित्य फल मोक्ष की प्राप्ति हो जावेगी ।

उन मन्द बुद्धि वाले देव उपासकों को स्वर्ग आदि लोक को ही प्राप्ति हो पाती है । वे अज्ञानी सकामी जन पुनरावर्ती लोकों में ही जा सकते हैं और पुण्य समाप्ति पर उन्हें फिर मृत्यु रूप संसार में ही आना–जाना पड़ता है । देवताओं की उपासना का दोष यह है कि उनका फल नाशवान् अन्तवाला होता है, क्योंकि देवता स्वयं नाशवान् है ।

अव्यक्त व्यक्तिमापन्नं मन्यते मामबुद्धयः ।
पर भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम ।। गीता : ७/२४

अल्प बुद्धि के कारण भक्त भगवान् को साधारण व्यक्ति की तरह जन्म ने मरने वाला मानते हैं । बुद्धि के अभाव के कारण संसार को उत्पत्ति विनाशशील नहीं मानते । इसी कारण वे देवताओं की तरफ कामना पूर्ति के लिये खींच जाते हैं । बुद्धिमान् मनुष्य वे होते हैं जो भगवान् को ही सर्वोपरि जानते हैं ।

भगवान् के दर्शन पर भी पाप

अथचेत्त्वमिमं धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि ।
ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि ।। गीता : २/३३

यदि तू मेरी आज्ञा का पालन नहीं करेगा तो तेरे द्वारा क्षत्रिय धर्म का त्याग हो जायगा जिससे तेरी कीर्ति का भी नाश होगा व **तू पाप को प्राप्त होगा** ।

मच्चित्तः सर्व दुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि ।
अथ चेत्त्वमहङ्कारान्नश्रोष्यसि विनङ्क्ष्यसि ।। १८/५८

मेरे में चित्त वाला होने से तू मेरी कृपा से सम्पूर्ण विघ्न, बाधा, शोक, दुःख आदि को तर जावेगा । उन्हें दूर करने हेतु तुझे कुछ भी नहीं करना होगा । यदि तू अहंकार के कारण मेरी बात का तिरस्कार करेगा उसे अनसुना कर देगा तो याद रख ***तेरा पतन हो जायगा ।***

अर्जुन के मन में भी कुटुम्बियों के मरने का शोक था और मर जाने से पाप को प्राप्त होना पड़ेगा व परलोक में पाप के कारण नरकादि का

दुःख भोगना पड़ेगा यह भय था । इसी भय को दूर करने के लिये भगवान् ने उसे कहा कि –

अपिचेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पाप कृत्तमः ।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं सन्तरिष्यिसि ।। गीता : ४/३६

अगर तू सम्पूर्ण पापियों में भी अधिक पापी है, तो भी तू ज्ञान रूपी नौका के द्वारा निःसन्देह **सम्पूर्ण पाप समुद्र से अच्छी तरह तर जावेगा ।**

अहंत्वा सर्व पापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः । गीता : १८/६६

अतः तू सब धर्मों का त्याग करके केवल मेरी शरण में आजा । तो ***मैं तुझे सब पापों से मुक्त कर दूँगा तू चिन्ता मत कर ।***

जीव के पतन का मार्ग

ध्यायतो विषयान्पुंसः सङ्गस्तेषूपजायेत
सङ्गात्सञ्जायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते ।। २/६२

क्रोधाद्भवति सम्मोहः सम्मोहात्स्मृति विभ्रमः ।
स्मृति भ्रंशाद बुद्धि नाशो बुद्धि नाशत्प्रणश्यति ।। २/६३

व्याख्या – 'ध्यायते विषयान्पुंसः सङ्गस्तेषुपजायते' भगवान् के परायण न होने से, भगवान् के प्रति प्रेम न होने से जीव की विषयों के प्रति सुख बुद्धि होने से विषयों का ही चिन्तन होता रहता है । इस तरह चिन्तन करते–करते जीव की उन विषयों में आसक्ति हो जाती है । फिर वह उन विषयों को सुख रूप मान उनमें प्रेम करने लग जाता है । विषयों में राग पैदा होने से उन पदार्थों को प्राप्त करने व भोगने की कामना पैदा हो जाती है ।

'सङ्गात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते' – कामना के अनुसार अनुकूल पदार्थ मिलते रहने से लोभ उत्पन्न हो जाता है कि वह वस्तु, व्यक्ति, पद, धन मुझे फिर मिले यदि उस पदार्थ या पद के पाने में कोई व्यक्ति बाधक दिखाई पड़ता है तो उसके प्रति क्रोध उत्पन्न हो जाता

है और अपने मार्ग से उसे हटाने के लिये यह कामुक व्यक्ति हर प्रकार के हिन्सात्मक कार्य करने को भी प्रस्तुत हो जाता है ।

'क्रोधाद्भवति सम्मोहः' – क्रोध से सम्मोह अर्थात् मूढता छा जाती है । फिर विवेक शक्ति ढक जाती है । विवेक शक्ति ढक जाने से व्यक्ति काम के वशीभूत हो जाता है और न करने जैसा कार्य कर बैठता है ।

लोभ से व्यक्ति धर्म–अधर्म का बिना खयाल किये छल–कपट करने में लग जाता है ।

मोह से व्यक्ति पक्षपात करने में तत्पर हो जाता है फिर सत्य–असत्य का विचार नहीं करता ।

काम, ममता, लोभ द्वारा तो व्यक्ति में अपने स्वार्थ की वृत्ति जाग्रत होती है किन्तु क्रोध वृत्ति जाग्रत होने पर यह दूसरे के अनिष्ट करने का सोचता है ।

'सम्मोहात्स्मृति विभ्रमः' – मूढता छा जाने से स्मृति नष्ट हो जाती है अपने कल्याण करने का मुक्ति पाने का, उद्धार करने का लक्ष्य ही भूल जाता है कि किस मुख्य कार्य करने के लिये परमात्मा ने मुझे यह देव दुर्लभ जीवन दिया था । और में क्या अपने पतन का मार्ग में फस रहा हूँ ।

'स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो' – अपने जीवन के महत्व पूर्ण लक्ष्य को प्राप्त करने का स्मरण जब नहीं रहता है तब इसकी विवेक शक्ति नष्ट हो जाती है । अपने कल्याण के विचार करने की शक्ति समाप्त हो जाती है

'बुद्धिनाशत्प्रणश्यतिः' – विवेक नष्ट हो जाने से न करने जैसा कार्य कर लेता है जैसे चोरी, बलात्कार, हत्या, अभक्ष–भक्षण, पिता–माता, भाई, गुरु की हत्या । इस प्रकार से विषयों में सुख बुद्धि करने से परिणाम में जीव का पतन हो जाता है ।

हम सुखी कैसे रहें ?

शरीर की दृष्टि रखने से बहुत प्रकार के भेद दिखाई पड़ते हैं किन्तु भूत दृष्टि से कुल पंच महाभूत ही है । भगवान् श्रीराम द्वारा बाली की मृत्यु पर तारा को उपेदश–

क्षिति, जल, पावक, गगन, समीरा ।
पंच रचित यह अधम शरीरा ।।

अरे ! तारा तू जिस पत्नि वियोग में रो रही है यह जीवों का शरीर तो आकाश, वायु, तेज, जल तथा पृथ्वी इन पंचभूतों से निर्मित अति अधम जाति का है । प्रथम तो पिता–माता के रज–वीर्य जैसी सबके उपेक्षणीय धातु से निर्मित हुआ है । जो गर्भाशय से मूत्र द्वार होकर बाहर आता है । तथा दो चार घन्टे में सड़ जाने वाले भोजन द्वारा पाला जाता है । मर जाने पर जिसे घर में रात रखने देना नहीं चाहते एवं स्पर्श करने योग्य भी नहीं रहता है । मल त्याग के बाद जैसे हाथ मिट्‌टी, साबुन जलादि से अच्छी तरह साफ किया जाता है इसी प्रकार मृतक से स्पर्श के बाद स्नान किया जाता है । अतः इसके लिये तेरा दुःखी होना नासमझी है । यदि तू कहती है कि मैं इस विकारी शरीर के लिये नहीं रो रही हूँ । मैं तो उसमें स्थित जीव के लिये रो रही हूँ । तो सुन तारा ! देह में रहने वाला जीव तो निर्मोही एवं नित्य है, वह कभी नहीं मरता ।

'जीव नित्य तुम केहि लगि रोवा ?'

फिर तुम इतना दुःख क्यों मना रही हो ।

तारा विकल देखि रघुराया । दीन्ह ज्ञान हर लीनी माया ।

–रामायण

अतः बाह्य स्थूल दृष्टि का त्याग करके अन्तर आत्मदृष्टि से एकत्व दर्शन करने से हम सर्वदा सुखी शान्त रह सकते हैं । आत्मा एक अखण्ड एवं सच्चिदानन्द स्वरूप होने से उसमें स्थित रहने वहले जीव को किञ्चित् भी दुःख की प्राप्ति नहीं होती है । अज्ञानता के कारण यह चैतन्य जीवात्मा इन अनित्य विकारी क्षण भंगुर शरीर के साथ मैं–मेरा भाव कर चौरासी लाख योनियों में भटकता, दुःख पाता चला आ रहा है । वह जीव धन्य भागी है, जिसके हृदय में इस नश्वर शरीर एवं स्वप्न समान जगत् से परम वैराग्य हुआ है । जब ईश्वर की कृपा होती है तभी इस जीव को सद्गुरु की प्राप्ति होती है, तभी यह जीव कृतार्थ होता है ।

जीवन में वही क्षण धन्य है । यह जीव इस देह से मैं भाव छोड़ परमात्मा में सोऽहम् भाव जाग्रत करलेता है । शेष सब दुःख रूप मिथ्या स्वप्न संसार है । व्यक्ति को उठते–बैठते, खाते–पीते, सोते–जागते यही एक विचार करते रहना चाहिये कि मैं कौन हूँ ? मैं की खोज ही परमात्मा की खोज है । मैं को जानना ही परमात्मा को जानना एवं पा लेना है ।

अपने को कैसे पहिचाने ?

जैसे पोलिस की वर्दी पहने हुए व्यक्ति स्वयं को पोलिस वर्दी समझने लग जाय तो उसे पागल कहा जायगा । पोलिस वर्दी से वह व्यक्ति पृथक है । इसी प्रकार देह वर्दी को पहनने वाला जीव अपने को देह मानने लग जाय तो यह भी इसी प्रकार का अज्ञान है । कपड़े से व्यक्ति अलग है इसी प्रकार देह से व्यक्ति पृथक है ।

जैसे धनुष धारी धनुष से, मुरली धर मुरली से, त्रिशूलधारी त्रिशूल से, चक्रधारी चक्र से, गोवर्द्धनधारी गोवर्द्धन से पृथक है ।

अपने को न जानना ही सबसे बड़ा पाप है एवं अपने को पहचान लेना ही सबसे बड़ी ही सिद्धि, सबसे बड़ी तप, सबसे बड़ा पुण्य है ।

देखो मैं क्या हूँ ? किस गुण, धर्मों, स्वभाव वाला हूँ । बाथ्रूम् में अपने शरीर के असली रूप को सब कपड़े उतार कर देखलो । शरीर की वास्तविकता को देखने के लिये सभी वस्त्र, अलंकारों व श्रृंगार को हटाकर देखना चाहिये । इसी तरह अपने वास्तविक स्वरूप को जानने के लिये अपने पर आरोपित नाम, जाति, आश्रम, पद, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि का आवरण हटाकर जानना चाहिये ।

याद रखो ! जन्म से लेकर मृत्यु पर्यन्त तुम मैं व हूँ के बीच जो जो संसारी पद, उपाधि, जाति, आश्रम, सम्बन्ध बताते व मानते हो वह सब तुम नहीं हो एवं वह सब तुम्हारे नहीं है । जिस–जिस के साथ जुड़कर जो–जो बनते हो एवं बन–बनकर बिगड़ते रहते हो एवं रोते रहते हो उन सब नकाबो को, बुर्खों को उतार कर अपने को देखो जो सबको देखने वाला, जाननेवाला शेष रह जाता है, वह तुम हो। उसी को तुम अपना रूप जानो । बस यही आत्म दर्शन, आत्म साक्षात्कार, सहज ध्यान, सहज समाधि है । श्रीकृष्ण भगवान के मत से यही ज्ञान है शेष सभी चर्चा अज्ञान है ।

'यत्ज्ञान मतं ममं' गीता : १३/२

जो देह, प्राण, इन्द्रिय, मन, बुद्धि का उनके कर्म स्वभाव का द्रष्टा साक्षी है किन्तु जिसे कोई नहीं देखते, जानते है, जो सब का प्रकाशक, सबको शक्ति दे रहा है जिसकी शक्ति का अंश पाकर यह सब दृश्य पिण्ड एवं ब्रह्माण्ड जगत् के जड़ व चेतन जीव अपना–अपना कार्य कर रहे हैं वह ब्रह्म है, तुम उसे ही अपना रूप जानो । उस–इस आत्म ब्रह्म की 'अयमात्मा ब्रह्म' की अन्य रूप से तुम उपासना कभी मत करना जैसे कि यह संसारी लोग उसे अन्य मान भेद उपासना कर रहें हैं। अर्थात् अपने को देह भाव से मुक्त कर 'सोऽहम्' 'तत्त्वमसि', अयमात्मा, अहं ब्रह्मास्मि, 'शिवोऽहम्', रूप दृढ़ निष्ठा से जानो । वही हमारा तुम्हारा सभी का सच्चा स्वरूप है ।

जीव कल्पित नाम, जाति, आश्रम, सम्बन्धियों, उपाधियों के साथ जुड़कर कल्पित पद–पदार्थों का अहंकार कर जी रहा है । परन्तु तुम तुम्हारे वास्तविक स्वरूप की खोज करो कि मैं कौन हूँ ?

सावधान होकर विचारो ! देह के साथ जुड़कर जीव अपने को गोरा, काला मानने लग गये, हाड़ के साथ एकत्वकर लम्बे, छोटे, लगंड़े, लूले मानने लग गये । मांस के साथ एकत्व कर दुबले–मोटे मानने लग गये । देह की अवस्था के साथ जुड़कर बालक, किशोर, यूवा, प्रोढ, वृद्ध एवं श्वँास के साथ जुड़कर जन्म–मृत्यु रूप मानने लग गये । उम्र के साथ एक होकर बड़ा छोटा मानने लग गये । आकृति के साथ तादात्म्य कर स्त्री, पुरुष, नपुन्सक मानने लग गये । जाति के साथ मिलकर ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शुद्र होगये, समाज के साथ जुड़कर, हिन्दु, मुसलमान, पंजाबी, सिख, ईसाई, जैन, बौद्ध समाजी बन गये । पद के साथ मोहकर डाक्टर, वकील, मास्टर, कलेक्टर, मंत्री, राजा, गुरु, चेला मानने लग गये । नाम के साथ अहंकार कर उमा, रमा, महेश, दिनेश कहला गये । मन के साथ जुड़कर शांत–अशांत, कामी–क्रोधी जानने लगे व बुद्धि के साथ जुड़कर बुद्धिमान, विद्वान मंद, बुद्धि, बुद्‌धु जानने लग गये ।

आत्म दर्शन

अपने मन बुद्धि को आत्मा में लीन करें अर्थात् मन–बुद्धि संसार का चिन्तन छोड़ कर मैं देह में स्थित देह की क्रियाओं को जानने वाला क्षेत्रज्ञ आत्मा हूँ । इस प्रकार के चिन्तन में ठहर जायँ तथा अन्तरात्मा को अस्ति–भाति, प्रिय सर्वव्यापी अनन्त चेतन सत्ता, परमात्मा में 'सोऽहम्' वही मैं हूँ इस प्रकार अभेद निश्चय करके ठहर जावें ।

वृत्तिहीनं मनः कृत्वा क्षेत्रज्ञं परमात्मनि ।
एकी कृत्वा विमुच्यते योगोऽयं मुख्य उच्चते ।। – दक्षस्मृति १५

ज्ञानी जन मन को वृत्ति रहित करके क्षेत्रज्ञ आत्मा को परमात्मा में एकीकरण करे अर्थात् 'सोऽहम्' ऐसा अभेद भाव करके देह भाव का त्याग करे, वास्तव में मुख्य योग यही कहा गया है ।

सर्वभाव विनिर्मुक्तः क्षेत्रज्ञ ब्रह्मणिन्यसेत ।
एतद्धयानश्च योगश्चशेषाःस्युर्गन्थ विस्तराः ।। – दक्षस्मृति २०

सर्व प्रकार देह भाव, जन्म–मरण भाव, जीवभाव, बद्ध भावों से मुक्त होकर क्षेत्रज्ञ को ब्रह्म में 'सोऽहम्' इस भाव में अभेद निश्चय करें । यही ध्यान है और यही योग है । शेष तो सब पडिंतों का धन्दा, दुकानदारी है ।

जो पुरुष जीवात्मा और परमात्मा में थोड़ासा भी अन्तर देखता है उसके लिये श्रुति में भय कहा है । उस भेददर्शी को मैं जीव रूप होकर घोर दुःख देता हूँ ।

इन्द्र ने कहा– प्रजापति का पुत्र विश्वरूप का व्रज से वध कर डाला । अनेकों आश्रमोचित आचरण से भ्रष्ट हुए सन्यासीयों के अङ्ग–भङ्ग कर श्रृगालों को दिये । जो मेरे अर्थात् आत्मा का ज्ञाता है उसे कोई महापाप भी नहीं सताता है । वह किसी पाप का भागी नहीं होता है । प्रारब्ध संयोग पाप हो जाने पर भी उसके मुख पर कालापन नहीं आता है । कौषीतकि ब्राह्मण ३/२

देहो देवालयः प्रोक्तः स जीवः केवलःशिवः ।
त्यजेदज्ञाननिर्माल्यं सोऽहं भावेन पूजयेत् ।।

१० ।। स्कन्दोपनिषद

यह देह तो आत्म देव के अनुभव करने का मन्दिर है । इसमें विराजित चैतन्य देव ही शिव रूप है । अतः देह अहंकार त्याग कर वह परमात्मा मैं हूँ, ऐसा निश्चय से जानो ।

अहं भवान्न चान्यस्त्वं त्वमेवाहं विचक्ष्वः भोः ।
न नौ पश्यन्ति कवशिछदं जातु मनागपि ।। – भा. ४/२८/६२

जो ईश्वर रूप मैं हूँ सो जीव रूप भी मैं हूँ । तुम मुझसे अन्य नहीं हो तथा मैं भी, जो तुम हो, वही हूँ । ऐसा तुम निश्चय करो । बुद्धिमान् पुरुष हम दोनों में किसी समय थोड़ा भी भेद नहीं देखते है ।

सोऽहमर्क पर ज्योति ज्योतिरक ज्योरिहं ।
आत्मज्योतिरहं शुक्र सर्वज्योतिरसावदों शिवः।।

११ महावाक्योपनिषद

मैं वही चैतन्य रूप आदित्य हूँ, वही परं ज्योति हूँ, वही शिव तत्त्व हूँ । मैं ही आत्म ज्योति हूँ, सब का प्रकाशक परम तेजोमय उस पर ब्रह्मका ही मैं आत्म स्वरूप एवं उससे अभिन्न हूँ ।

ब्रह्म ही जगत् का उपादान कारण है । जो उपादान कारण होता है वह अपने कार्य रूप में स्वयं ही उपस्थित रहता है । कार्य के जर्रे–जर्रे में कारण तत्त्व व्यापक होता है । अतः वही अखण्ड ब्रह्म अपने जगत् रूपी कार्य में ओत प्रोत भरपूर है ।

'अहं ब्रह्मास्मि', 'अयमात्मा ब्रह्म' इस रूप से ज्ञानीजन परमात्मा को जानते या प्राप्त करते हैं । आत्म साक्षात्कार, आत्म दर्शन का इससे पृथक् कोई तरीका नहीं है । आज भी वामदेव तथा भृगु की तरह जो जानता है कि मैं ब्रह्म हूँ तो वह भी इस विज्ञान से सर्व रूप, जगत् रूप हो जाता है ।

कण–कण में अस्ति–भाति–प्रिय रूप में सर्वत्र परमात्मा का सच्चिदानन्द रूप में विचार नेत्र से अनुभव करने का प्रयास करो । उसके पश्चात सच्चिदानन्द स्वरूप को सर्व व्यापि ब्रह्म स्वरूप में अभिन्न भाव रखते हुए 'ब्रह्मवाहम्' ब्रह्म ही मैं हूँ, 'सोऽहम्' वही मैं हूँ ऐसी दृढ़ वृत्ति बनाना चाहिये । श्वाँस–श्वाँस से सोऽहम् अजपा जाप, अनाहत नाद द्वारा ब्रह्मात्मा की एकता का अनुभव करो ।

उसके पश्चात् अपने से अभिन्न ब्रह्मात्मा के अन्तर्गत समस्त जीव तथा जगत् को देखो । तत्पश्चात् भगवान राम, कृष्ण आदि अवतारों को भी ब्रह्मात्मा के अन्तर्गत देखो । उसी ब्रह्मात्मा के अन्तर्गत समस्त जीव तथा जगत् के रचियता माया विशिष्ट चैतन्य ईश्वर को भी देखो ।

इस प्रकार देखते–देखते सर्वव्यापि, परिपूर्ण अद्वितीय और अनन्त परब्रह्मात्मा से भिन्न कुछ नहीं है । इसी दृष्टि के अभ्यास से मन को शान्त बना दो । सब फुरना छोड़ मौन हो जाओ । बस यही जीवन का परम चरम लक्ष्य है ।

सर्वत्र अस्ति–भाति–प्रिय ब्रह्मात्मा राम ही है । उनके अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं है । भेद का तो अवकाश ही नहीं है । अभेद दर्शन ही वास्तविक दर्शन है । अभेद दर्शन ही वास्तविक ज्ञान है । वेद भी कहता है कि ''**तमेव विदित्वातिमृत्युमेतिनान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय**'' उस ब्रह्मात्मा को मैं रूप से जानकर ही कोई जीव भव बन्धन से मुक्त हो सकता है, दूसरा कोई मार्ग नहीं है ।

ना–समझी से तुम व्यक्ति बने हो । समझआने पर तुम ब्रह्म ही हो । ब्रह्म सदा से हो ।

आदि सच, जुगादि सच, है भी सच, नानक हो सी भी सच'

हम द्रष्टा सत्य होते हुए भी अपने को दृश्य देह मान बैठे हैं । जबकि दृश्य बदलता जाता है, वह असत्य है । हमारे अनुभव की बात है कि बचपन से अभि तक कितना परिवर्तन हमारे सामने इन्द्रिय, मन, बुद्धि में हुआ । लेकिन हम उनके द्रष्टा ज्यों के त्यों अचल साक्षी विद्यमान हैं, हम नहीं बदले हैं। इस अनुभव को क्यों नहीं स्वीकार करते हो कि मैं कभी नहीं बदलता । फिर बदलने वाले दृश्य में मोह कर क्यों रोते हो, क्यों दुःखी होते हो ?

भवरोग से छूटने का उपाय

असत्य न बोलना निंदा नहीं करना
अपनी प्रशंसा नहीं करना न सुनना
कोई व्यसन नहीं करना
पर धन पत्थर के समान जान स्पर्श न करे
पर स्त्री माता के समान मान कर काम विचार मन में न लावे
अपने भजन सत्कर्म का बखान न करना
अपने को पुजाने का भाव मन में न हो

जीव द्वारा उपरोक्त सद्गुण बिना लाये कल्याण नहीं हो सकेगा । लोग सद्गुण लाने के लिये तो प्रयास नहीं करते हैं, केवल कागज पर दिन रात राम नाम लिखते रहते हैं या माला करते रहते हैं । कोई महामृत्युंजय जाप करते हैं तो कोई राम नाम की चादर लपेटे हाथ में सुमिरनी लिये घूमते हैं। यदि इस प्रकार कल्याण होता तो टेपरेकर्ड, कैसिट, सीडी में भरी गीता, रामायण, विष्णु सहस्त्र आदि पुस्तकों का प्रथम कल्याण हो जाता ।

भगवान ने अर्जुन को गीता में कहीं ऐसा ऐसा उपदेश नहीं किया है कि हे अर्जुन ! तू जब अमुक रंग के कपड़े पहनेगा, डेड़फुट की दाढ़ी रखेगा, गंगा स्नान करेगा, चोटी चार फुट की रखेगा, भगवा वस्त्र या लुंगी पहनेगा, यज्ञोपवीत धारण करेगा तब मेरा भक्त मानूँगा । भक्त के लक्षण भगवान ने गीता अध्याय १२ के १२,१३,१४ में '**अद्वेष्टा सर्व भूतानां**'..

सो मद् भक्तः समेप्रियः कहा है । साधक वहाँ विस्तार से अवश्य देखें व अपने जीवन में परमात्मा की सच्ची भक्ति को जाग्रत करें । लोक दिखावटी भक्ति परमात्मा की भक्ति नहीं है ।

भक्ति का मतलब है भगवान का उपदेश मानना व वैसा करना ही भगवान की भक्ति है । ऐसा न कर केवल कोई भगवान के गुणगान करे, गीत, भजन गावे, मन्दिर दर्शन करने जावे गीता के बारहवे, पन्द्रहवे अध्याय का नियम से प्रतिदिन पाठ करता रहे व मांस, मछली, शराब का सेवन, चोरी करे, दहेज लेवे, गर्भपात करे तो उसकी इन बाह्य जड़ स्थूल क्रिया से भगवान प्रसन्न नहीं हो सकेंगे ।

जैसे मैं अपने पिता का कहना नहीं करता और उनके मना करने पर भी बदमाशी नहीं छोड़ूं पढने के लिये कहने पर भी न पढ़ूं, काम करने का कहने पर भी काम न करूँ, तो मैंने पिताजी की भक्ति की, ऐसा नहीं माना जाएगा। जैसे कोई पुत्र पिताजी पिताजी, माताजी माताजी का जाप करे तो यह माता, पिता का भक्ति नहीं कहलावेगी । वे कभी सन्तान पर प्रसन्न नहीं हो सकेंगे ।

ठीक उसी तरह मनुष्य भगवान की आज्ञाओं का उल्लंघन करके कुकर्म करता है, तो भगवान उसके किये कुकर्म का फल न तो स्वयं भोगेंगे न उसे क्षमा करेंगे । प्रारब्ध तो उस मनुष्य को स्वयं ही भोगना पड़ेगा । दशरथ की उम्र चौदह वर्ष भगवान श्रीराम नहीं बढा सके और न अपने वनगमन के विधान को कैकेयी के मन से मिटा सके ।

जिनके चरण स्पर्श से पाषाण अहिल्या चेतन हो सकी, वे भगवान खुद अपने पिता के जीवन दान नहीं दे सके । अपने भाई लक्ष्मण को शक्तिवाण से हुई मुर्च्छा को दूर नहीं कर सके एवं स्वयं भी इस दुनियाँ से चले गये ।

कर्म गति टारे नाहि टरे ।
गुरु वशिष्ठ से ज्ञानी गिन गिन लग्नधरे ।
सीता हरण मरण दशरथ का, बन बन राम फिरे ।।

गुरु वन्दना

नमो नमो गुरु को नमो, नमो हजारों बार ।
गुरु के पायें जो लगे, उतरे भव से पार ।।0।
रे भैया उतरे भव से पार

गुरु सेवा जाने नहीं, पाथर पूजन धाय ।
योग यज्ञ जप तप किये, सभी अकारथ जाय ।।१।

गुरु माता गुरु है पिता, गुरु है प्रभु समान ।
गुरु सेवा से होत है, मानुष का कल्याण ।।२।

इन्सान के मुख लाख हैं, मुख में लाख जुबान ।
गुरु महिमा फिर भी, कर न सके बखान ।।३।

संत मता गजराज का, चाले बन्धन तोड़ ।
जग कुत्ता पीछे चले, सुने न वाका शोर ।।४।

यह तन विष की बेलड़ी, गुरु अमृत की खान ।
शीष कटाये जो मिले, तो भी सस्ता जान ।।६।

सोता साधु जगाईये, जपे हरि का नाम ।
ये तीनों सोते भले शाकट सिंह और साँप ।।७।

सात समुद्र की मसी करो, लेखनी सब बनराय ।
धरती सम कागज करो, गुरु गुण लिखा न जाय ।।८।

संतन आवत देखी के, चरणें लागो लोट ।
शीश झुकावत गिर पड़े सब पापन की पोट ।।९।

ज्ञान गुरु को कीजिये, बहुतक गुरु लबार ।
अपने अपने लोभ से, ठौर ठौर बटमार ।।१०।

जो बतावे साधना, साधक कहिये सोये ।
तुरत मिलावे ब्रह्म से, सच्चा सद्गुरु सोये ।।११।

तरण तरण सब कोई कहे, मरण कहे न कोये ।
मरना मरना जो कहे, सच्चा सद्गुरु सोय ।।१२।

गुरुवा तो सस्ता भया, कौड़ी मिले पचास ।
अपने तन की सुध नहीं, शिष्य करन की आस ।।१३।

गुरु मिला तब जानिये, मिटे मोह तन ताप ।
हर्ष शोक व्यापे नहीं, तब गुरु पूरे आप ।।१४।

झूठे गुरु अजगर बने, लख चौरासी जाय ।
शिष्य गण चींटी बने, नोच नोच के खाय ।।१५।

वेश देख मत भूलियो, पूछ लीजिये ज्ञान ।
मोल करो तलवार का, पड़ा रहन दे म्यान ।।१६।

कन फूंका गुरु हद का, बेहद का गुरु और ।
बेहद का गुरु जब मिले, लगे ठिकाना ठौर ।।१७।

गुरु ब्रह्मा गुरु विष्णु है, गुरु महेश्वर जान ।
गुरु साक्षात् ब्रह्म को, कोटी करो प्रणाम ।।१८।

गुरु मिलन सम तप नाहि, गुरु समान धन नाहि ।
आत्मज्ञान सम सिद्धि नहीं, धन्य धन्य वह बुद्धि ।।१९।

ज्ञानान्जन गुरु देत है, अज्ञान अन्ध करे नाश ।
दिव्य दृष्टि खुल जात है, छूट जात यम पाश ।।२०।

कोटी चन्दा उगहिं सूरज कोटि आकाश ।
अज्ञान तिमिर नाशें नहीं, गुरु बिन घोर अन्धार ।।२१।

गुरु समान दाता नहीं, याचक शिष्य समान ।
तीन लोक की सम्पदा, सो गुरु दीना दान ।।२२।

जैसी प्रीति कुटुम्ब से, तैसी गुरु से होय ।
क्षण में पाय कैवल्य को, रोक सके न कोय ।।२३।

गुरु को कीजे दण्डवत्, कोटि कोटि प्रणाम ।
गुरु सेवा बिन धर्म कर्म, सभी विफल हो जाय ।।२४।

गुरु कुम्हार शिष्य कुम्भ हैं, घड़ी घड़ी काढ़े खोट ।
अन्दर हाथ सहारा दे, बाहर बाहर चोट ।।२५।

गुरु गोविन्द दोउ खड़े, किस को लागूं पाय ।
बलिहारी गुरु देव की, गोविन्द दिया जनाय ।।२६।

गुरु निन्दा जो करत है, पाप गुरु का ले जाय ।
गुरु महिमा जो गात है, अनन्त सुख को पाय ।।२७।

तीन देव जब रुष्ट हो, गुरु के शरणें जाओ ।
गुरु रुठे नहीं ठौर है, सीधा नरक ही जाय ।।२८।

शिष्य चार साधन लिये, गुरु की शरणें जाय ।
श्रवण मनन करा के, गुरु तत्त्वमसि सुनाय ।।२९।

नदी पार जब तू किया, नाव चढ़न क्यों जाय ।
आत्मदेव हृदय बसे, बाहर क्यों भटकाय ।।३०।

ध्यान गुरु का जब किया, अन्य देव क्यों लाय ।
ज्ञानामृत जब है पिया, तीरथ करन क्यों जाय ।।३१।

करत करत अभ्यास ते, जड़मति होत सुजान ।
रस्सी आवत जात है, सिल पर परत निशान ।।३२।

शास्त्र समुद्र सम जानिये, मिटा न सके वह प्यास ।
गुरु बादल जब बरसते, बुझे मुक्ति की आस ।।३३।

गुरु गंगा सम जानिये, साधक नाली समाना
शिष्य जब गुरु से मिले, हो जावे कल्याण ।।३४।

गुरु को अग्नि जानिये, साधक कोल समान
शिष्य जब गुरु से मिले, करले आप समान ।।३५।

गुरु धोबी शिष्य वस्त्र है, ज्ञान भट्टी पकान
जनम मैल कटजात है, जब करे गुरु का ध्यान ।।३६।

गुरु को वैद्य जानिये, शिष्य रोगी महान
ज्ञान औषध से करत है, भव रोग निदान ।।३७।

गुरु को जौहरी जानिये, करे खोट खरे पहचान
नाम रूप से मन हटा, अस्ति भाति ले जान ।।३८।

गुरु को ज्योति जानिये, बुझा दीप शिष्य जान
जब शिष्य गुरु से मिले, करत नाश अज्ञान ।।३९।

गुरु को प्रेमी जानिये, करे प्रेम व्यापार ।
शीष भेंट जो दे सके, सच्चा प्रेमी व्यापार ।।४०।

गुरु को केवट जानिये, ज्ञान नौका सम जान ।
पूर्ण समर्पण जो करे, उसे शिष्य पहचान ।।४१।

गुरु को अमृत जानिये, तन मन करो न्यौछार
गुरु समीप नहीं जात है, मृत्यु ताहि दे मार ।।४२।

सद्गुरु पूरण जब मिला, दिया अविचल ज्ञान ।
तीनों संशय मिट गये, हुआ स्वरूप का भान ।।४३।

सच्चे सद्गुरु छोड़ के, दम्भी गुरु को धाय ।
द्वार न पावे मोक्ष का, जनम मरण दुःख पाय ।।४४।

गुरु श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ, शिष्य हो साधन चार ।
ज्ञान बुद्धि में जब जगे, उतरे भव से पार ।।४५।

संत मिलन को जाइये, तजि माया अभिमान ।
ज्यों ज्यों पग आगे धरे, कोटि यज्ञ सम जान ।।४६।

गुरु राजा गुरु राम है, राम राज्य जग जान ।
सबसे हिल मिल रहिये, उत्तम भक्ति प्रमाण ।।४७।

गुरु लोभी शिष्य लालची, दोनों खेलें दाव ।
दोनों बूढ़े बापरे, चाढ़ी पाथर की नाव ।।४८।

झुठे गुरु के पक्ष को, तजत न कीजे वार ।
भेद न जाने मुक्ति का, भटके बारम्बार ।।४९।

गुरु प्रीत गुरु है सखा, गुरु सहोदर जान ।
जग में जो प्रिय दिखे, करो गुरु पर वार ।।५०।

गुरु सेवा अरु ध्यान से, कटे जन्मों का पाप ।
गुरु ज्ञान से होत है, यह जीवन निष्पाप ।।५१।

उत्तम शिष्य सो जानिये, करे स्वतः से काज ।
मध्यम आज्ञा सुन करे, अधम करे एतराज ।।५२।

स्वामी निरंजन ग्रंथावली

१. शान्तिपुष्प
२. भूली बिसरी स्मृति
३. सरल वेदान्त प्रश्नोत्तरी-१
४. सरल वेदान्त प्रश्नोत्तरी-२
५. सरल वेदान्त प्रश्नोत्तरी-३
६. सरल वेदान्त प्रश्नोत्तरी-४
७. मैं अमृत का सागर
८. मैं ब्रह्म हूँ
९. प्राणायाम,मुद्रा, ध्यान एवं वेदान्त पारिभाषिक शब्दकोश
१०. सीता गीता
११. राम गीता
१२. गुरु गीता
१३. पंचदशी प्रश्नोत्तर दीपिका
१४. भागवत रहस्य
१५. आत्म साक्षात्कार
१६. मन की जाने राम
१७. योग वशिष्ठ सार
१८. निरंजन भजनामृत सरिता
१९. स्वरूप चिन्तन
२०. कर्म से मोक्ष नहीं
२१. श्रद्धा की प्रतिमा सद्‌गुरु
२२. अमृत बिन्दु
२३. उपनिषद् सिद्धान्त एवं वेदान्त रत्नावली
२४. सहज समाधि
२५. ज्ञान ज्योति
२६. कबीर साखी संकलन
२७. सहज ध्यान
२८. हे राम ! उठो जागो
२९. सद्‌गुरु कौन ?
३०. श्रीराम चिन्तन
३१. तत्त्वमसि
३२. साक्षी की खोज
३३. आत्मज्ञान के हीरे मोती
३४. अनमोल वचनामृत
३५. लाख रोगों की एक दवा
३६. हंस गीता
३७. आत्मज्ञान के लिये उपयोगी चित्रावली
३८. अष्टावक्र गीता सार
३९. अष्टाबक्र महागीता
४०. आत्म गीता (भगवद् गीता सार)
४१. शिव गीता
४२. आत्म प्रबोधक संहिता
४३. जानो फिर मानो
४४. ज्ञान विना मोक्ष नहीं
४५. विचार ही मार्ग
४६. परमात्मा की सहज प्राप्ति
४७. केवल विस्मृति